पावन स्मृति

पावन स्मृति

सम्पादक :

कन्हैयालाल फूलफगर

प्रकाशक :

जैन विश्व भारती

लाडनूँ (राजस्थान)

आशीर्वचन

श्रावक जीवन एक दृष्टि से बहुत ऊँचा जीवन है। श्रावक श्रमण नही होता, श्रमणोपासक होता है। श्रावक जीवन का पहला गुण है—श्रमणोपासना मे तत्वज्ञान का अर्जन। उसका दूसरा गुण है—व्रतो की आराधना। श्रावक सम्यक्‌दृष्टि सपन्न होता ही है, तत्वज्ञान और व्रतो के पालन से श्रावकत्व मे विशेष निखार आ जाता है। वह घर मे रहता हुआ भी धर्म को नही भूलता और धार्मिक दायित्व मे सलग्न होने पर भी सामाजिक दायित्व को विस्मृत नही होने देता। वह अपने परिवार, समाज और धर्मसंघ के प्रति स्वय जागरूक रहता है तथा दूसरो को जागरूक रहने की प्रेरणा देता है।

विहारीलालजी जैन मे ये सब बातें सक्रिय रूप से देखने को मिली। वे तत्वज्ञ ही नही, तत्व के प्रवक्ता थे। धर्मसघ के प्रति उनके मन मे प्रगाढ आस्था थी। दूसरो में आस्था जगाकर वे सन्तोष का अनुभव करते थे। वे अणुव्रती थे। दायित्व के प्रति जागरूकता के लिये वे एक उदाहरण थे। जैन विश्व भारती के अध्यक्ष पद का दायित्व सँभालने के बाद तो उनकी कर्तव्य-निष्ठा और अधिक मुखर हो गई।

विहारीलालजी असमय में चले गए। वे रहते तो उनके जीवन का और अच्छा उपयोग होता। उनका जाना अनेक लोगो को अखरा। जिसका जाना अखरे, उसका जाना भी एक यादगार बन जाता है। उनके पारिवारिक जन भी उसी आस्था और जागरूकता का परिचय देंगे, ऐसा विश्वास है।

विहारीलालजी के जीवन और उनकी सेवाओं का मूल्यांकन किया जा रहा है, यह एक प्रशस्त परम्परा है। इससे आने वाली पीढी को भी नई दिशा और नई प्रेरणा मिल सकती है। विहारीलालजी को लक्षित कर जिस ग्रन्थ की सर्जना की गई है, वह एक सार्थक प्रयोग प्रमाणित हो, इसी में उस ग्रन्थ की और भाई कन्हैयालाल फूलफगर के पुरुषार्थ की सफलता है।

अणुव्रत-विहार
नई दिल्ली
६ जनवरी १९८८

आचार्य तुलसी

दो शब्द

मन चन्दन सा, धूप-दीप सा,
देह विम्ब, मुक्ताभ सीप सा,
दिग्-दिगत मे व्याप्त हुआ जो,
पल - प्रतिपल लगता समीप सा।

मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ उन सबके प्रति, जिनके प्रत्यक्ष व परोक्ष सहयोग ने मेरे स्वर्गीय पिताश्री विहारीलालजी जैन की 'पावन-स्मृति' को आकार दिया। विशेषकर प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक माननीय श्री कन्हैयालालजी फूलफगर की असीम अनुकम्पा व अथक प्रयास, गुरुदेव अमृत-पुरुष, युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के आशिर्वचन के रूप मे प्राप्त आध्यात्मिक सदेश, प्रस्तावना के रूप मे प्राप्त महामनीषी युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी की गूढ वाणी, प्रज्ञा-पुत्रो द्वारा लेखनी-बद्ध किया गया शलाका पुरुषो का चरित्र और रस-सिद्ध कवीश्वरो की श्रेष्ठतम रचनाओ ने इस ग्रन्थ को महिमा-मण्डित किया है। मैं पुनः इन सब का ऋणी हूँ।

जीवनी-लेखक श्री नवरतन शर्मा और पिताश्री के अतरग मित्रो और आत्मीय-जनो ने जीवनी तथा सस्मरण-लेखन द्वारा उनके व्यक्तित्व एव कृतित्व को जिस प्रकार उद्घाटित किया है, उसके बाद और कुछ कहने को मेरे पास शब्द नही हैं। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि पिताश्री हमारे होते हुए, आप सब को भी अपना मान कर चले, इसीलिये वे सबके लिये आदरणीय और प्रणम्य हो सके। उनके इस आदर्श-सूत्र से ग्रथित रह कर हम उनका अनुसरण कर सकें, यही कामना है। इस विनम्र प्रयास के माध्यम से पाठको का सवेदन हमें प्राप्त होता रहेगा, ऐसी आशा है।

श्री जैन विश्व भारती, लाडनू ने 'स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन कर स्व० पिताजी द्वारा किए गए सेवा कार्यो को स्वीकृति प्रदान की है, इसके लिये हम हृदय से उनके आभारी हैं।

प्रस्तावना

कुछ पुरुष शरीर से पवित्र होते है, मन से पवित्र नही होते। कुछ पुरुष शरीर और मन दोनों से पवित्र होते है। बिहारीलालजी दूसरी कोटि के पुरुष थे। उन्हें जब-जब देखा, तब साफ-सुथरे कपड़ो मे देखा। अन्तर्दर्शन मे भी उनको पवित्र पाया। धर्म का संस्कार गहरा था। केवल उपासनात्मक धर्म मे ही नही, चरित्र धर्म मे भी उनकी आस्था थी। वे अणुव्रती बने और फिर प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यासी बने। वे पुराणपथी या रूढ़िवादी नही थे, इसीलिए जो-जो नए उपक्रम शुरू हुए, उनके साथ वे जुड़ते गए। उनका व्यक्तित्व किसी सकुचित सीमा मे बँधा हुआ नही था। जो व्यक्ति व्यापक क्षेत्र मे अपना चरण-विन्यास करता है, उसके चरण चिन्ह अवश्य ही प्रेरणा को प्रकम्पन पैदा करने मे सक्षम बन जाते है।

उनकी स्मृति मे "पावन-स्मृति" का प्रकाशन किया जा रहा है। नाम का चयन अपने आप मे महत्वपूर्ण है। पावन की स्मृति करना अपने पथ को प्रशस्त करना है, अथवा पावन-स्मृति करना, विकास की परम्परा को जन्म देना है। बिहारीलालजी के परिवार ने पावन स्मृति की परम्परा को स्वस्थ और उपयोगी रूप देकर एक अनुसरणीय कार्य किया है।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादक है—कन्हैयालाल फूलफगर। वह कविचेता है और सूझ-बूझ के धनी हैं। उसने "पावन-स्मृति" को व्यापक स्वरूप प्रदान किया है। बहुत सारे स्मृति-ग्रन्थ निकलते हैं। व्यक्तिगत पूजा और प्रशंसा का स्वर मुखर होता है। इसलिए वे केवल पुस्तकालय की सूची को समृद्ध बनाते हैं। उनकी उपयोगिता बहुत कम होती है। व्यक्ति की विशेषताओ का लेखा-जोखा पठनीय सामग्री के फ्रेम मे मढा होता है, तो वह ग्रन्थ पाठक के मन को छू लेता है। प्रस्तुत ग्रन्थ पुस्तक सूची को बढाने वाला नही होगा, उसकी चयनिका के आधार पर यह निष्कर्ष निकल आता है।

बिहारीलालजी श्रद्धाशील जैन श्रावक थे। तेरापथ धर्मसघ के प्रति वे समर्पित थे। आचार्यश्री तुलसी के हर इगित को वे शिरोधार्य करते थे। यदि उनकी स्मृति जैन धर्म के सन्दर्भ मे ही प्रस्तुत की जाती तो जैन धर्म के चरण का स्पर्श होता, उसके मस्तिष्क का स्पर्श नही होता। जैन धर्म मे सत्य के सार्वभौम स्वरूप की घोषणा हुई है। उसने सत्य को सम्प्रदाय की सीमा मे बन्दी नहीं बनाया।

आकाश मे घर बनाया, पर आकाश को अपने घर की सीमा मे बाँधकर नही रखा। प्रत्येक मनुष्य सत्य की खोज मे प्रस्थान कर सकता है और सत्य को उपलब्ध हो सकता है। व्यक्तित्व की दृष्टि से राम और कृष्ण, महावीर और बुद्ध, शकराचार्य और आचार्य भिक्षु, महात्मा गाधी और आचार्य तुलसी को अलग-अलग देखा जा सकता है, किन्तु सत्य की परिक्रमा के सदर्भ मे उन्हे

विभक्त नहीं किया जा सकता। सत्य के उद्गाता महावीर भी हो सकते हैं और बुद्ध भी हो सकते हैं। विवेकानन्द भी हो सकते हैं और अरविन्द भी हो सकते हैं। एक ही पदार्थ के अनंत पर्यायों को अनत कोणो से देखने की शक्ति जिसमे आ जाती है, वह तोडना नही जानता। उसकी चेतना का प्रवाह जोड़ मे लग जाता है। सपादक ने प्रस्तुत पुस्तक मे एक नया मोड़ दिया है। वह स्मृति ग्र थो के लिए मील का पत्थर बनना चाहिए।

वैदिक परपरा के लोग यदि केवल वेद की महिमा तक सीमित रह जाते हैं, बौद्ध केवल पिटको और जैन केवल आगमो को अपना सीमासेतु मानकर कार्य करते हैं, तो वे सत्य के सार्वभौम स्वरूप का सम्मान नही करते। धर्म और सप्रदाय एक नही है। इस आगमिक सिद्धान्त को आचार्यश्री तुलसी ने नए सन्दर्भों मे रूपायित किया है। वह रूपांकन सार्वभौम सत्य की प्रतिमा को गरिमा-मडित करने वाला है। साम्प्रदायिक कट्टरता और सांप्रदायिक हिंसा के वातावरण मे इस समन्वय-सूत्र की बहुत अधिक जरूरत है। ऋग्वेद और महावीर की वाणी एक ही पुस्तक मे पढने को मिले तो मनुष्य दोनो आखो का उपयोग कर सकता है। जयाचार्य और दिनकर, रैदास और निराला, के शब्द एक साथ होठो पर स्फुरित हो तो वाणी को व्यापक आकाश मिल जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे जो समन्वय की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई है, वह मन को बहुत भा गई। खड मे अखड की खोज के लिए उसका बहुत उपयोग हो सकता है।

इस चार खड वाले ग्रन्थ मे अखड की प्रस्तुति के बाद जो व्यक्ति की प्रस्तुति की गई है, वह सचमुच एक औचित्य का आकलन है। सत्य की विराट् चादर को ओढकर जो व्यक्ति समाज मे जीता है, वही "पावन-स्मृति" का अधिकार पा सकता है। यह अधिकार की परपरा और अधिक व्यापक बने, इसे मैं सबसे बड़ी शुभाशंसा मानता हू।

१८-१-८८
अणुव्रत विहार
नई दिल्ली

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अपनी बात

श्री बिहारीलालजी जैन का स्वर्गवास चौहत्तर वर्ष की उम्र मे दिनांक २७ फरवरी १९८७ ई० को कलकत्ते में हो गया। वैसे वर्तमान युग मे चौहत्तर वर्ष की उम्र कोई लम्बी उम्र मे शुमार नही की जा सकती। प्रत्येक व्यक्ति लम्बी उम्र जीने की कामना अपने मन मे किया करता है। मेरी राय मे बहुत लम्बी उम्र का जीना भी जी का जजाल है। आदमी जब तक जीये, पूर्ण स्वस्थ कर्म–मय जीवन जीये। खटिया पकड़कर हाय-तौबा करते हुए जीना भगवान दुश्मन को भी न दे। बिहारीलालजी ने कर्म-मय जीवन जीया। अत्यन्त दीर्घजीवी मुनि मार्कण्डेय जी ने कहा है "अधिक दिन जीने मे दो ही बड़े कष्ट है। एक तो यह कि अपने आत्मीय स्वजन-बन्धुओ का अपने सामने वियोग होता है। दूसरा कष्ट यह है कि ससार मे खलनिन्दक दूसरो की उन्नति देखकर जलने वाले ईर्ष्यालु, द्वेषी पुरुषो के बीच रहना पड़ता है, उनकी विष के समान कड़वी बाते सुननी पड़ती है। ये दो बाते न हो तो फिर कितने भी दिन जीना पड़े, सुख ही सुख है।"

बिहारीलालजी को अपने यशस्वी जीवन मे प्रथम दुख तब झेलना पडा था, जब उनकी जवान बेटी उनकी आंखो के आगे ही पांच वर्ष का अल्प सुहाग भोग कर विधवा हो गई थी। किस मनःस्थिति से गुजरे होगे बिहारीलालजी उस समय। कितने लाड़–प्यार से उन्होने उसका विवाह रचाया था। प्रत्येक पिता अपनी पुत्री का विवाह अपनी हैसियत के अनुसार अच्छा से अच्छा करना चाहता है। बिहारी बाबू ने भी कोई कोर-कसर नही रखी थी, बेटी को घर से विदा करते समय। सुख-सुविधा के सारे साधन उन्होने अपनी प्यारी बिटिया को देकर घर से विदा किया था। लेकिन सुख तो भाग्य मे लिखा मिलता है। माँ–बाप लाख योग्य घर और वर देख कर बेटी का विवाह रचा दे, सुख उसके नसीब मे यदि नही है, तो लाख कोशिशो के बावजूद उसे नही मिलता। बिहारीलालजी विधाता के आगे गिडगिडाये नही। अपनी पराजय स्वीकार नही की। वे अपने दम-खम से, अपने पुरुषार्थ से पुनः हारी हुई बाजी जीतना चाहते थे। अपनी प्यारी बिटिया को वे भरी जवानी मे वैधव्य-जीवन मे नही देखना चाहते थे। उन्होने युग और उम्र की माग को समझते हुए विधाता के गाल पर एक करारा तमाचा जड दिया और पूरी मर्दानगी के साथ लोगो के लाख मना करने पर भी अपनी बेटी का नया ससार बसा दिया। योग्य घर और वर देखकर उसे पुनः सुहागिन बना दिया।

विधाता कुचक्र और क्रूरता से बाज नही आया। वह बिहारीलालजी के गर्व को चूर-चूर करना चाहता था। काल ने बिहारीलालजी के गाल पर वापसी जवाब मे एक झन्नाटेदार तमाचा पुनः जड़ दिया। उनका जवान बेटा उनकी आंखो के आगे काल के गाल मे समा गया।

प्रत्येक पिता यह आस अपने सीने मे लगाये रहता है कि जब वह वृद्ध हो, तब उसका पुत्र उसकी लाठी का सहारा बने। उसकी अर्थी को कधा देकर वह श्मशान घाट ले जाये। लेकिन सोचा हुआ सारा का सारा कब किसका पूरा हुआ है? जवान बेटे को कधा पिता को ही देना पडा। दूसरा कोई अधकचरे व्यक्तित्व का व्यक्ति होता तो धडाम से गिर पडता, और खटिया पकड लेता। बिहारी बाबू घबराये नही, गिडगिडाये नही। वे इस वज्रपात को भी दिलेरी से सहन कर गये। इस जीवन-सग्राम मे सूरमा की तरह डटे रहे।

होते है बडे किस्मत के धनी जो ये सदमे सह जाते हैं,
तूफाने-हवादिस मे वर्ना अच्छे-अच्छे वह जाते हैं।

बिहारीलालजी आदर्श पुरुष थे। उनका जैसा सार्वजनिक जीवन था, वैसा ही पाक-साफ व्यक्तिगत जीवन भी था। बिहारीलालजी के पूर्वज वैष्णव थे। ये संस्कार उन पर भी बने रहे। हालांकि उन्होने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। आदमी भले ही वैष्णव रहे, चाहे जैन बने, इससे कुछ बनता-बिगडता नही। वह मन्दिर में जाकर पूजा-पाठ करे या भले ही अपने घर पर मालिक को याद करे, मूल प्रश्न है उसके आचरण का, उसके चरित्र का। आप भले ही घटो उपासना, पूजा–पाठ, जप-तप, क्रिया-काण्ड करते रहे, लेकिन आपका आचरण, आपका खान-पान, आपका रहन-सहन, आपकी दैनिक क्रियाएँ यदि शुद्ध नहीं हैं, तो न आप को मुक्ति भगवान राम और कृष्ण दे सकते है और न आपको मोक्ष का मार्ग महावीर और आचार्य भिक्षु बता सकते है। लेकिन किया क्या जाये? हमलोग दीन-दुनिया को धोखा देते है। भगवान को भी चकमा देते है और साथ ही अपना यह लोक और परलोक दोनो को अपने कुकर्मो से ले डूबते है। हमारी जिन्दगी मात्र दिखावा बन कर रह गई है। हम लोग मुखौटा लगा कर चलते हैं। हमारी बुनावट मे, हमारे चरित्र मे खोट ही खोट भरी पडी है। असली रग तो तब सोने का निकलता है, जब उसमे किंचित मात्रा मे खोट हो। यदि पूरा पीतल ही पीतल है, तब कोई उसे कहाँ से सोना बना देगा।

बीस बार बानी कियो आधो दीन्यो खोय
कोरो पीतल 'गोमदा' कचन क्यां स्यूँ होय।

सार्वजनिक और धार्मिक जीवन मे क्या कुछ नही वर्तमान मे घटित हो रहा है? चरित्र नाम की कोई चीज हमारे पास बची ही नही है। दिखावे मात्र का हमारा धार्मिक जीवन बचा है। मचो पर, आम आदमी मे तो हम पूर्ण धार्मिक नजर आने का नाटक दिन-रात करते रहते है। जप–तप, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, नैतिकता की दुहाई हम देते रहते है। लेकिन होता इससे उलटा ही है। धर्म नाम से आम आदमी के मन मे नफरत की जो आग सुलग रही है, उसका मूल कारण हमारा दोगलापन है, क्या हमारी चरित्रता की यही पहचान है? काश! हम अपने व्यक्तिगत जीवन मे भी उतने ही सात्विक, उतने ही पवित्र, उतने ही सवेदनशील होते, जितने हम बाहर से दिखते है। लेकिन ऐसा होता कहाँ है? हम तो छलावा करते हैं, दिखावा करते है। भीतर की जिन्दगी हमारी कितनी घृणित और कुत्सित है, महाकवि सुमित्रानन्दन पत के शब्दो मे :—

शय्या की क्रीडा कन्दुक है जिनको नारी,
अहमन्य वे, मूढ, अर्थबल के व्यभिचारी!
सुरागना, सपदा, सुराओ से ससेवित,
नर पशु वे : भू भार : मनुजता जिनसे लज्जित!

दर्पी, हठी, निरकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित,
गत सस्कृति के गरल, लोक जीवन जिनसे मृत !

जैन धर्मालम्बियो मे तेरापथ धर्म के अनुयायियो मे भी कुछ निष्ठावान, चरित्रवान, समर्पित लोगो की एक सशक्त पीढी हुई है। जिनमे से कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार से है :—

स्वनामधन्य छोगमलजी चोपडा, भँवरलालजी दूगड, सुगनचन्दजी आचलिया, हणुतमलजी सुराणा, जयचन्दलालजी दफ्तरी, पन्नालालजी सरावगी, सतोकचन्दजी बरडिया, जयचन्दलालजी कोठारी, मोतीलालजी धाडीवाल, प्रभुदयालजी डाबडीवाल, शोभाचन्दजी सुराणा, भगवती भाई और उसी ही पीढी का एक शानदार नाम था बिहारीलालजी जैन। इनके प्रति लोगो के मन मे अपार श्रद्धा-भाव आज भी बना हुआ है। इन लोगो का जैसा सार्वजनिक जीवन था, वैसा ही पाक-साफ व्यक्तिगत जीवन भी। ये लोग शरीर से तो अब हमारे बीच मे मौजूद नही है, लेकिन उनकी यश-कीर्ति की गाथाये जब-तब लोगो के द्वारा मुँह पर भी और पीठ के पीछे भी सुनी जा सकती है। क्या इनकी कमर तक पहुँचने वाले धार्मिक और सामाजिक कार्यकर्त्ता अब कही मिल सकते है ?

पुराने अहबाब चल दिये सब,
कही पै होगे दो-चार बाकी।

बिहारीलालजी बे-लाग दो टूक बात बडी दिलेरी के साथ कहा करते थे। उनके मन मे कभी कोई कपट या खोट नही आई। न वे किसी का अहित करते थे और न किसी की निन्दा। सब उनके मित्र थे, सब उनके अपने स्वजन-स्नेही। सब को वे भरपूर मान-सम्मान देते थे और सब कोई उनको मान-सम्मान और श्रद्धा की नजर से देखते थे। बाल्यकाल मे ही उनके मन मे एक सपना पल रहा था। छात्र जीवन मे उनके अध्यापक ने उनसे प्रश्न पूछा, "बिहारीलाल तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है ?" बालक बिहारी ने साफ-साफ अपने मन की बात बता दी "ईश्वर प्राप्ति"। बिहारीलालजी ने पूर्ण धार्मिक जीवन जिया। ईश्वर प्राप्ति के जितने साधन थे, उन्होने उसमे अपने को रमाया-खपाया। धार्मिक और सार्वजनिक कार्यो के लिए वे हर वक्त तत्पर रहते थे। शिक्षा के क्षेत्र मे भी उन्होने बहुत कार्य किया। भावी पीढी मे अच्छे संस्कार पड़ें, इस हेतु वे जीवन भर प्रयत्नशील रहे।

फारसी भाषा मे ईरान के नीति-शास्त्र मे एक सीख है

दर हजरत बादशाहाने
हिफ्ज चश्म
दर खिद्मत दरवेशाने
निगाहे दरियाये दिल,
दर चश्मे इल्मा
पासबानी जबान !

"—तहजीब का तकाजा है कि बादशाहो के नजदीक जाओ तो आँखे नीची रखो यानी विनयभाव से पेश आओ, साधु-सतो और फकीरो के सामने जाओ तो दिल पर पूरा काबू रखो यानी श्रद्धा-भक्ति मे कमी न आने दो। विद्वानो, सज्जनो और सभाओ मे जाओ तो जबान पर कब्जा रखो यानी नपी-तुली और नेक बात कहो।"

इस मायने मे बिहारीबाबू सौ टच खरे उतरे है। उनके व्यवहार मे, उनके विनय-भाव मे, उनकी श्रद्धा-भक्ति मे कही भी प्रश्नवाचक चिन्ह नही लगाया जा सकता।

बिहारीलालजी के मेरे साथ आत्मीय सम्बन्ध रहे हैं। वे मुझे बहुत मान देते थे। मैं भी उन्हे बहुत ऊँची नजरो से देखा करता था। उनके दबग व्यक्तित्व का मैं कायल था। उनके स्वर्गवास के बाद उनके सुयोग्य पुत्र जगदीशजी के मन मे अपने पिता की स्मृति मे एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का विचार आया। उन्होने मुझे फोन पर बताया, "मैं अपने पूज्य पिता की स्मृति मे एक ग्रन्थ निकालना चाहता हूँ। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस ग्रन्थ के सम्पादन का भार आप स्वीकार करे।" मैंने उसे समझाया कि "आजकल अभिनन्दन-ग्रन्थ और स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित करवाने की होड-सी लगी हुई है। लोग इतने बेशर्म हो गये है कि अपनी प्रशंसा के गीत स्वय रच कर प्रकाशित करवा लेते है। अपना अभिनन्दन खुद अपने खर्चे से करवा लेते हैं। अपने दम-खम से भीड भी जुटा लेते है। शाल और फूलो की मालाएँ भी अपने साथ ले जाते है और अपने चमचो से जुगाड भिडा कर किसी महामहिम के हाथो ग्रहण कर लेते है। दूसरे दिन अखबारो मे लम्बी-चौडी तसवीर और खबर भी छप जाती है। बाद मे अपनी झूठी प्रशस्ति लिखवा कर बहुत मोटा ग्रन्थ भी प्रकाशित करवा लेते हैं। इसी प्रकार से उनके परिवार वाले मृत्यु के बाद स्मृति-ग्रन्थ भी साज-सज्जा के साथ सुन्दर ढग से अच्छी साफ-सफाई और नयनाभिराम आवरण पृष्ठ मे प्रकाशित करवा लेते है। आम आदमी को जानने, समझने, पढने-गुनने के लिए इन मोटे-मोटे ग्रन्थो मे कुछ नही मिलता। या तो वे ग्रन्थ आलमारियो मे स्थान रोके रखते हैं, या फिर मेरे जैसे लोग उन महिमामंडित झूठ के पुलिन्दो को दीवाली पर रद्दी के भाव बेच देते है।"

मैने जगदीशजी को समझाने का प्रयत्न किया कि आप किसी पेशेवर लेखक को पकड लीजिए और अपने मन-मुताबिक अपने पिता का स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित करवा लीजिए। लेकिन वह भला आदमी मेरी किसी बात को मानने के लिये तैयार नही हुआ। देखते ही देखते मेरे घर पर उपस्थित हो गया। मैंने उसे लाख समझाने का प्रयत्न किया कि मैं अजीब तरह का झक्की-सनकी और तुनुक-मिजाज आदमी हूँ। तुम मेरे साथ एक दिन भी नही निभा सकोगे। ज्यो-ज्यो मैं उसे भगाने का प्रयत्न कर रहा था, त्यो-त्यो वह अति विनम्र होकर मेरी जायज-नाजायज शर्तो को स्वीकार कर रहा था। आखिर मे मुझे अपनी पराजय स्वीकार करके यह कार्य अपने जिम्मे लेना ही पडा। पता नही मै इस परीक्षा मे कहाँ तक सफल हुआ हूँ।

ग्रन्थ का नाम मैंने "पावन स्मृति" रखा है। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि बालक बिहारीलाल ने दो टूक उत्तर अपने अध्यापक को दिया था कि मैं जीवन मे 'ईश्वर प्राप्ति' चाहता हूँ। इसी बात को ध्यान मे रख कर प्रथम खण्ड "शलाका पुरुष" शीर्षक से रचा गया है। प्रथम खण्ड मे जिन "शलाका पुरुषो" का स्मरण किया गया है, उनके बिना हम धर्म, अध्यात्म, चरित्र और भारतवर्ष की कल्पना ही नही कर सकते। इन "शलाका पुरुषो" की एक बात ही यदि व्यक्ति अपने जीवन मे धारण कर ले तो वह निसदेह "ईश्वर प्राप्ति" के मार्ग को पा जायेगा।

बिहारीलालजी सत्य, शिव और सुन्दर के उपासक थे। वे रोज प्रातः उठ कर प्रभु-आराधना के समय अच्छे-अच्छे भक्ति-पूर्ण भजन गाया करते थे। द्वितीय खण्ड "अमृत-वाणी" मे भजन और भक्ति-पूर्ण कविताओ का चयन किया गया है।

प्राचीन और नवीन जितने शीर्षस्थ कवि हमारे यहाँ हुए है, उनमे से मैंने अपनी पसन्द के अनुसार कविताओं और भजनो का चयन किया है। इस खण्ड मे सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, सुब्रह्मण्य भारती, विद्यापति आदि कवियो को तथा भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित सारे कवियो की कविताओ का भी चयन किया गया है। शायद इस चयन से पाठको को भक्ति-गगा मे नहाने का सुअवसर प्राप्त होगा और बहुत से पद वे सोते-उठते-बैठते अपने-आप ही गुन-गुनाने लगेंगे।

तृतीय खण्ड उनकी जीवनी का है। जीवन की प्रत्येक घटनाओं की शत-प्रतिशत सही जानकारी प्राप्त कर के पूर्ण खोज-बीन के साथ लिखा गया है। बिहारीलालजी ने अपने किसी भाषण मे कहा था कि आने वाली पीढी हमारे नगर के इतिहास से भी परिचित होनी चाहिए। उनकी इस बात को ध्यान मे रखकर जीवनी के प्रारम्भ मे राजगढ नगर का इतिहास लिखा गया है। स्नेही-बन्धु गोविन्द जी अग्रवाल ने राजगढ के ऐतिहासिक तथ्यो की सही-सही जानकारी देकर इसे दोष-रहित करवाया है। पंडित-प्रवर अक्षयचन्द्रजी शर्मा से भी मैं समय-समय पर राय-मशविरा ग्रन्थ के विषय में करता रहा हूँ, जिसका मैं अधिकारी हू। पडित जी मेरे पर सदैव ही कृपालु रहे है। इन दोनो रसानुप्रिय श्रेष्ठ पंडितो का आभार स्वीकार करने मे मुझे गौरवानुभूति हो रही है। जीवनी लिखने का कार्य बहुत धीरज और श्रम का कार्य होता है। मेरे आत्मीय मित्र श्री नवरतनजी शर्मा ने मेरे अनुरोध की रक्षा करते हुए श्री बिहारीलालजी की जीवनी लिखकर मुझे उपकृत किया है। जीवनी मे न तो अतिशयोक्ति की गई है, और न किसी बात को बढा-चढा कर लिखा गया है। जहाँ तक लेखक को जो बात सही लगी, उसे ही इसमे लिखा गया है।

चतुर्थ खण्ड मे बिहारीलालजी के बाल-सखा और स्वजन-स्नेही लोगो से कुछ सस्मरणात्मक लेख लिखवाये गये है। सस्मरणो मे व्यक्ति अपने जीवन मे घटित घटनाओ को लिखता है। वहाँ पर पाडित्य और लेखकीय ज्ञान कुछ काम नही देता। उनके बचपन की बहुत-सी घटनाएँ इन संस्मरणो मे हमे पढने को मिलती है। बिहारीलालजी के जीवन की घटनाओ को पढने से ऐसा ज्ञात होता है कि वे एक प्राणवान, चरित्रवान, श्रद्धावान, श्रेष्ठ-पुरुष थे। "पावन-स्मृति" ग्रन्थ उनकी स्मृति मे जलाया हुआ एक दीपक है, जिसकी लौ से आने वाली पीढ़ियो को प्रकाश मिलेगा। यह ग्रन्थ न तो बिहारीलालजी की मात्र स्तुति का भारी-भरकम पोथा है, और न झूठ-फरेब से रचा हुआ पैसे का भोडा प्रदर्शन। मुझे आशा ही नही, पूर्ण विश्वास है कि स्नेही-पाठको को स्मृति-ग्रन्थों की इस बाढ मे यह ग्रन्थ उन्हे पढने, गुनने और कुछ सीखने को मजबूर करेगा। ईश्वर प्राप्ति हेतु स्वाध्याय का जो मार्ग हमारे ऋषि-मुनियो ने बताया है, उस स्वाध्याय की भूख को बहुत अशो मे यह ग्रन्थ तृप्ति प्रदान करेगा। भावी-पीढी और स्नेही पाठको को यह ग्रन्थ पसन्द आया तो मैं अपने श्रम को सार्थक मानूगा।

"पावन-स्मृति" ग्रन्थ मे जितने लेख प्रकाशित हुए है, उनमे मात्र एक लेख को छोड़कर सारे के सारे लेख अधिकारी विद्वानो से विषय देकर लिखवाये गये है। सारे लेखक देश के जाने-माने विद्वान और सुपरिचित साहित्यकार है। "श्री अरविन्द राष्ट्रीयता के अग्रदूत" लेख राष्ट्रकवि रामधारीसिह 'दिनकर' द्वारा रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर, के रीडरशिप-भाषण देने के लिए लिखा गया था।

आचार्यश्री तुलसी ने आशीर्वचन और युवाचार्य महाप्रज्ञजी ने ग्रन्थ की भूमिका लिख कर मुझे तो उपकृत किया ही है, "पावन-स्मृति" ग्रन्थ को भी एक विशेष गरिमा प्रदान की है। मैं अत्यन्त भक्ति-भाव से नत होकर उनके चरणो मे वन्दन करता हूं और अन्य विद्वान, स्नेही लेखको को आदर भाव से प्रणाम। बन्धुवर जगदीशजी ने उदारता और सहृदयता से मुझ से सपादन कार्य करवा लिया, यह उनका अपने पिता के प्रति श्रद्धा-भाव और मेरे प्रति स्नेह-भाव का द्योतक है। प्रभु उनमे अपने पिता की तरह ही पूर्ण सात्विक विचारो को और अधिक प्रखरता प्रदान करें तथा भविष्य मे वे और अधिक तत्परता से समाज की सेवा मे तन-मन-धन से पूर्ण समर्पित होकर जुट जायें, यही मैं उनके लिए मंगल कामना करता हू।

ग्रन्थ मे जो कुछ सत्य, शिव, सुन्दर वन पडा है, वह गुरु कृपा और आप लोगो के स्नेह का प्रसाद है। जो कुछ कमी रही है, वह सव मेरी अल्प-बुद्धि, सीमित ज्ञान और अज्ञानता का सूचक है। इस हेतु पाठक और स्नेही जन मुझे क्षमा करेंगें। मेरे जैसा व्यक्ति इस ग्रन्थ मे कहाँ तक सफल हुआ है, इसका अकन तो सुधी-पाठक ही कर सकेंगे। मैं अत्यन्त विनम्र-भाव से विहारीलालजी को अपना श्रद्धा-मय प्रणाम इस ग्रन्थ के माध्यम से निवेदित करता हूँ। शायद उनकी आत्मा को मेरा यह प्रयास अच्छा लगेगा और आप सव लोगो का मुझे स्नेह एव आशीर्वाद प्राप्त होगा।

सो सव तव प्रताप रघुराई।
नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

कन्हैयालाल फूलफगर

अनुक्रमणिका

शलाका पुरुष (प्रथम खण्ड)

अमृत वाणी (द्वितीय खण्ड)

शीर्षक		कवि		पृष्ठ सख्या

बिहारीलाल जैन जीवन यात्रा (तृतीय खण्ड)

अंतरंग बहिरंग (चतुर्थ खण्ड)

एक हाथ में कमल, एक में धर्मदीप्त विज्ञान ।
लेकर उठने वाला है धरती पर हिन्दुस्तान ।।

— दिनकर

शलाका पुरुष
प्रथम खण्ड
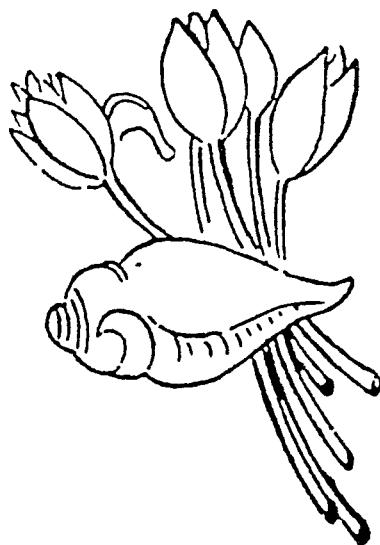
भगवान् राम के जीवन के प्रेरक प्रसंग

—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

श्रीराम जब लंका से लौटकर अयोध्या मे राज्यासन पर अभिषिक्त हो चुके थे, उन्ही दिनो एक बार महर्षि वाल्मीकि ने नारदजी से पूछा "इस समय ससार मे ऐसा कौन महापुरुष है, जो गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यनिष्ठ, दृढ-प्रतिज्ञ, सदाचारी, सब प्राणियो का हितकर्त्ता, विद्वान्, सर्वसमर्थ, अत्यन्त सुन्दर, मन को वश मे रखने वाला, क्रोध को जीतनेवाला, कान्तिमान्, किसी की निन्दा न करनेवाला और सग्राम मे कुपित होने पर देवताओ को भी भयभीत कर देने वाला हो ?"

नारदजी ने उत्तर दिया—"इक्ष्वाकु-वश मे उत्पन्न राम ही ऐसे महापुरुष है, जिनमे ये सभी गुण विद्यमान् हैं। वे गम्भीरता मे समुद्र, धैर्य मे हिमालय, वल में विष्णु, मनोहरता मे चन्द्रमा, क्रोध मे कालाग्नि, क्षमा मे पृथ्वी, त्याग मे कुबेर, और सत्य मे दूसरे धर्म के समान है।"

श्रीराम का यह परिचय देकर नारदजी ने उन्हे, श्रीराम का सारा जीवन-चरित्र, आदि से अन्त तक, सुना डाला। नारदजी के चले जाने के दो घडी पीछे वाल्मीकिजी, अपने शिष्य भरद्वाज के साथ, तमसा-नदी के तट पर सन्ध्या-वन्दन करने चले गये। वहाँ पहुँचते ही वे देखते क्या हैं, कि एक पापी व्याध ने क्रौंच-पक्षियो के एक जोड़े मे से, नर-क्रौंच को तड़ाक से बाण से मार डाला। उसे तड़फड़ाते देखकर, क्रौंची भी चीत्कार करती हुई वही ढेर हो गई। इस हत्या से उन्हे इतना शोक हुआ कि उन्होने उस व्याध को शाप दिया—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

अर्थात् अरे व्याध ! तुझे जीवन-भर कभी शान्ति न मिले क्योकि तूने इस काममोहित निरपराध क्रौंच के जोड़े मे से एक को मार डाला है।

वाल्मीकि का वह शोक, श्लोक बनकर प्रकट हुआ। जव वे वहाँ से आश्रम मे लौटकर आए तव ब्रह्मा ने आकर उनसे कहा—तुम्हारे मुँह से निकला हुआ यह श्लोक "महाकाव्य" वन जायेगा, क्योकि मेरी ही प्रेरणा से, तुम्हारे मुख से, ऐसी वाणी निकली है। अव तुम नारदजी के कथन के अनुसार, श्रीराम के चरित्र की पवित्र और सुन्दर कथा श्लोको मे लिख डालो—और महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर डाली।

गुरु-भक्त राम :

अयोध्या के राजा दशरथ ने, पुत्रेष्टि-यज्ञ, ऋष्यश्रृंग को बुलाकर, सम्पन्न कराया, जिससे, उनकी तीन रानियो से चार पुत्र हुए—कौशल्या से राम, कैकेयी से भरत और सुमित्रा से

लक्ष्मण और शत्रुघ्न। महर्षि वसिष्ठ ने उनके नामकरण आदि सब संस्कार कराकर उन चारों को शस्त्र और शास्त्र की सारी शिक्षा दे डाली और उन्होने भी, अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ, अपने गुरुजी से सारी विद्याएँ सीख ली।

मोहजित् राम :

एक दिन महर्षि विश्वामित्र ने आकर राजा दशरथ से कहा—"आजकल जो मैं यज्ञ कर रहा हूँ उसमें मारीच और सुबाहु नाम के राक्षस आकर मेरी यज्ञवेदी पर रक्त और मांस की वर्षा करते हैं। यज्ञ के नियम के अनुसार मैं उन्हे शाप तो दे नही पाता, इसलिये आप अपने ज्येष्ठ-पुत्र श्रीराम को मेरे साथ भेज दीजिए तो वे राक्षसो को मार डालेंगे। यद्यपि, स्नेह के कारण, राजा दशरथ हिचकिचा तो बहुत रहे थे, पर वसिष्ठजी के कहने से उन्होने राम-लक्ष्मण को बुलाकर कहा—"तुम दोनो महर्षि विश्वामित्र के साथ चले जाओ।"

यदि कोई दूसरे १५-१५ वर्ष के पुत्र होते तो घर छोड़ते हुए झिझकते, दुखी होते, न जाने के लिये हठ करते, पर राम थे कि हँसते हुए वे झट अपना धनुषबाण लेकर उनके साथ हो गये—पिता की आज्ञा जो थी! राम के लिये यह वेदवाक्य था। साथ में लक्ष्मण भी चल दिए। राम के बिना वे कैसे रह सकते थे? मार्ग में महर्षि विश्वामित्र ने उन्हे अनेक अस्त्र-शस्त्र देकर, उनके प्रयोग की सारी-विद्या भी सिखा दी, साथ ही उन्हे 'बला' और 'अतिबला' नाम के मन्त्र भी दे दिये, जिनके कारण न तो कभी थकावट हो, न रोग हो, न रूप बिगड़े और न भूख-प्यास ही सताये।

स्त्री का वध कैसे करूँ? :

अनेक नदियो और जगलो को पार करके वे उस 'ताटका वन' में जा पहुँचे, जिसमे कुछ-दिनो से, सुन्द की पत्नी ताटका-यक्षिणी आकर रहने लगी थी, जिसके बली पुत्र, मारीच और सुबाहु, ऋषियों को त्रास देते रहते थे। ताटका स्त्री थी। उसे मारने मे राम हिचकिचा रहे थे। पर विश्वामित्रजी ने राम से कहा—"इस ताटका को तुम निःसकोच होकर वैसे ही मार डालो, जैसे विरोचन की सर्व-नाशिनी पुत्री मन्थरा को इन्द्र ने मार डाला था [कैकेयी की दासी मन्थरा दूसरी थी] और भृगु की पत्नी को विष्णु ने मार डाला था, इसलिये तुम उसे, स्त्री समझकर, मार डालने में सकोच मत करो।" जब विश्वामित्रजी ने आज्ञा दे दी तब उन्होने अपना धनुष उठाकर ऐसी टकार दी कि ताटका, क्रोध मे भरकर उनकी ओर झपटी, पर राम ने एक ही बाण में उसे यमलोक पहुँचा दिया।

राम के सम्बन्ध मे तो यह प्रसिद्ध ही हो गया था—

> द्विः शरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान्।
> द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते॥

[राम जिसे मारते हैं उसे एक ही बाण मे मार डालते है, जिसे आश्रय देते हैं उसे फिर दूसरी बार या दूसरे का आश्रय लेने की आवश्यकता नही होती, वह निश्चिन्त हो जाता है, माँगनेवाले को वे एक बार ही इतना दे डालते हैं कि उसे दूसरी बार माँगने की आवश्यकता ही

नही पड़ती और राम, कभी दो वात नही कहते। जो एक वार कह दिया वह पत्थर की लकीर बन गई।]

कर्त्तव्य-पालन :

पिता की आज्ञा से विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने के लिए आकर, उन्होने अपना कर्त्तव्य निश्चय कर लिया। वहाँ रहनेवाले मुनियो ने उन्हे वता दिया कि विश्वामित्र जी तो यज्ञ की दीक्षा लिये बैठे है इसलिये वे तो कुछ वोलेगे नही। आप-दोनों छह रातो तक इनके यज्ञ की रक्षा करे। पाँच दिन, वे, वरावर सावधान होकर रक्षा करते रहे। छठे दिन यज्ञ आरम्भ होते ही, ज्यो ही राक्षसो ने रक्त वरसाना आरम्भ किया कि राम ने मारीच की छाती मे ऐसा मानवास्त्र मारा कि वह सौ योजन दूर समुद्र-तट पर जा गिरा और आग्नेयास्त्र मारकर सुवाहु को तो वही ढेर कर दिया। विश्वामित्र का यह यज्ञ पूर्ण हो गया।

राम का शील :

अगले दिन विश्वामित्र ने उनसे कहा कि मिथिला के राजा जनक का निमन्त्रण आया है, उनके यहाँ रक्खा हुआ उनका वहुत वड़ा धनुष तुम्हें अवश्य चलकर देखना चाहिए। वह इतना भारी है कि उसपर डोरी चढाना तो दूर, कोई माई का लाल आज तक उसे उठा भी नही सका। यह सुनकर उन्हे बड़ा कौतूहल हुआ। वे, विश्वामित्र और अन्य महर्षियों के साथ, मिथिला के लिए चल दिए। मार्ग मे उन्होने देखा कि एक वड़ा रमणीक आश्रम सामने है, पर उसमे न कोई मनुष्य रहता है, न कोई जीव ही दिखाई देता है। पूछने पर, विश्वामित्रजी ने राम से कहा—"यह अहल्या का आश्रम है, चलकर, उसका भी उद्धार करो।" राम ने आश्रम मे जाकर देखा कि अहल्या अपनी तपस्या से चमक उठी है, क्योकि पहले अहल्या किसी को दिखाई नही देती थी। राम का दर्शन पाते ही वह सबको दिखाई देने लगी। यद्यपि राम के कारण ही अहल्या की मुक्ति हुई थी, पर राम का शील देखिए कि जव तक अहल्या उन्हे प्रणाम करने को झुके उन्होने ही झुककर, अहल्या के चरण छू लिए और उसकी वहुत-वहुत वन्दना की। यह थी उनकी मर्यादा और यह था उनका शील।

राम का पराक्रम :

मिथिला पहुँचने पर, राजा जनक ने विश्वामित्रजी का बडा आदर-सत्कार किया और उनका पूजन करके पूछा—'मैं आपकी क्या सेवा करूँ?" विश्वामित्रजी ने, राम-लक्ष्मण का परिचय देकर उनसे कहा—"राजा दशरथ के ये दोनो पुत्र आपके यहाँ रक्खा हुआ विशाल धनुष देखना चाहते है।" राजा जनक की आज्ञा से आठ पहियो वाले लोहे के पिटारे मे रक्खे हुए उस धनुष को, पाँच सहस्र हट्टे-कट्टे वीर किसी प्रकार ठेलकर लाये। विश्वामित्रजी की आज्ञा से, राम ने धीरे से उस पिटारे का ढक्कन खोला और धनुष को बीच से पकडकर धीरे से उठाया तथा उसपर डोरी (प्रत्यञ्चा) चढा दी। फिर ज्यो ही उन्होने उस धनुष को कान तक खीचा कि वह कड़कड़ाकर वीच से दो टुकडे हो गया। सब लोग आश्चर्य से आँखे फाडे और मुँह वाये देखते रह गये कि जिस धनुष को वड़े-वड़े वीर तिल भर नही सरका सके, उसे रामने केवल

उठाया ही नही, उठाकर कान तक खीच लिया और देखते-देखते उसे दो-टूक भी कर डाला। कितना वल था राम मे और कैसा पराक्रम उन्होने कर दिखाया ! जनक की प्रतिज्ञा के अनुसार, सीता का विवाह राम से कर दिया गया।

राम का तेज और उनकी विनयशीलता :

जनक के यहाँ से विदा होकर जब दशरथ अपने पुत्रो और पुत्र-वधुओ के साथ अयोध्या को लौट रहे थे, तभी आधे मार्ग मे, सहसा भयकर आँधी उठी और उसी धूल-भरे अन्धड़ में दशरथ देखते क्या है कि क्षत्रियो के शत्रु—परशुरामजी—डग वढाए आ रहे हैं। आते ही, महर्षियो ने उनका वडा पूजन किया पर परशुराम ने छूटते ही राम से कहा—"देखो, वीर-श्रीराम ! तुमने शिवजी का धनुप तोडकर वडा अद्भुत कर्म किया है। यह सुनकर मैं दूसरा वैष्णव धनुप साथ लेता आया हूँ। यदि तुम इसे खीचकर अपना पराक्रम दिखा सको तो मैं तुमसे द्वन्द्व युद्ध करने का निश्चय करूँ।" यह सुनकर रामने, परशुरामजी के हाथ से धनुप-वाण लेकर, उसे चढाकर कहा—"आप हमारे पूज्य हैं। मैं आपकी वन्दना करता हूँ। आप पर तो मैं वाण चला नहीं सकता, किन्तु आप ही वता दीजिए कि इस वाण से मैं आपकी, शीघ्र कही भी पहुँच जाने की, गति रोक दूँ या आपने अपने तप से जो पुण्य-लोक प्राप्त किये हैं, उन्हे नष्ट कर दूँ, क्योकि यह वैष्णव-वाण व्यर्थ नही जा सकता।" परशुरामजी ने कहा—'मेरी गमन शक्ति नष्ट न कीजिए। मैं महेन्द्र-पर्वत पर चला जाता हूँ। अपने तप से मैंने जो अनुपम लोक प्राप्त किये हैं, उन्हे भले ही नष्ट कर दीजिए।" राम ने, तत्काल वह वाण छोड दिया और जब परशुरामजी जाने लगे तव रामने उनका वड़ा पूजन किया। यह था राम का तेज और उनकी विनयशीलता।

राम का त्याग और पितृभक्ति :

राम सत्ताइस वर्ष के हो चले थे और सीता उन्नीस वर्ष की। रामके गुण देखकर और सारी प्रजा से उनकी प्रशसा सुनकर, दशरथ ने विचार किया कि राम, मेरे जीते-जी राजा हो जायें तो वडा अच्छा हो। उन्होने मन्त्रियो, नगरवासियों, जनपदवासियो और कुछ राजाओ को तो वुला लिया, पर उस हडवडी मे उन्होने न तो भरत के नाना कैकय-नरेश को निमन्त्रण दिया न सीरध्वज-जनक को। दशरथ का प्रस्ताव सवने वडी प्रसन्नता से स्वीकार किया। इधर, राज्याभिपेक की सारी तैयारी भी सम्पूर्ण कर ली गई।

इसी वीच, कैकेयी की कुवडी-दासी मन्थरा ने, जब अयोध्या मे वहुत चहल-पहल, सजावट और धूमधाम देखी तो उसका माथा ठनका, हो न हो, कुछ दाल मे काला है—उसने सुना कि कल ही, पुष्यनक्षत्र मे दशरथ अपने पुत्र राम को युवराज वना रहे है। यह सुनना था कि मन्थरा के तन-वदन मे आग लग गई। वह जली-भुनी झट कैकेयी के पास गई और सारा समाचार सुनाया। सुनते ही कैकेयी, हर्प से खिल उठी और वोली—"यह तो तूने वड़ा मगल समाचार सुनाया। मैं, राम और भरत को दो नही समझती। इससे वढकर मेरे लिए दूसरा कौन सा प्रिय समाचार हो सकता है ? अव तू जो चाहे मुझसे माँग।" पर मन्थरा ऐसी पाप और विपकी पुडिया थी कि उसने कैकेयी को उल्टा-सीधा समझाया। कैकेयी आसनपाटी लेकर, वाल विखेर कर, कोपभवन मे, धरती पर जा लेटी। जब दशरथ ने आकर उसे वहुत मनाया

और राम की शपथ खाकर कहा—"तू अपने दोनों वरों मे जो कुछ माँगना चाहे माँग ले", तब राम की शपथ खाने पर कैकेयी बोली—देखिए। यह जो रामके राज्याभिषेक की तैयारी हो रही है, इसी सामग्री से मेरे पुत्र भरत का अभिषेक हो जाना चाहिए, राम का नही। दूसरा वर यह माँगती हूं कि राम, तपस्वी का वेश बनाकर, चौदह-वर्ष तक दण्डकारण्य मे जाकर रहे। और ऐसी व्यवस्था कीजिए कि मैं आज ही राम को वन की ओर प्रस्थान करते हुए देख लूँ।"

यह सुनकर तो दशरथ को मानो काठ मार गया। उन्होने कैकेयी को बहुत धिक्कारा, बहुत अनुनय-विनय की, बहुत रोए-गिडगिड़ाए पर कैकेयी टस-से-मस नही हुई; उल्टे उन्हे ताने मारने लगी—"कि आप तो बड़े सत्यवादी और प्रतिज्ञापालक बने थे फिर आज वर देते हुए, क्यो रो-भीक रहे हैं ?"

प्रात.काल होने पर भी, जब दशरथ, बाहर नही निकले, तब सुमन्त्र ने कैकेयी से कारण पूछा। कैकेयी ने असत्य कहा—"ये रात-भर रामके अभिषेक के हर्ष से जागते रहे है। तुम तुरन्त राम को बुला लाओ।" तभी दशरथ ने भी आँखे खोलकर सुमन्त्र से कहा—'हाँ, रामको तुरन्त बुला लाओ।" सुमन्त्र ने झट आज्ञा पालन की। रामके आते ही, दशरथ तो केवल "राम" कहकर चुप हो गए, किन्तु कैकेयी ने बडी ढिठाई के साथ कहा—"तुमसे अप्रिय बात कहने के लिए इनका मुँह नही खुल रहा है, किन्तु इन्होने जो प्रतिज्ञा की है, उसका तुम्हे पालन करना चाहिए। यदि तुम उनकी आज्ञा का पालन कर सको तो मैं ही सब बताए देती हूँ, क्योकि वे कुछ भी नही कह सकेंगे।"

रामने व्यथित होकर कहा—"माता ! आप ऐसी बातें क्यो कह रही है ? महाराज के कहने से मैं आग मे कूद सकता हूँ, तीव्र विष खा सकता हूँ, समुद्र मे डूब सकता हूँ। उनकी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करूँगा। क्योकि मैं, राम. दो बाते कभी नही कहता।"

कैकेयी ने सारी कथा और अपने दोनो वर, उन्हे, कह सुनाए। सुनते ही राम बोले—"यह क्या बडी बात है ? मैं महाराज की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिये जटा और चीर धारण कर अभी वन मे चला जाऊँगा, पर मैं यह जान लेना चाहता हूँ कि महाराज मुझसे बोल क्यो नही रहे है ? भरत के अभिषेक की बात, इन्होने मुझसे क्यो नही कही ? इनकी बात तो अलग रही, मैं केवल आपके ही कहने से, अपने भाई भरत के लिये, इस राज्य को, सीता को, प्राणो को और सारी सम्पत्ति को भी प्रसन्नता पूर्वक त्याग सकता हूँ और फिर जब स्वय महाराज की आज्ञा हो, और आपका भी प्रिय कार्य हो रहा हो, तब भला उनकी प्रतिज्ञा का पालन क्यो नही करूँगा ? मै अभी चौदह वर्ष के लिये दण्डकारण्य चला जाता हूँ।" कैकेयी तो यह सुनकर खिल उठी और बोली—"हाँ ! जब तक तुम चले नही जाते, तब तक महाराज, न स्नान करेगे न भोजन।" यह सुनकर तो दशरथ ने कैकेयी को बहुत फटकारा। पर राम ने कैकेयी से कहा—"माँ ! मुझपर तो आपका पूरा अधिकार है। आपने यह बात मुझसे न कहकर महाराज से ही कही, यही खेद है।"

राम अपनी माता कौशल्या के पास गये। सीता और लक्ष्मण भी वही आ गये। रामने, अपनी माता को समझाया-बुझाया पर लक्ष्मण बिगड़े। उन्होने कौशल्या से कहा..."बडी माँ ! मुझे यह ठीक नही लगता कि श्रीराम वन को जायँ। बूढे, कामी, महाराज दशरथ ने, उस स्त्री के वश मे होकर यह क्या कर डाला ?" फिर लक्ष्मण ने राम से कहा—"जब तक यह 'वनवास' की बात बाहर नहीं फैलती, आप राज्य हथिया लीजिए। यदि कैकेयी के कहने से पिता भी शत्रु बन

रहे हैं तो उन्हे भी बन्दी कर लेना या मार डालना चाहिए ।" पर राम ने दृढता के साथ कहा "मैं पिता की आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता । मैं वही करूँगा जो एक पुत्र को करना चाहिए । मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम है और तुम्हारे पराक्रम को भी मैं जानता हूँ पर यह स्मरण रक्खो कि ससार मे केवल धर्म ही श्रेष्ठ है और धर्म मे ही सत्य बसा हुआ है । किसी को भी अपने माता-पिता तथा ब्राह्मण के वचनो की रक्षा से पीछे नही हटना चाहिए ।"

सीता और लक्ष्मण भी साथ चलने को मचल उठे । लक्ष्मण उनके साथ पिता के पास गये ।

रामके आने पर दशरथ ने कहा—"राम ! कैकेयी के दिये गये वर के कारण मैं मोह मे पड गया हूँ । तुम मुझे बन्दी करके स्वय राजा बन जाओ ।" राम ने कहा—'पिताजी ! मुझे राज्य से क्या लेना-देना ? मैं तो अब चौदह वर्षों तक वन मे ही रहूँगा, फिर आकर आपके चरणो मे मस्तक नवाऊँगा ।" जब कैकेयी राम को तुरन्त वन भेजने के लिए उकसाने लगी, तब सुमन्त्र ने कैकेयी को बहुत फटकारा—"तू वैसी है, जैसी तेरी माँ थी ।" रामने दशरथ से कहा कि मेरे लिए तो बस, चीर मँगवा दीजिए और दासियो से कहा— जाओ, कुदाली और टोकरी भी लेती आओ । वन मे इनका काम पडेगा ।" यह सुनना था कि कैकेयी बहुत से चीर उठा लायी और राम को देने के साथ-साथ सीता को भी देने लगी । तब तो वसिष्ठजी गरम हो उठे । उन्होने कैकेयी को बहुत धिक्कारा और कहा कि सीता तो वस्त्रो और आभूषणो से सुसज्जित होकर सेवको और सवारियो के साथ वन जायगी । यह सुनकर भी जब सीता वल्कल पहनने लगी, तब तो सब लोग चिल्ला उठे—"दशरथ ! तुम्हे धिक्कार है, धिक्कार है ।" यह सुनकर दशरथ भी कैकेयी को डपट कर बोले—"ये वल्कल-चीर सीता नही पहनेगी । यह अपने सारे वस्त्रालकारो के साथ जायगी । जान पडता है तू नरक मे ही जाने के लिए तुली बैठी है । जा नरक मे !" दशरथ की आज्ञा से सीता ने वस्त्राभूषण पहन लिए । वे तीनो वन के लिए चल दिये ।

निषादराज को गले लगाया :

रथ पर राम-सीता-लक्ष्मण को लेकर सुमन्त्र गगा के तट पर शृंगवेरपुर जा पहुँचे । राम को वनवासी-वेश मे देखकर, निषादराज की आँखे भर आयी और अधीर होकर वे राम से बोले— "इसे भी आप अपना ही राज्य समझिए ।" यह कहकर उसने बहुत-सी खानपान की सामग्री और शैय्याएँ वहाँ ला धरी । राम ने निषादराज को गले लगाते हुए कहा—"यह सब सामग्री तो तुम लेते जाओ, क्योकि दूसरो की दी हुई कोई वस्तु अब मैं ग्रहण नही कर सकता । केवल घोड़ो के खाने-पीने की वस्तुएँ ही मुझे दे सकते हो, क्योकि ये घोडे मेरे पिताजी को बहुत प्रिय हैं ।" यह थी राम की उदार-हृदयता और उनकी दृढता ।

सायकाल, सन्ध्या-वन्दन कर, वे लक्ष्मण का लाया हुआ केवल जलमात्र पीकर रह गए । फिर तृण की शय्या बिछाकर वे सो गए और लक्ष्मण कुछ दूर पर सुमन्त्र और निषादराज के साथ बातें करते हुए रातभर जागकर पहरा देते रहे ।

भरत के प्रति रामका प्रेम :

इस बीच, रामके वियोग मे, दशरथ का निधन हो गया । भरत ने अपने ननिहाल से लौटकर, जब सारा समाचार सुना तो कैकेयी को बहुत फटकारा और जीवन भर वे कैकेयी से नही

बोले। अपने पिता का अन्त्येष्टि-संस्कार करके, वे सबको लेकर राम को लौटाने के लिये चित्रकूट गये। उनकी सेना को आते देखकर, जंगली हाथियों के झुण्ड-के-झुण्ड, इधर-उधर भागते दिखाई देने लगे। तब साल के वृक्ष पर चढ़कर लक्ष्मण देखते क्या है कि एक विशाल सेना उधर बढी चली आ रही है। उन्होने राम से पुकार कर कहा—"आप अग्नि बुझा दीजिए, सीताजी को गुफा मे भेज दीजिए और धनुष-बाण-कवच से लैस हो जाइए, क्योकि निश्चय ही कैकेयी का पुत्र भरत हम लोगो को मारने आया है। कोविदार (कचनार-वृक्ष) के चिन्हवाली उसके रथ की ध्वजा स्पष्ट दिखाई दे रही है। यह हमारा शत्रु होकर आ रहा है इसलिये इसे मार डालने मे कोई दोष नही है। इस समय इसे जीवित छोडना ही अधर्म है।"

राम ने तत्काल लक्ष्मण को शान्त करते हुए कहा—"देखो, जब भरत स्वय यहाँ चले आ रहे है तब, ढाल-तलवार का क्या काम ? और फिर बन्धुओ को मारकर पाया हुआ राज्य तो विष-मिले भोजन के समान होता है, उसे भला मैं कभी ग्रहण कर सकता हूँ ? मैं तो भाइयो के सुख के लिए ही राज्य चाहता हूँ न ! मैं चुटकी बजाते यह सारी पृथ्वी जीत ले सकता हूँ, पर अधर्म से इन्द्र का पद भी नही लेना चाहता। भरत बड़े भ्रातृभक्त है। मैं जानता हूँ कि वे माता कैकेयी को डाट-डपट कर पिताजी को प्रसन्न करके मुझे राज्य देने चले आ रहे है। देखो ! भरत से कोई कठोर बात न कह बैठना। यदि मैं भरत से कहूँ कि कोशल का यह सारा राज्य लक्ष्मण को दे डालो, तो वे तत्काल तुम्हे दे डालेगे।" यह सुनकर तो लक्ष्मण पानी-पानी हो गए।

सत्यप्रतिज्ञ राम .

भरत और उनके साथ आए हुए सभी ने राम से बहुत आग्रह किया कि अयोध्या लौट चलिए, किन्तु राम अपने निश्चय पर अटल रहे। उन्होने भरत से कहा—'देखो ! मै निश्चय कर चुका हूँ कि जैसे भी होगा पिताजी की आज्ञा का पालन करूँगा और तुमसे भी यही कहता हूँ कि तुम भी अयोध्या में जा रहो, क्योकि तुम्हारे लिए भी पिताजी का यही आदेश है।" जब भरत ने देखा कि राम अपने निश्चय पर दृढ है, तब भरत ने राम के अभिषेक के लिये लाई हुई स्वर्णभूषित पादुकाएँ राम के पैरो के आगे सरका कर कहा—"आप कृपया इनपर अपने चरण रखकर इन्हे पवित्र कर दीजिए। अब सबका योगक्षेम ये ही किया करेगी।" रामकी चरण-पादुकाएँ अपने सिर पर रखकर भरत अयोध्या लौट गए।

राम की प्रतिज्ञा :

चित्रकूट छोड़कर राम महर्षियो के आश्रमो मे होते हुए चले जा रहे थे कि एक स्थान पर हड्डियो का ढेर देखकर उन्होने ऋषियो से पूछा—'यह क्या है ?" ऋषियो ने बताया—"राक्षसो ने जिन महर्षियो-मुनियो को मार डाला है, उन्ही की ये हड्डियाँ है।" यह देखकर उन्होने ऋषियो को आश्वासन दिया कि मैं अब इसी वन मे रहकर राक्षसो की पीडा से आप लोगो की रक्षा किया करूँगा।" सीताजी ने राम से बहुत कहा कि आप बैठे-बिठाये क्यो राक्षसो से बैर मोल ले रहे हैं। पर राम ने कहा—"ऋषियो और ब्राह्मणो को अभय दान देना प्रत्येक क्षत्रिय का कर्त्तव्य है, चाहे वह राज्य करता हो या न करता हो। मैने ऋषियो को अभयदान दे दिया है। अब चाहे

आकाश भी गिर पडे तब भी मैं अपनी प्रतिज्ञा से टलनेवाला नही।' फिर तो उन्होने एकके पश्चात् एक सभी राक्षस चुन-चुन कर मार डाले।

कृतज्ञ राम :

अपने नाक-कान कट जाने पर जब शूर्पणखा ने रावण को जा उकसाया, तब वह मारीच को स्वर्ण-मृग बना कर सीता को हर ले गया। इस घटना से राम अधीर होकर विलाप करने लगे और लक्ष्मण के साथ वन-वन घूमते हुए सीता के कष्ट का ध्यान करके बड़े दु ख-भरे स्वर मे विलाप कर उठे, क्योकि यह केवल पत्नी का ही हरण नही था, यह उनके कुल का अपमान और उनके पराक्रम को राक्षसो की चुनौती थी। सीता को ढूँढते हुए जब वे गोदावरी के तट पर पहुँचे, तब वहाँ जटायु को पडा देखकर आँखें भर आई। उससे सारी कथा सुनकर रामने अपना धनुष दूर उठा फेंका और वे जटायु को गले से लगाकर अत्यन्त शोक के साथ लक्ष्मण के साथ रोने लगे। इतना ही नही, जटायु ने जैसे ही दम तोडा कि राम और भी व्याकुल होकर लक्ष्मण से कहने लगे—"इस समय मुझे सीता के हरण का इतना दु ख नही हो रहा है, जितना मेरे लिए प्राण त्याग करने वाले इस जटायु के मरने से हो रहा है।" और फिर जटायु का अन्त्येष्टि सस्कार उन्होने उस श्रद्धा के साथ किया मानो पिता का सस्कार कर रहे हो।

राम भक्ति देखते है, जाति नहीं :

सीता को ढूँढते हुए पम्पा सरोवर के तट पर मतंग वन मे वे शबरी के आश्रम पर जा पहुँचे। शबरी ने उन्हे जो बहुत से फलमूल लाकर अर्पित किये, उन्हे राम ने बड़े चाव से ग्रहण किया, क्योकि उन्होने शबरी की भक्ति देखी, उसकी जाति नही।

गुणग्राही राम :

ऋष्यमूक पर्वत के पास घूमते हुए राम-लक्ष्मण को देखकर सुग्रीव ने हनुमानजी से कहा—"जान पडता है, ये वाली के भेजे चले आ रहे हैं। तुम तत्काल साधारण पुरुष का सा वेश बनाकर उनकी थाह लेते आओ।" हनुमान ने उनके पास पहुँच कर उनकी बहुत प्रशसा की, उनके वन मे आने का कारण पूछा और फिर कहा—"मेरा नाम हनुमान है। धर्मात्मा सुग्रीव आपसे मित्रता करना चाहते हैं। मैं वायु का पुत्र उन्ही का मन्त्री हूँ, मैं जहाँ चाहूँ वहाँ पहुँच सकता हूँ और जैसा चाहूँ वैसा रूप बना सकता हूँ।"

हनुमान की बात सुनकर गुणग्राही राम बड़े प्रभावित हुए और उन्होने लक्ष्मण से कहा "जिसने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का विधि पूर्वक अभ्यास न किया हो और बहुत बार व्याकरण न पढा हो, वह ऐसी सुन्दर भाषा नही बोल सकता। क्योकि इतना सब कह जाने पर भी इनके मुख से एक भी शब्द अशुद्ध नही निकला।" यह थी राम की गुणग्राहकता। सीता के वियोग को भूलकर वे हनुमान के गुणो की प्रशसा करते नही अघाए।

वे हनुमान के साथ ऋष्यमूक पर्वत पर चले गये, जहाँ अग्नि को साक्षी देकर राम ने सुग्रीव से मित्रता कर ली।

अपयश सहकर भी मित्र की रक्षा :

अपने पैर के अंगूठे से दुन्दुभि के ककाल को दस योजन (१२८ कि० मी०) दूर उछाल फेंककर और एक बाण से सात ताड़ के वृक्षो को वेधकर राम ने सुग्रीव को विश्वास दिला दिया कि मैं वाली को मार सकता हूँ। उन्होने सुग्रीव से कहा कि तुम वाली को जा ललकारो। पर थोड़ी ही देर मे वाली ने सुग्रीव को ऐसा चपेटा कि सुग्रीव अधमरा-सा राम के पास भागा लौट आया और कहने लगा कि आपने मुझे तो वाली से लडने को भेज दिया और अपने आप न जाने कहाँ छिपे बैठे रहे। यदि वाली को नही मारना था तो मुझे पहले ही बता देते। राम ने समझाया कि तुम दोनो का रूपरंग, डील-डौल एक सा देखकर मैं पहचान नही पाया कि वाली कौन है। यह कहकर उन्होने पहचान के लिये लक्ष्मण से गजपुष्पी (दागदौन) की लता उखडवा कर सुग्रीव के गले मे डलवायी और कहा—"अब जाकर तुम वाली को ललकार आओ।" इस बार जैसे ही सुग्रीव ने वाली को ललकार कर उसके साथ मल्ल युद्ध छेडा कि राम ने ऐसा कसकर बाण चलाया कि वह वाली की छाती मे जा धँसा। राम को सामने देखकर वाली ने उन्हे बहुत फटकारते हुए यहाँ तक कह दिया "ऐसे धर्मात्मा राजा के पुत्र होकर और इस तपस्वी के वेश मे भला कौन ऐसा नीच कर्म करेगा ? आपको यही सब करना था तो यह साधुओ का सा बाना बनाकर क्यो चारो ओर दौड़ लगा रहे हैं ?" वाली ने और भी बहुत सी ऐसी-ऐसी बातें कह डाली। राम ने कहा—'जो भी कोई अपनी कन्या, बहिन या छोटे भाई की स्त्री पर बुरी दृष्टि डालता है उसका वध करना अत्यन्त उचित है और फिर मैंने सुग्रीव से मित्रता की है और इन्हे इनकी पत्नी और राज्य दिलाने की प्रतिज्ञा की है। मैं अपनी प्रतिज्ञा कैसे तोड़ सकता हूं ? मित्र का उपकार करना ही मित्र का धर्म है। तुम्हे मैंने धर्म के अनुसार दण्ड दिया है।"

छिपकर वाली के वध को बहुत लोगो ने बुरा बताया है। जब शस्त्र डालकर बैठे हुए द्रोणाचार्य का धृष्टद्युम्न ने सिर काट लिया, तब अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा था कि "छिपकर वाली को मारने से राम को जैसा अपयश मिला था, वैसा ही गुरुजी की हत्या से आपको भी अपयश मिलेगा।" किन्तु रामने अपयश की अपेक्षा मित्रता की रक्षा को विशेष महत्त्वपूर्ण समझा।

कृतज्ञता की सीमा राम :

जब हनुमान लंका जलाकर और सीताजी से मिलकर उनकी चूडामणि लेकर लौटे, तब चूड़ामणि देखकर और सब समाचार पाकर रामने हनुमान से कृतज्ञता पूर्वक कहा—"तुम्हे पुरस्कार देने योग्य तो मेरे पास कोई वस्तु है ही नही। महात्मा हनुमान ! मै तुम्हे प्रगाढ आलिंगन प्रदान करता हूँ, क्योकि यही स्नेह का सबसे बड़ा पुरस्कार है।" यह कहकर राम ने हनुमान को कसकर छाती से लगा लिया। आज कौन किसी का इतना उपकार मानता है ?

शरणागत-वत्सल राम :

मन्दोदरी ने भी रावण को बहुत समझाया कि "सीता को लौटाकर राम से सन्धि कर लीजिए, किन्तु उसने किसी की एक न सुनी। तब विभीषण ने रावण को आकर बहुत समझाया--"देखो ! यह भली भाँति समझ लो कि राम को कोई लडकर नही जीत पा सकता। इसलिये

अपना और राक्षस-कुल का कल्याण चाहते हो तो तत्काल उन्हे सीता लौटा दो। विभीपण की वात सुनकर रावण वहुत झल्लाया और विभीपण से वोला—"जो मित्र वन कर शत्रु की सेवा करता हो उसके साथ कभी नही रहना चाहिए। तुझे धिक्कार है। यदि कोई दूसरा होता तो उसका सिर होता और मेरी तलवार।"

तत्काल विभीपण अपने साथ चार मन्त्रियो को लेकर आकाश-मार्ग से राम की शरण मे जा पहुँचा। उसे देखते ही राम के सभी वानर मन्त्री कह उठे 'यह रावण का भाई राक्षस है, इसका न तो कोई विश्वास ही करना चाहिए न इसे शरण ही देनी चाहिए।" सब की बात सुनकर राम ने शरणागत की रक्षा का महत्त्व वताते हुए कहा—' देखो भाई। जो भी कोई मेरी शरण में आकर केवल इतना भर कह देता है कि ' मैं तुम्हारा हू' वस उसे मैं ऐसा निर्भय कर देता हू कि ससार का कोई भी प्राणी उसका वाल वाँका नही कर सकता। यही मेरा सदा का व्रत है।" तत्काल राम ने रावण के वध की प्रतिज्ञा करके लक्ष्मण से समुद्र का जल मँगवाकर विभीपण को लका के राज्य पर अभिपिक्त कर दिया।

राजनीतिज्ञ राम :

समुद्र पर पुल वँधवाकर और लका मे सुवेल पर्वत पर पहुँचकर राम चाहते तो रावण पर सीधे चढाई कर सकते थे। किन्तु उन्होने धर्मयुद्ध की नीति के अनुसार रावण को समझाने के लिए अगद को उसके पास दूत वनाकर भेजा। पर अगद के वहुत समझाने पर भी रावण नही माना और उसने चार राक्षसो को आदेश दिया कि इसे पकडकर अभी मार डालो। पर अगद उन सव को लिए-लिए ऐसे झटके से छत पर उछल चढे कि वे चारो मुँह के वल धरती पर आ गिरे और अगद सकुशल राम के पास लौट आए।

राम की महत्ता :

राम और रावण के अप्रतिम युद्ध के पश्चात् जव रावण मारा गया, तव विभीषण की भी आँखें वरस पडी। रामने विभीपण को वहुत समझा-बुझाकर शान्त किया और कहा कि 'देखो! वैर तो जीवन-काल तक ही रहा करता है, मरने पर वह समाप्त हो जाता है। हमारा प्रयोजन पूरा हो चुका। अव तुम इनका सस्कार कर डालो क्योकि अव तो ये मेरे भी वैसे ही भाई है जैसे तुम्हारे।

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥"

अपयश-भीरु राम :

विभीपण का राज्याभिपेक हो जाने पर राम की आज्ञा से जव विभीपण सीताजी को राम के पास लाये, तव रामने उन्हें अस्वीकार करते हुए कहा कि "रावण तुम्हे अपनी गोद मे उठा ले गया था और उसने तुम पर कुदृष्टि भी डाली थी, इसलिये मै तुम्हे ग्रहण नही कर सकता। जिस उद्देश्य से मै ने युद्ध करके तुम्हे जीता है वह सिद्ध हो गया। अतः, तुम जहाँ जाना चाहो वहाँ चली जा सकती हो।"

यह सुनकर सीताजी ने व्यथित होकर कहा—"आप मुझसे ऐसी कठोर, अनुचित कर्णकटु और रूखी बातें कह रहे है, जैसा कोई निम्न श्रेणी का पुरुष भी किसी निम्न कोटि की स्त्री से नही कह सकता। मैं वैसी नही हूँ, जैसी आप मुझे समझ बैठे हैं। यदि मुझे त्यागना ही था तो हनुमान को लंका मे क्यो भेजा था? यदि उसी समय हनुमान आकर त्याग की बात सुना देते तो मैं तभी प्राण त्याग देती। आपने यह भी ध्यान नही किया कि बाल्यावस्था मे ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया है। आपके प्रति जो मेरी भक्ति है और जो मेरा शील है उसे भी आप भुला बैठे?"

यह कहते कहते सीताजी का गला भर आया और उन्होने लक्ष्मण से कहा--' झटपट मेरे लिए चिता तैयार कर दो।" राम का सकेत पाकर लक्ष्मण ने चिता तैयार करके सुलगा जलाई। सीता ने हाथ जोड़कर अग्निदेव से कहा—"यदि मेरा हृदय कभी एक क्षण के लिये भी श्रीराम से दूर न हुआ हो और यदि मैं सर्वथा निष्कलक हूँ तो मेरी सर्वथा रक्षा कीजिए।" यह कहकर सीताजी ने अग्नि की परिक्रमा की और नि:शक होकर अग्नि मे जा बैठी। यह देखकर तो सब राक्षस और वानर हाहाकार कर उठे। उसी समय ब्रह्मा के साथ देवताओ ने आकर राम से कहा कि अग्नि मे शुद्ध होने पर भी आप सीताजी की क्यो उपेक्षा किये जा रहे है? अग्नि शान्त हो गई और अग्निदेव सीता को गोद मे लिए ऊपर उठ आए और राम से कहने लगे–' आपकी यह धर्मपत्नी सीता निष्पाप और निर्दोष हैं। रावण के अन्त:पुर मे वन्दी रहकर भी इनका चित्त सदा आप मे ही रहा, आप इन्हे स्वीकार कीजिए।"

राम कहने लगे-"सीता की शुद्धता की परीक्षा के लिए ही मैंने यह कहा था, अन्यथा लोग मुझे बहुत दोप देते। मै जानता हूँ कि तीनो लोको मे ये परम पवित्र है। जैसे मनस्वी पुरुष कीर्तिका त्याग नही कर सकता, वैसे ही मैं भी इन्हे नही छोड सकता।" यह थी राम की अपयश-भीरुता और सीता की पवित्रता मे अखण्ड विश्वास।

राम का राजधर्म :

बहुत वर्षो तक राज्य कर चुकने पर एक दिन रामने सीताजी के शरीर मे गर्भ का लक्षण देखकर उनसे पूछा-"तुम्हारी क्या दोहद इच्छा है?" सीताजी ने कहा "मैं मुनियों के आश्रम देखना चाहती हूँ।" राम ने स्वीकार कर लिया।

एक दिन भद्र नाम के गुप्तचरने आकर रामसे कहा कि "लोग यो तो आप सब की ही बडी प्रशंसा करते है, पर साथ ही यह भी कहने लगते है कि जिस सीता को रावण गोद मे उठाकर लका ले गया और उस राक्षस के यहाँ इतने दिन रही, यह देखकर भी राम को बुरा क्यो नही लग रहा है? यदि हमारी स्त्रियाँ भी ऐसा करने लगेगी तो हमे भी ऐसे ही यह सब सहना पड़ेगा क्योकि राजा जैसा करता है, वैसा ही प्रजा भी करने लगती है।"

रामने तत्काल अपने भाइयों को बुलाकर कहा—"देखो, तुम लोगो के ही भरोसे मैंने राजधर्म स्वीकार किया है और तुम्हारी सहायता से ही इस राज्य का पालन कर रहा हूँ। लका मे सीता ने अग्नि मे प्रविष्ट होकर अपनी पवित्रता का पूरा प्रमाण दे डाला था, किन्तु अब ऐसा लोकापवाद फैलता जा रहा है कि लोक का आराधन करने के लिए सीता को छोडने मे ही राज्य का कल्याण है। वे मुनियो का आश्रम देखना भी चाहती है। इसी बहाने लक्ष्मण! तुम सीता

को तमसा के तीर पर वाल्मीकिजी के आश्रम मे छोड आओ। राम ने अपनी शपथ दिलाकर तीनो भाइयो से कहा कि मेरे इस निश्चय के विरुद्ध कोई मुँह न खोलना। सबने भारी मन से अपने मुँह सी लिए :

अगले दिन सवेरे ही सीताजी को लेकर लक्ष्मण गगा पार करके तमसा के तट पर जा पहुँचे जहाँ, लक्ष्मण ने उन्हे राम की आज्ञा सुनाकर कहा—"आप वाल्मीकिजी के आश्रम मे रहिए।"

यह सुनते ही सीता मूर्च्छित होकर गिर पडी, किन्तु फिर बडे धैर्य के साथ उन्होने लक्ष्मण से कहा—"जाकर मेरी सासुओ से हाथ जोडकर उनके चरणो मे वन्दना करके राजा राम से कुशल पूछना और फिर धर्मात्मा राजा से कहना कि 'आप भली भाँति जानते हैं कि मै शुद्ध हूँ, फिर भी आपने मुझे अपयश के भय से जो छोड दिया है, तो आपकी धर्मपत्नी होने के नाते मेरा भी परम कर्त्तव्य है कि आपके अपयश को दूर करने मे सहायक बनूँ। नागरिको मे जो आपकी बदनामी फैल गई है, उसके निमित्त मुझे अपने प्राण देकर भी अपने पति का हित करना चाहिए, क्योकि स्त्री के लिये तो पति ही एकमात्र देवता, वन्धु और गुरु होता है।"

लक्ष्मण अत्यन्त दुखी मन से वहाँ से लौट आए। लौटकर लक्ष्मण ने देखा कि राम व्याकुल हुए बैठे हैं। उन्होने लक्ष्मण से कहा—"जानते हो ? मैने ये तीन-चार दिन कैसे काटे हैं ? मैंने इस बीच राजकार्य भी नही किया।" सीता से इतना प्रगाढ प्रेम होते हुए भी उन्होने राजधर्म को व्यक्ति-धर्म से अधिक बडा समझा। लोग सीता परित्याग पर राम की निन्दा तो करते है, पर राम की महत्ता कौन समझता है ? और फिर उन्होने सीता को भी वाल्मीकि के आश्रम मे भेजा था, जगल मे नहीं भेज छुड़वाया था।

एक पत्नी-व्रती श्रीराम :

सीता का परित्याग करने पर जब राम ने अश्वमेध यज्ञ किया तब उन्होने स्वर्ण की सीता की प्रतिमा यज्ञ-मडप मे बनवा धरवाई, क्योकि पत्नी के बिना यज्ञ नही होता। यह थी सीता के प्रति रामकी उदात्त भावना और उनका एक पत्नीव्रत।

राजा का कठोर धर्म :

कुछ समय पश्चात् एक दिन तपस्वी के रूप मे आए हुए काल को लक्ष्मण ने राम के पास ले जा पहुँचाया। काल ने राम से कहा कि हमलोगो की बातचीत के बीच जो भी कोई आए, उसका वध करना होगा। यह स्वीकार करके रामने लक्ष्मण को द्वार पर भेज बैठाया। उनकी बातचीत चल ही रही थी कि द्वार पर दुर्वासा ऋषि ने आकर लक्ष्मण से कहा कि जाकर राम को मेरे आने की सूचना दे आओ। लक्ष्मण ने विनय पूर्वक कहा—"मैं भी आपका दास ही हूँ। जो कहे, अभी कर दूँ। श्रीराम व्यस्त हैं।" किन्तु जब दुर्वासा ने शाप का भय दिखाया, तब लक्ष्मण ने जाकर दुर्वासा के आगमन का समाचार राम को दे ही दिया। काल भी चला गया और दुर्वासा भी सन्तुष्ट होकर चले गये। किन्तु काल के वचन को स्मरण करके राम व्याकुल हो उठे। लक्ष्मण ने उनसे कहा—'आपने जो प्रतिज्ञा की है, उसे पूर्ण कर डालिए। सोचिए विचारिए मत।'

मन्त्रियों ने रामको सम्मति दी कि देश-निकाला भी वध के ही समान है। अतः इनको देश छोडने को कह दिया जाय। लक्ष्मण ने वहाँ से जाकर सरयू के तट पर अपने प्राण छोड दिए।

जिस लक्ष्मण ने दुःख-सुख मे सदा सेवक और आज्ञा पालक भृत्य की भांति रामकी सेवा की थी उसे भी रामने राजा का धर्म और अपने वचन का पालन करने के लिए छोड देने मे कोई सकोच नही किया।

यह था राम का अत्यन्त प्रेरक उदात्त उच्च चरित्र, जहाँ आजतक न कोई पहुँच सका, न पहुँच सकेगा। □

हम चाकर रघुवीर के पटौ लिख्यौ दरबार।
तुलसी अब का होहिगे नर के मनसबदार॥

—तुलसी

रसेश्वर कृष्ण

पं० अक्षयचन्द्र शर्मा

सिन्धु-वेला पर आर्द्र वालुका से घरौदा बनाते हुए क्रीडा-मग्न शिशु से कोई पूछे—"समुद्र कहाँ है ?" वह हाथ उठाकर समुद्र को लक्ष्य कर कहे—"यह समुद्र है।" क्या इस उत्तर मे समुद्र की क्षण-क्षण बदलती मुद्राएँ समाहित हैं ? क्या इस उत्तर मे वह समुद्र रूपायित हुआ है, जिसमे उत्ताल तरगें उठती है, जो कभी क्रीड़ा कल्लोल करती चटुल वीचि-मालाओ से, तो कभी फेनिल फुफकारती फणी सदृश ऊर्मियो से-कान्त भीम रूप धारण करता है। कृष्ण का चरित भी ऐसे ही अकूल अतल समुद्र की तरह है, जो अनन्त रूपो मे उद्रिक्त होता है, जो विविध मुद्राएँ धारण करता है।

कृष्ण का जीवन-चित्र विविध वर्णों से रजित है। ये वर्ण, ये रग इतने चटकीले, इतने धूमिल, इतने विरोधी है कि आश्चर्य—यह चित्र बदरग क्यो नही हुआ ? विविध विरोधी वर्णो से रजित यह चित्र विश्व का सर्वोत्तम सुरगा चित्र है, इन्द्रधनुषी सतरगी चित्र, जिसमे एक ओर धरती की सोधी गन्ध है, हरितच्छटा है, तो दूसरी ओर शोभित है, गगन मण्डल मे तना हुआ "रत्नच्छाया व्यतिकर" आखण्डल का धनुखण्ड ! चित्र मे भव्यता और दिव्यता है। इसमे ब्राह्म-तेज एव क्षात्र-शौर्य, इसमे अनुराग और विराग, इसमे प्रवृत्ति और निवृत्ति, इसमे त्याग और भोग, इसमे तारुण्य का तेज और प्रौढ की परिपक्वता, एक साथ कौशल से चित्रित है। सभी रग यथास्थान, कही भी तूलिका असन्तुलित नही, कही भी रेखामात्र का असयमित अकन नही। यह चरित वन्दनीय है, स्यात् अनुकरणीय नही।

कृष्ण के इस चरित से आचार्य धन्य हो गये ! उन्हे कृष्ण दीखते है·–साक्षात् भगवान्; वे अवतार नही, अवतारी है; "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" निर्गुण। निराकर ब्रह्म मे जो आनन्द है, वह गणितानन्द है, उस आनन्द को गिना जा सकता है, पर, कृष्ण ! ये तो अगणितानन्द हैं सच्चिदानन्द घन-आनन्द के अनन्त सागर, जो मोद-प्रमोद युक्त हैं, जिनकी लीला का विलास है, यह अखिल ब्रह्माण्ड। जो पुरुषोत्तम हैं। भगवान् कृष्ण के ही शब्दो मे—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तमः॥

—गीता १५–१८

क्योकि मैं नाशवान्, जड वर्गक्षेत्र से सर्वथा अतीत हूँ और माया स्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक मे और वेद मे भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। क्षरपुरुष से अतीत और अक्षर पुरुष से उत्तम—अत· मैं पुरुषोत्तम !

कृष्ण के इस विराट चित्र को चित्रित करने मे सहस्राब्दियो की जीवनव्यापी लौकिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक एव कलात्मक साधनाएँ, आराधनाएँ एवं कल्पनाएँ समाहित है। "भगवान् के अवतार की या महापुरुष की शक्तियो, गुणो और कार्यों का वर्णन करने मे लेखको, कवियो, साहित्यिको, कलाकारो, भक्तो, सन्त-महन्तो, पौराणिकों, कथावाचको आदि ने अपने-अपने अनुभव, अपनी-अपनी प्रतिभा और अपनी-अपनी कढेला का चमत्कार उँला है।···इस प्रकार वसुदेव-देवकी का जेल मे पैदा हुआ वेटा, गोकुल के नन्द-यशोदा जैसे अहीर के घर में जन्म लेकर गायें चराना, ग्वालवालो और वालिकाओ के साथ खेलकूद करता हुआ छोकरा आज परब्रह्म परमात्मा का पूर्ण अवतार होकर हमारे सामने आ गया है। यह हमारा इतना वड़ा अहोभाग्य है और हम तो क्या खुद श्रीकृष्ण भी उन भक्तो और कवियो पर वलि जाएँगे और उनके सदैव कृतज्ञ रहेगे।"

स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्य की सम्मति मे श्रीकृष्ण जैसा सर्वतोपरि अद्वितीय पुरुष भारत मे तो ठीक, किसी भी देश मे आज तक पैदा नही हुआ। अलौकिक पराक्रम, अप्रतिम बुद्धि-मत्ता, असामान्य स्वार्थ-त्याग इत्यादि सद्‌गुणो के कारण श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व ऐतिहासिक ही नही, वल्कि काल्पनिक व्यक्तियो मे भी शिरस्थानीय है। नेपोलियन के ऐसा पराक्रमी और बुद्धिमान् इतिहास मे दूसरा नही मिलता, परन्तु उसकी स्वार्थ-परायणता भी उसी तरह वेहिसाव थी। सार्वभौम वन जाने पर भी अन्त मे रक होकर जेल मे उसकी मृत्यु हुई। इसके विपरीत श्रीकृष्ण ने अपने जीवन मे जो-जो ठाना सव कर दिखाया। वडे-वड़े युद्धो मे और राजनीतिक समस्याओं मे उनकी वुद्धिमत्ता से ही विजय प्राप्त हुई। स्वार्थ तो उन्हे छू तक नही गया था। नेपोलियन का पराक्रम, वार्शिगटन का स्वार्थत्याग, ग्लैडस्टन, विस्मार्क प्रभृति राजनेताओ का नय श्रीकृष्ण मे एकत्र हो गये थे। और सवसे वड़ी वात यह, कि श्रीकृष्ण जैसे राजनीति मे अग्रणी थे, वैसे ही परमार्थ मे भी थे।

वुद्ध, ईसा, मुहम्मद इत्यादि धर्म-सस्थापकों मे उनकी गिनती की जा सकती है। ईसा ने सौजन्य से, वुद्ध ने वुद्धिवाद से तथा मुहम्मद ने अपने निश्चय के वल पर धर्म-प्रसार किया। श्रीकृष्ण मे निश्चय, सौजन्य और बुद्धिवाद तीनो का सम्मेलन हुआ था। वल, सौन्दर्य, वुद्धि, पराक्रम, साहस, नये निश्चय, शान्ति, सौजन्य, ज्ञान, स्वार्थ-पराङ्‌मुखता इत्यादि अनेक लोकोत्तर गुण भोगैश्वर्य सहित श्रीकृष्ण मे थे। श्रीकृष्ण को हम भारतीय आर्य, जो परमेश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, उसका कारण यही है। श्री रामचन्द्र पराक्रम और नीति-मर्यादा के उत्कर्ष मे नरशिरोमणि थे, परन्तु रामावतार मे ज्ञान का उपदेश भगवान् ने स्व-मुख से नही दिया। श्रीकृष्ण ने अपने उप-देशामृत से भारतवर्ष के हृदयपटल पर ऐसा अमिट सिक्का जमा दिया कि उसे पोछ डालना सम्भव नही है। श्रीकृष्ण के उपदेश और चरित्र ने भारतीय इतिहास को जो मोड दिया, उसे वदला नही जा सकता। जिसके कान मे भगवद् गीता की वशीध्वनि, ज्ञान-रव पड गया है उसे फिर दूसरी ध्वनि मधुर लग ही नही सकती। आर्यो के वेदान्त-ज्ञान रूपी दुर्ग मे भगवद्‌गीता मानो शतघ्नी-तोप हैं। उसके प्रहार के वाद इस किले पर दूसरा आक्रमण हो ही नही सकता। यही नही, वल्कि इस दिव्य अस्त्र के सहारे भारतीय आर्यो का तत्वज्ञान सारे ससार को जीतता हुआ दिखाई देता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति हम भारतीय आर्य जो असीम आदर रखते है, वह उचित और सकारण ही है। और आश्चर्य तो यह है कि हमारी आर्य-भूमि के सभी प्रकार के लोगो मे श्रीकृष्ण समान

रूप से प्रिय और पूज्य है। वैदिक लोग "हरि. ॐ" कह कर वेद-पाठ करते हैं। कर्मठ लोग कर्म के आरम्भ मे परमेश्वर के जो चौवीस नाम लेते हैं, उनमे श्रीकृष्ण का ही नाम अन्तिम है। योगी लोग श्रीकृष्ण को योगेश्वर मानते है, भक्ति-मार्गी उनका भजन करके भगवच्चरण मे लीन होते है। मथुरा-वृन्दावन मे तो श्रीकृष्ण नाम की ध्वनि से घर-वार, मन्दिर, घाट, पृथ्वी-आकाश गूँज रहा है। क्या महाराष्ट्र, क्या वगाल, क्या मद्रास और क्या गुजरात, सभी जगह भावुक भक्त श्रीकृष्ण का सकीर्तन करते और नाचते हैं और ध्यानस्थ हो जाते हैं। सारे भारत मे आर्य स्त्रियो के मुख से श्रीकृष्ण की ही वाल–लीला के गीत-भजन सुनाई देते हैं। सुवह उठते ही वे चक्की पीसते-पीसते, वच्चो को जगाते हुए, श्रीकृष्ण के ही गीत गाती हैं। भारतखण्ड के सभी आर्य-धर्मी स्त्री–पुरुप, वाल-वृद्ध, धनी गरीव, नागर-ग्राम्य, पडित-मूर्ख, सस्कृत-असस्कृत, ससारी–परमार्थी, सभी के विचारो और उच्चारो मे श्रीकृष्ण का ही नाम और चरित्र समाया हुआ है।

किशोरीलाल घ० मश्रुवाला ने कृष्ण के चरित की विविध-वर्णी छटा का मार्मिक वर्णन करते हुए लिखा है. "श्रीकृष्ण का समूचा चरित्र निःस्वार्थ लोक–सेवा का एक अनुपम उदाहरण हैं। अपने जन्म के समय ले लेकर लगभग सौ सवा सौ साल तक वह कभी चैन से नही वैठे। वचपन गरीवी मे दूसरो के घर विताया, पर उस वचपन को भी उन्होने ऐसे सुन्दर ढग से सुशोभित किया कि भारतवर्ष की अधिकाश जनता वालकृष्ण पर ही मुग्ध होकर उनके उतने ही जीवन को अवतार मानने मे धन्यता का अनुभव करती है। उनकी जवानी माता–पिता की सेवा मे, भटकते हुए स्वजनो को इकट्ठा करके उनमे नवजीवन जगाने मे, अपने पराक्रम द्वारा निःसहाय राजाओ की सहायता करने मे और साम्राज्य-लोभी राजाओ का सहार करने मे वीती। उन्होने अपने जीवन का तीसरा काल तत्व-चिन्तन और ज्ञान–प्राप्ति मे विताया। इसके वाद उन्होने युद्धो से मुँह मोड लिया। फिर भी अपनी चतुराई से न्यायेच्छु को न्याय दिलाने मे वह कभी पीछे न हटे। उन्ही के कारण नरकासुर के पजे से अवलाओ को मुक्ति मिली, जरासन्ध का नर–मेध रुका और पांडवो को न्याय मिला। राजकाज की वड़ी-से–वडी खटपट मे पड़कर भी उन्होने कभी मजाक मे भी असत्य भापण नही किया, धर्म का पक्ष नही छोडा और विजय मे भी शत्रु का तिरस्कार नही किया।"

ऋपि-कल्प डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने कृष्ण चरित की उदात्तता एव विराट् विभूतिमत्ता का सवाक् चित्र अकित करते हुए लिखा है—"कृष्ण को हमारे देश के जीवन-चरित्र-लेखको ने "सोलह कला का अवतार" कहा है। इसका तात्पर्य क्या है? यह स्पष्ट है कि भिन्न वस्तुओ को नापने के लिए भिन्न-भिन्न परिमाणो का प्रयोग किया जाता है। दूरी को नापने के लिए और नाप है, काल के लिए और है, तथा वोझे के लिए और है। इसी प्रकार मानवी पूर्णता को प्रकट करने के लिए कला की नाप है। सोलह कलाओ से चन्द्रमा का स्वरूप सम्पूर्ण होता है। मानवी आत्मा का पूर्णतम विकास भी सोलहो कलाओ के द्वारा प्रकट किया जाता है। कृष्ण मे सोलह कला की अभिव्यक्ति थी, अर्थात् मनुष्य का जो मस्तिष्क मानवी विकास का पूर्णतम आदर्श वन सकता है, वह हमे कृष्ण मे मिलता है। नृत्य, गीत, वादित्र सौन्दर्य, वाग्मिता, राजनीति, योग, अध्यात्म, ज्ञान, सवका एकत्र समवाय कृष्ण मे पाया जाता है। गो-दोहन से लेकर राजसूय यज्ञ मे ब्राह्मणो के चरण धोने तक तथा सुदामा की मैत्री से लेकर युद्ध भूमि मे गीता के उपदेश तक उनकी ऊँचाई का एक पैमाना है, जिस पर सूर्य की किरणो की रग-विरगी पेटी (स्पेक्ट्रम) की तरह हमे आत्मिक विकास के हर एक स्वरूप का दर्शन होता है।

कृष्ण के उच्च स्वरूप की पराकाष्ठा हमारे लिए गीता में है। सब उपनिषद यदि गौएँ हैं तो गीता उनका दूध है। इस देश के विद्वान किसी ग्रन्थ की प्रशसा मे इससे अधिक और क्या कह सकते थे ? गीता विश्व का शास्त्र है, उसका प्रभाव मानव जाति के मस्तिष्क पर हमेशा तक रहेगा। ससार मे जन्म लेकर हममे से हर एक के सामने कर्म का गम्भीर प्रश्न बना ही रहता है। जीवन कर्ममय है, ससार कर्मभूमि है। गीता उसी कर्मयोग का प्रतिपादक शास्त्र है। कर्म का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है और किस प्रकार उस कर्म का निपटारा करने से मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय और शान्ति को प्राप्त कर सकता है, इन प्रश्नो की सर्वोच्च मीमांसा काव्य के ढग से गीताकार ने की है। अतएव यह ग्रन्थ न केवल भारतवर्ष वल्कि विश्व साहित्य की वस्तु है।

कृष्ण भारतवर्ष के लिए एक अमूल्य निधि है। उनका हर एक स्वरूप यहा के जीवन को अनुप्राणित करता है। जिस युग मे इन्द्रप्रस्थ और द्वारका के वीच उनका किंकिणीक रथ बलाहक मेघपुरुष, शैव्य और सुग्रीव नामक अश्वो के साथ झनझनाता रहता था, न केवल उस समय कृष्ण भारतवर्ष के शिरोमणि महापुरुष थे, वल्कि आजतक वे हमारी राष्ट्रीय सस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि वने हुए हैं। जिस प्रकार पूर्व और पश्चिमी समुद्रो के वीच के प्रदेश को व्याप्त करके गिरिराज हिमालय पृथ्वी के मानदण्ड की तरह स्थित है उसी प्रकार ब्राह्म धर्म और क्षात्रधर्म इन दो मर्यादाओ के वीच की उच्चता को व्याप्त करके श्रीकृष्णचरित्र पूर्ण मानवी विकास के मानदण्ड की तरह खडा है।"

जीवन के छलकते प्याले को अन्तिम बूँद तक पीने वाले

कृष्ण ने बहुत लम्बी आयु प्राप्त की—१२० वर्ष। इस जीवन के मधुर मादक प्याले को—छलकते प्याले को—ये अन्तिम बूँद तक, तलछट तक खूब गहराई से सघन सान्द्रता से झूमकर, गाकर, नाचकर, हँसकर पीते रहे—जीवन के कटुतिक्त विषाक्त कण—पीयूष कण बनाते हुए पीते रहे, क्षण मे जीना वर्तमान मे जीना, पूर्ण जीना—यही कृष्ण है। न भूत की स्मृतियो का दुःसह भार, न पश्चात्ताप, न अतीत का चर्वित चर्वण और न भविष्य की आशकाएँ, न भावी के मीठे सपने बस-वर्तमान—ना, वर्तमान का यह भागता क्षण—इसी को कृष्ण ने इतनी गहराई से पकडा कि वह काल के निपग से छिटक कर शाश्वत वन गया—जीवन की अनन्तता, विराट् विभुता इस क्षण मे समाहित हो गई। जैसे विन्दु मे सिन्धु ! ये क्षण ज्ञान के आलोक से आलोकित, रस से सिंचित और कर्म की ऊर्जा से प्रोद्भासित थे—इसी मे कृष्ण की समग्रता, सम्पूर्णता और अक्षयता है।

जीवन—एक महोत्सव

माता-पिता कारागार मे वन्दी है अतः वह शिशु दूसरे स्थान पर अपना वाल जीवन विताता है। यह वाल जीवन तो काव्य है, काव्य ! बाल्यजीवन-शत सहस्र रगो से रँगा हुआ—जिसने भारतीय जन-मानस के मरुप्रदेश मे पीयूष मदाकिनी प्रवाहित की और आज भी उसके स्निग्ध छीटो से हम पुलकित, रोमाचित हर्षित होते है। वही तरणि-तनुजा के तट पर-किसी चन्द्रिका धवल राका निशि में, जव उस नट नागर की अघटित घटना पटीयसी योग-माया सी नाद ब्रह्म स्वरूपा मुरली व्रज के करील कुञ्जो मे बजती है, तो आर्य-मार्ग से अतिक्रान्त रास का समारम्भ होता है। रास-रसो का समूह रास—एक ब्रह्माण्डव्यापी शाश्वत नृत्य, जो नूपुरों से झण-

झणायमान है, किंकिणियो के क्वणन से रशनाओ की क्षुद्र घण्टियो के रणन से झंकृत है। जीवन मानो एक लीला है, एक महोत्सव है, एक नृत्य है—आनन्द का मोद-प्रमोद का—विशुद्ध निराविल घनरूप ! आज भी भारत के गांव-गांव उसी बांसुरी की धुन पर नृत्य विभोर है और उसी का सुमधुर स्वर-दूरदूर दिगन्तव्यापी बुद्धि, विज्ञान और तर्क से जड क्षितिजो को मुखरित कर रहा है।

मुड़कर पीछे झांका तक नहीं

जब ब्रज को छोडा तो ऐसा छोडा—जैसे वह कुछ नही था, फिर मुडकर पीछे ताका तक नही। यही कृष्ण का सौन्दर्य है, यही वैशिष्ट्य है। मथुरा मे कस-वध, फिर गुरुकुल मे शिक्षा ग्रहण और फिर अकस्मात् मथुरा से पलायन—सुदूर सिन्धु तट पर नये उपनिवेश द्वारकापुरी का निर्माण। फिर एक क्षण का विश्राम नही। भारत, अखण्ड भारत के स्वप्न-द्रष्टा कृष्ण—छोटे-छोटे क्षुद्र माण्डलीक महत्वाकाक्षी राजाओ का, आततायियो का विनाश कर, वृहत्तर भारत के निर्माण मे जुट जाते है। उनका चार श्वेत अश्वो से जुता स्यन्दन रात और दिन, दिन और रात अविश्रान्त गति से बीहड वनो, गिरि कान्तारो और ऊबड-खाबड घाटियो को सम करता—नये प्रशस्त पथो का निर्माण करता, घूमता रहा। और फिर धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र मे गीता का गुरु-गम्भीर घोष !

कृष्ण का जो चरित्र-चित्र हमारे सामने उभरता है, उसमे इतना वैविध्य है कि हम विस्मित, अवाक् रह जाते है। कभी गायें चराते हैं, कभी बासुरी बजाते हैं, कभी नाचते गाते, रूठते मचलते मिलते है, कभी दुष्टो का सहार करते मल्ल वन शौर्य प्रदर्शन करते हैं—सभी जगह अनासक्त। चरण प्रक्षालन करना, जूठे पत्तल उठाना, रथ हाँकना, और अग्र पूजा के रूप मे सर्वोच्च सम्मान पाना—पर, सभी जगह एक से, एक रस, निर्विकार, निःस्पृह और असंग। विपुल भोग रागो के मध्य पद्म-पत्रवत् निर्लिप्त ! मृत्यु एव नाश के महाताण्डव के मध्य भी, वही निर्वात निष्कम्प दीप-शिखावत्—अलोल, अडोल, स्व-स्वरूप मे स्थित।

कृष्ण के इन स्वरूपो मे हमारे मानस पर ये दो रूप सदा अकित रहते हैं :

(१) बाल जीवन का चपल रगीन चित्र

(अ) रास लीला की किशोर छवि की अरुणिमा

(२) गीता-गायक एक उज्ज्वल शाश्वत गौरीशकर शृंग।

(अ) बाल-जीवन का चपल चित्र

(शाश्वता मां) यशोदा की क्रोड में क्रीड़ा करता (चिरन्तन शिशु) कृष्ण

जब भी मा बेटे को याद करती है, और कोई याद नही आते। कितने ऋषि-महर्षि, सन्त, धीर-वीर, कितने अवतार, बुद्ध-तीर्थंकर—क्या ये बच्चे नही थे, क्या इनके माताएँ नही थी ? सभी कुछ था, पर कहाँ थे मा के नेह भरे नैन, जो अपने बालक की केलि-क्रीडाओ मे, उनके तोड-फोड मे, उनकी शरारतो और नटखटपन मे तन्मय होकर रस ले, अपने को भूल जाये और न्यौछावर कर दे स्वर्ग-अपवर्ग को ? पर-ऐसा कहाँ ? हमारा साहित्य ऐहिक जीवन की उल्लासभरी रँगरेलियो से, धरती की स्वस्थ सोंधी गन्ध से दूर स्वर्ग की छलना मे खोया रहा, मुक्ति के व्यामोह से ग्रस्त था, या फिर अस्वास्थ्यकर भोग-पक से रुग्ण।

धन्य है व्रज, व्रज के यायावर अहीर, तरणि-तनुजा के कछार, वहाँ के रेणु-मण्डित ग्वाल बाल और धन्य है व्रज के गोपी-गोप और सर्वोपरि धन्य हैं माँ यशोदा और नन्द बाबा।

माँ तो बस एक ही हुई—जसोदा मैया और बालक एक हुआ—कुँवर कन्हैया! बचपन आवे, बच्चा झूले पर न झूले, घुटनो के बल न रेंगे, धूल मे न खेले, तोड़फोड न करे, शरारत न करे, आपस मे धक्कम धक्का न करे, लुकने-छिपने का खेल न खेले, न झूठ, न शरारत, न बहाना, न शिकायत, न रूठना, न झगडना—और उनमे राष्ट्र तन्मय होकर आनन्द न ले, तो फिर राष्ट्र मे उमग, उत्साह कहाँ, ताजगी कहाँ, सरलता कहाँ, नित नूतन स्पन्दन कहाँ?

आज कही कृष्ण होते, तो माता-पिता उससे तग आ जाते, हमारे विद्यालय उसे प्रोब्लेम चाइल्ड—समस्या-बालक घोषित कर देते और किसी मनोविश्लेषक की प्रयोगशाला मे उसका सारा बचपन ठण्डा हो जाता और समाज को एक निस्तेज शान्त व्यक्ति या उदरभरी विद्या के लिए दौड-धूप करने वाला व्यक्ति मिलता। पर यह था—व्रज! बाल्य-जीवन की अनन्त किलकारियो से तरगित-महासागर।

जन्मोत्सव

नन्द महर के घर बच्चा जन्मा है, सारा गोकुल उमड पडा है। घर, द्वार, आँगन झाड-बुहार दिये गये, सुगन्धित जल का छिडकाव हुआ है। ध्वजा-पताकाएँ लहराने लगी है, पल्लवो की वन्दनवारो से घर-द्वार सजाया गया है। ग्वाले अगरखो और पगडियो से सज्जित हो बधाई देने आये है। गोपियो की चोटियो मे गूँथे हुए फूल बरसते जा रहे है। हल्दी-तेल मिला पानी एक-दूसरे पर छिडक रहे हैं। मगल गीतो से वातावरण गुंजरित है—

(अ) व्रजः सम्मृष्ट ससिक्त द्वाराजिर गृहान्तरः।
चित्र ध्वजापताका स्रक् चैल पल्लव तोरणैः॥

(आ) महार्घ वस्त्राभरण कचुकोष्णीष भूषिताः।
गोपा समाययू राजन् नानोपायन पाणयः॥

जब भी मौका आया है, व्रज ने नये उल्लास का अनुभव किया है। बच्चे ने करवट बदली है या वह करवट बदलने के कगार पर है, तो एक उत्सव हो, व्रज मे जैसे उत्सवो की ही भीडभाड है—जीवन ही जैसे उत्सव है। घुटनो के बल चलना, धूल मे खेलना, जानवरो की बोली बोलना, माखन चोरी करना, गाये चराने जाने जैसे हजारो प्रसग है। इस परमहसों की सहिता मे—श्रीमद्भागवत मे—महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित मात्र, पर, जो कही जा रही है शिशुवत् महर्षि शुकदेव के मुखारविन्द से। हमारे पास पुराण थे, पर, यह महापुराण है और यह है 'परमहंस सहिता।' अभी तक हमारे पास 'निगम कल्पतरु' तो था, पर यह है 'गलित फल'—एकदम पका हुआ फल। फिर शुकदेव के मुख से निःसृत होने से यह कथा परमानन्दमयी सुधा से परिपूर्ण हो गयी है—

निगम कल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

कोई भी वेला हो—मगल-गीत हैं, वाजे है, वधाइयां हैं, भीडभाड है, सजावट है—जीवन जैसे सघर्ष नही, एक लीला है, एक खेल है, एक सगीत है।

यशोदाजी औत्थानिक उत्सव (करवट वदलने के अभिषेकोत्सव) मे डूबी है, जब देखती हैं कि लल्ला के नेत्रो मे नीद आ रही है, तो कन्हैया को धीरे से शय्या पर सुला देती हैं। थोडी देर मे आँखें खोली, रोने लगे, माँ ने व्रजवासियो के स्वागत-सत्कार मे सुना नही कि कान्हा रोते-रोते पाँव उछालने लगे—छकडे के नीचे सोये थे—उनके कोमल पाँव के लगते ही छकड़ा उलट गया—दूध-दही और अनेक रसो भरी अनेक मटकियाँ फूटफाट गई।

वच्चो का सोना, आँखें मूँदना, फिर खोलना, भूख लगने पर रोना, रोने पर ध्यान न देने से खीझना, हाथ-पाँव उछालना—ये वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक हैं, शिशु-स्वभाव के ये सार्वभौम चित्रण-विचित्र हैं और सचमुच कालजयी भी।

इस मधुर वाल-लीला के वीच-वीच कितने उपद्रव होते हैं, कितनी वाधाएँ, विघ्न, थोडी देर के लिए जरा अशान्ति फिर स्वस्त्ययन-पूजा-पाठ, दान—पुनः जीवन में वही उल्लास। पुराने दुःस्वप्नो की कही छाया नही, भविष्य की आशकाओ का अन्धेरा नही। वस है—वर्तमान, वर्तमान के ये क्षण, क्षण नही—

जीवन के दिव्याक्षर है—जिनसे यह क्षर जीवन
अक्षर वनता है और अक्षर से अतीत-पुरुषोत्तम भी।

घुटुरुन चलत

राम-श्याम अव घर के आँगन से वाहर आ गये हैं—घुटनो व हाथो के वल वकँयो से चल-चलकर गोकुल मे खेलने लगे है। जव वे कीचड़ की अगराग लगाकर लौटते, तो उनकी सुन्दरता वढ जाती थी। माताएँ उन्हे देखकर दौड पडती, हृदय से लगाती। जव ये दूध पीने लगते, वीच-वीच मे मुस्कराकर माताओ की ओर देखने लगते, तो ये भोलाभाला मुँह देखकर आनन्द के समुद्र मे डूवने-उतराने लगती।

सारा गोकुल निहाल

रोहिणी और यशोदाजी ही नही—अव गोकुल की व्रजागनाएँ वाल लीलाओ में शामिल हो गई। घर का काम वन्द-मन्द। अव तो यही स्वर्ग दुर्लभ शिशु-क्रीड़ाएँ—

राम-श्याम थोडे वडे हो गए हैं। अव शरारतें शुरू। वैठे हुए वछड़े की पूँछ मरोड़ लेते और वछड़े उन्हे घसीटते हुए दौडने लगते। गोपियाँ अपने घर का काम-धन्धा छोड़कर यही देखती रहती और हँसते-हँसते लोटपोट होकर परम आनन्द मे मग्न हो जाती।

शिकायतें-उपालम्भ शुरू

हमारे राष्ट्र के पास एक यही वाल कृष्ण है, जिसकी शत-शत लीलाएँ कोटि-कोटि ढंग से कही जाती है। छोटे, वडे, वच्चे, वूढे, सन्त-भक्त मगन। सुवह से रात तक शिकायतो का ताँता उलाहनो की भरमार, उलाहने देते-देते व्रज उमगता है, उमड़ता है—

"अरी यशोदा ! यह तेरा कान्हा नटखट हो गया है। गाय दुहाने का समय न होने पर यह बछडो को खोल देता है और हम डाँटती हैं, तो ठठा-ठठाकर हँसने लगता है। यह चोरी के बड़े-बड़े उपाय करके दूध दही चुरा-चुरा कर खा जाता है। केवल अपने ही खाता तो भी एक बात थी, यह तो सारा दही दूध वानरो को बाँट देता है और फिर मटको को फोड़ देता है। हमारे बच्चो को रुलाकर भाग जाता है। जब हम दही-दूध को छीको पर रख देती है और इसके छोटे-छोटे हाथ नही पहुँचते, तो बड़े-बडे उपाय रचता है। दो-चार पीढो को एक के ऊपर एक रख देता है, कही ऊखल पर चढ जाता है, कही ऊखल पर पीढा रख देता है, कभी-कभी तो अपने किसी साथी के कन्धे पर चढ जाता है और इतने पर भी काम नही चलता, तो नीचे ही से उन बर्तनो मे छेद कर देता है।

ऐसा करने पर भी ढिठाई की बाते करता है—उलटे हमे चोर बनाता है और अपने घर का मालिक बन जाता है। इधर देखो, वह ऐसे खडा है, जैसे साधु हो, मानो मूरत खडी हो।'

थोडी देर मे सारी शिकायतें खत्म। उलाहना देनेवाली मुस्कराती है, नदरानी कन्हैया को गले लगाती है। मोद-प्रमोद और आनन्द की रसधारा से सारा ब्रजमण्डल स्नात।

ब्रज से जो आनन्द का सागर उमडा, वही आज देश के कोने-कोने मे उमड रहा है। शताब्दियो तक का उदासी भरा चिन्तन, निराशा के कुहरे से छाया हमारा धूमिल दृष्टिकोण, सब ध्वस्त-विध्वस्त। कृष्ण का नाम लेते ही, नाचता-गाता, हँसता-खेलता, एक चित्र उभरता है—जिसके सामने कहाँ ठहर पाता है हमारा गुरु गम्भीर, प्रशान्त, निस्तरग चिन्तन ? जीवन के रेगिस्तान मे अचानक विनोद की लोनी लतिकाएँ झूमने लगती है, हास्य के ठहाको और ठिठोलियो से लगता है जीवन ही सत्य है, यह ब्रज शाश्वत है, यहाँ की लीला नित्य है, यमुना, गोपी, ग्वाल, रास, महारास सभी नित्य।

प्रलय सागर मे डूबते-उतराते महर्षि मार्कण्डेय की तरह हमे दीखता है, नवसृष्टि का अक्षयवट निकल आया है, उसके पल्लवो पर शिशु बालमुकुन्द अपने मुख मे पैर का अंगूठा लिये शाश्वत शिशुत्व की महिमा को उजागर कर रहे है।

हमको नित्य लगता है, माँ यशोदा के रूप मे विश्व माँ पुकारती हुई कहती है, जोर-जोर से पुकारती है—

'ओ कन्हैया ! प्यारे कन्हैया ! खेलते-खेलते थक गये हो। बेटा ! बस करो ब्रजराज भोजन करने बैठ गए है, अभी तक तुम्हारी बाट देख रहे है। तुम्हारा एक-एक अग धूल से लथ-पथ हो गया है, आओ जल्दी स्नान करो।"

धन्य है यह ब्रज, जहाँ माँ यशोदा की गोद मे कृष्ण की नित्य लीलाएँ होती है—उन लीलाओ से मुखरित है ब्रज के करील के कुज, कछार—सभी द्यावा पृथिवी।

(आ) रास-महोत्सव

रास का एक वह क्षेत्र है, जहाँ काम-गन्ध-हीन वृत्ति से ही इसमे प्रवेश किया जा सकता है। यह वह रूप है, जहाँ काम भुजगम पर नृत्य किया गया है, जहाँ मदन को मोहित मूर्च्छित किया गया है—यह मदन-मोहन का एक सनातन चित्र है। यहाँ काम का ऊर्ध्व संतरण है, एक उदात्तीकृत रूप है, जहाँ केवल प्रेम का भास्कर उदित है, वासना का तिमिर तिरोहित है।

चैतन्य चरितामृत मे गोपी-प्रेम का यह वर्णन प्रेम की दिव्यता प्रकट करता है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥
आत्म-सुख-दुख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण - सुख - हेतु करे सब व्यवहार॥
अतएव काम प्रेमे बहुत अंतर।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अतएव गोपी गणे नाहि काम गन्ध।
कृष्ण – सुख - हेतु मात्र कृष्णेर सम्बन्ध॥

कालिन्दी की रमण-रेती, गोपागनाओ के बीच कृष्ण यो लगते हैं ! जैसे पीली-पीली दमकती हुई स्वर्ण-मणियो के वीच मे ज्योतिर्मयी नीलमणि दमक रही हो। जैसे श्याम घन घटा के बीच चमकती गोरी गोपियां विजली सी हो।

स्मरण रहे, ये गोप-वालाएँ ऋचा स्वरूपा हैं, ये मृण्मयी नही, चिन्मयी विग्रहवती हैं—ये नित्या सिद्धा है, ये अनुग्रह प्राप्त भक्तो का प्रतिनिधित्व करती है, तभी ज्ञानी-जन इन ब्रज-वालाओ के चरण-रज से अपने को पुनीत करने के आकांक्षी हैं।

(२) गीता गायक श्रीकृष्ण

भगवान् कृष्ण रसेश्वर हैं, रासेश्वर हैं और योगेश्वर भी। श्रीमद्भगवद् गीता भगवान् कृष्ण की वाङ्मयी काया है—शब्द ब्रह्म मे उनका नित्य अवतरण ! एक हताश निराश जीवन को कर्म की ऊर्जा से प्रणोदित करना ज्ञान, भावना और कर्म मे सामरस्य स्थापित करना, इसी का एक सकारात्मक विधि-मुख नाम है गीता ! यह केवल सैद्धान्तिक ग्रन्थ—ब्रह्म विद्या मात्र नही है—यह है सिद्धान्त के प्रकाश मे एक योगशास्त्र, यानी जीने की कला का एक शानदार दस्तावेज !

भारतीय मनीषा ने जितना उदात्त एव गभीर चिन्तन किया है, उसी की मधुर अवतारणा गीता मे है, जैसे हमारा ज्ञान-विज्ञान, हमारी साधना आराधना, हमारा शिव-सकल्प सभी मदाकिनी वनकर जीवन की घाटियो मे उतर आया है। दर्शन को इस प्रकार स्वच्छ मधुर अमृत धारा मे वदल देना—इसी मे गीता की महिमा है। बापू ने इसी कारण कहा, गीता तो मेरी माँ है ! माँ जैसे प्रेम पुलकित वात्सल्यमयी वाणी से अपने बच्चो को लाड दुलार देकर आगे बढाती है, सँवारती सुधारती है, वही मीठी शैली गीता की है। जीवन जहां है, गीता वहीं आती है और जीवन के शोर को स्वरो मे बदल देती है। जीवन-वीणा के सभी तार अपनी सीमा मर्यादा मे झकृत होकर दिव्य सगीत समारोह की सयोजना मे प्रवृत्त हो जाते हैं। इन्द्रियां है, ससार के पदार्थ हैं, भोग है, आकर्षण हैं—इनके वीच मे यह साधना चलती है—युक्ताहार-विहार के साथ युक्त चेष्टा पद्म-पत्र की तरह अपने को सँभालना, स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी-कर्मयोगी, ध्यानी, त्रिगुणातीत—सभी के आदर्शो की भव्य झांकी और निरन्तर विगत ज्वर होकर 'युध्यस्व' का गभीर मूल निनाद ! यहाँ प्रपच और परमार्थ के वीच सेतु वन जाता है ! स्वधर्म को गीता इतना ऊँचा पादपीठ प्रदान करती है कि वही नैष्कर्म्य सिद्धि वन जाती है।

गीताकार ने ज्ञान की महिमा को गाया है—

'न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते'। पर भक्ति के बिना ज्ञान कैसे, ज्ञान के बिना भक्ति कैसी ? ज्ञानोत्तराभक्ति या भक्तिमय ज्ञान, यही गीता की मूल संवेदना है—जिसके परिणाम स्वरूप कर्म की मदाकिनी स्वतः प्रवाहित होती रहती है। इस कर्म को कर्मयोग बनाना-यही गीता का प्रतिपाद्य है।

कर्म से कर्मयोग की यात्रा—अनेक साधन-सोपानो के आरोहण से सभव है। कर्म हो, कामनारहित हो, आसक्ति रहित हो, उसमे 'मै' न हो, 'मेरा' न हो—'निर्ममो निरहकार' हो, वह लोक सग्रह की भावना से हो, उसमे यज्ञ-भाव हो, वह कृष्णार्पण हो, वह ज्ञान से ज्योतित हो, भक्ति श्रद्धा से आर्द्र हो, अपने को निमित्त बनाकर हो, विगतज्वर हो, समाचरित हो, ज्ञानाग्नि से भस्मसात् होकर अकर्म बन गया हो—तब कही कर्म, निष्काम कर्म योग बनता है।

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हो—यानी ज्ञान की शुभ्रता है। और साथ ही धनुर्धर—पार्थ हो यानी कर्ममय पुरुपार्थ हो—वही श्री है, विजय है, विभूति है, ध्रुवानीति है। जीवन धन्य और कृतकृत्य है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ □

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदै से जब जाउगे मरद बदोगो तोहि ॥

—सूर

तथागत बुद्ध

डॉ० नथमल टाटिया

१. जन्म

भगवान् बुद्ध का जन्म शाक्य कुल मे कपिलवस्तु के निकट लुंबिनी मे हुआ। श्रीलंका की परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध का जन्म ई० पू० ६२४ एवं निर्वाण ५४४ मे हुआ। आधुनिक विद्वानो के मत मे जन्म ई० पू० ५६३ एव निर्वाण ४८३ मे हुआ। वे गौतम गोत्रीय एव शाक्यकुल के थे, इसलिए उन्हे गौतम बुद्ध या शाक्यमुनि बुद्ध भी कहा जाता था। पिता शुद्धोदन ने उनका नाम सिद्धार्थ या सर्व-सिद्धार्थ रखा, क्योकि उनके जन्म से शुद्धोदन की सारी मनोकामनाएँ सिद्ध होने लगी। गौतम की मां माया (महामाया), अंजन व यशोधरा की पुत्री थी। सिद्धार्थ के जन्म के सातवें दिन उनका स्वर्गवास हो गया था। उनका पालन-पोषण प्रजापति गौतमी ने किया था। वह महामाया की वहिन एवं शुद्धोदन की द्वितीय पत्नी थी। माया के भाई सुप्रबुद्ध की पुत्री भद्दा कच्चाना (अपर नाम यशोघरा) से गौतम का विवाह हुआ। सिद्धार्थ जव २९ वर्ष के थे, उनके पुत्र राहुल का जन्म हुआ। पुत्र-जन्म के तुरन्त वाद वे गृहत्यागी हो गये। उनका निर्वाण कुशीनारा मे हुआ। बुद्ध के जीवन की एक विशेप वात यह रही कि उनका जन्म, वोधि-प्राप्ति एव निर्वाण वैशाखी पूर्णिमा को हुआ।

२. यौवन एव वैराग्य

अपने सुकुमार जीवन का वर्णन बुद्ध ने स्वय अंगुत्तर-निकाय मे किया है एव वही अपने यौवन-मद, आरोग्य-मद एव जीवन-मद के स्थान पर वैराग्य-भावना के उद्भव का स्पष्ट निर्देश किया है। उनका जीवन अत्यन्त सुकुमार एव वैभवशाली था। इस प्रकार का ऐश्वर्य का जीवन भोगते हुए बुद्ध ने जव बुढापे के दु ख को देखा तो उस पर विचार करते-करते यौवन के प्रति उनका जो मद था वह जाता रहा। इसी प्रकार व्याधि-प्राप्त व्यक्ति को देख कर बुद्ध ने चिन्तन किया कि इस व्याधि से मैं दु खी होऊँ, द्रवित होऊँ, तो यह मेरे योग्य नही होगा, इस चिन्तन से बुद्ध का आरोग्य के प्रति जो आरोग्य-मद था, वह सव जाता रहा। इसी प्रकार मृत्यु-प्राप्त व्यक्ति को देख कर उसके दु खो पर चिन्तन करते-करते जीवन के प्रति जो जीवन-मद था, वह भी जाता रहा।

३. महाभिनिष्क्रमण

(अ) दुष्कर चर्या

सिद्धार्थ २९ वर्ष की उम्र मे गृह त्याग कर सन्यासी वने थे। अपने साधक जीवन मे उन्होने ध्यानाभ्यास एव कठोर तपस्याएँ की थी। प्रारभ मे उन्होने आलार-कालाम एव उद्दक

रामपुत्त से समाधि का अभ्यास किया था। परन्तु उन्हे सतोष नहीं हुआ। बाद मे उन्होने प्राणायाम एव अनशन की घोर तपस्या की, जिसका विशद वर्णन मज्झिम-निकाय मे इस प्रकार है—

"अत्यधिक ध्यान-साधना से काँख से पसीना निकलता था। अप्राणक ध्यान मे श्वास-प्रश्वास को रोक देने से कानो के छिद्रो से हवाए घोर शब्द करती बाहर निकलती। श्वास-प्रश्वास को रोकने से मूर्द्धा मे भी बहुत अधिक हवाए टकराती, जैसे कोई बलवान पुरुष तलवार की तीक्ष्ण नोक से मूर्द्धा को मथे। शीश में भयकर वेदना होती। कुक्षि मे इस प्रकार की वेदना होती मानो गौ-घातक तेज छुरे से गौ के पेट को काटे। अगारो पर रखे पदार्थ के सदृश काया मे अत्यधिक दाह होता था। अल्पाहार के कारण मेरा शरीर दुर्बलता की चरम सीमा को पहुँच गया। मेरी आँखे गहरे कुएँ की तरह अन्दर धँस गई। शिर की खाल पिचक गई। मेरे पीठ के काँटे और पेट की खाल बिल्कुल सट गई थी। यदि मैं मल या मूत्र करता, तो वही भहराकर गिर पड़ता था। जब मैं काया को सहराते हुए हाथ से गात्र को मसलता था तो काया से सड़ी जड़वाले रोम झड़ पड़ते थे।"

(ब) मार-विजय[1]

"जब मैं नैरञ्जरा नदी के पास ऐसी दुष्कर चर्या मे लीन था, तब मार ने करुणा भरी वाणी मे यह बात कही—"आप कृश है, विवर्ण हैं और मृत्यु आपके पास ही है। आपके सहस्र अंश मृत्यु मे हैं और एक अंश जीवन मे। मित्र, जीवित रहिए, जीना अच्छा है। जीवित रहकर पुण्य कीजिए। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अग्निहोत्र करे, जिससे बहुत पुण्य कमा सकते है; फिर मुक्ति के इस प्रयत्न से क्या लाभ? निर्वाण का मार्ग दुर्गम, दुष्कर और दुरारोह है।

"इस प्रकार बोलने वाले मार को मैंने कहा—प्रमत्तबन्धु पापी! तुम किसलिए यहाँ आये हो? मुझे अणुमात्र पुण्य की कोई आवश्यकता नही है। जिन्हें पुण्य की आवश्यकता है मार! उन्ही को उपदेश दो। मुझमे श्रद्धा, वीर्य और प्रज्ञा विद्यमान है। इस प्रकार निर्वाण प्राप्ति के प्रयत्न मे रत मुझे जीने को क्यों कहते हो? घोर प्रयत्न से उठा यह वायु नदियो की धाराओं को भी सुखा देता है; तो क्या यह मेरा प्रयत्न मेरे लहू को नही सुखावेगा? खून के सूखने पर पित्त और कफ सूखते हैं। मास के क्षीण होने पर चित्त अधिकाधिक शात हो जाता है। तब मेरी स्मृति, प्रज्ञा और समाधि अधिकाधिक स्थिर हो जाती है। इस प्रकार से उत्तम वेदना प्राप्त मेरा मन कामो की इच्छा नही करता। मेरी शुद्धि को देखो!

"मार! काम तेरी पहली सेना है, अरति तेरी दूसरी सेना है, भूख-प्यास तेरी तीसरी सेना हैं, तृष्णा चौथी सेना है। सत्यान-सिद्ध पाँचवी, भय छठी, शका सातवी और म्रक्ष तथा धृष्टता तेरी आठवी सेना है। देव-मनुष्य सहित सारा ससार तुम्हारी जिस सेना को जीत नही पाता, उसे मैं प्रज्ञा से उसी प्रकार नष्ट कर दूँगा, जिस प्रकार पत्थर से कच्चे बर्तन को।"

---

१. ललितविस्तर, पृ० १९१-२/पधानसुत्त (सुत्तनिपात)

४. बोधि की ओर

छह वर्षो की इस निरन्तर दुष्कर चर्या से भी सिद्धार्थ को बोधि प्राप्त नही हुई। तो उन्होने अनुभव किया कि यह बोधि प्राप्त का मार्ग नही है। तब सिद्धार्थ के मन मे एक नया चिन्तन आया। "इस प्रकार अत्यन्त कृश, पतली काया से सुख मिलना सुकर नही, क्यो न मै स्थूल आहार ग्रहण करू ? सो मै स्थूल आहार ग्रहण करने लगा। उस समय मेरे पास पांच भिक्षु इस आशा से रहा करते थे कि श्रमण गौतम जिस धर्म (सत्य) को प्राप्त करेगा, उसे हम लोगो को भी बतलायेगा। लेकिन जब मै स्थूल आहार ग्रहण करने लगा, तब वे पांचो भिक्षु, "श्रमण गौतम बाहुलिक (बहुत सग्रह करने वाला), प्रधान से विमुख, बाहुल्य-परायण हो गया" ऐसा समझ, उदासीन हो, चले गये।

"तब मैं स्थूल आहार ग्रहण कर सबल हो, काम और अकुशल धर्मो से रहित, वितर्क तथा विचार सहित, एकान्तता से उत्पन्न (विवेकज), प्रीति-सुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा।..... प्रीति और विराग की उपेक्षा कर, स्मृति और सप्रजन्य के साथ, काया से सुख को अनुभव (प्रतिसवेदन) करता हुआ विहरने लगा, जिसको कि आर्य जन उपेक्षक, स्मृतिमान् और सुख-विहारी कहते है; ऐसे तृतीय ध्यान को प्राप्त हो विहार करने लगा।

"सुख और दु.ख के विनाश (प्रहाण) से, पहले ही सौमनस्य और दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से, दु ख-रहित उपेक्षक हो, स्मृति की परिशुद्धता से युक्त चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हो विहार करने लगा।"[१]

५ बोधि लाभ

इस प्रकार समर्थ भावना से चित्त के परिशुद्ध, परि-अवदात हो जाने पर बुद्ध ने आस्रव-क्षय के निमित्त अपना चित्त विपश्यना भावना की ओर झुकाया, जिसका वर्णन स्वय उनके शब्दो मे इस प्रकार है :—

(१) "तब इस प्रकार चित्त के परिशुद्ध हो जाने पर, पूर्वजन्मो की स्मृति के ज्ञान (पूर्व-निवासानुस्मृति-ज्ञान) के लिए चित्त को मैंने झुकाया। इस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर हो आत्मसयम युक्त विहरते हुए मुझे रात के पहले याम मे यह प्रथम विद्या प्राप्त हुई।

(२) "फिर मैंने प्राणियो के जन्म-मरण के ज्ञान (च्युति-उत्पाद-ज्ञान) के लिए चित्त को झुकाया। मनुष्य (के नेत्रो) से परे के विशुद्ध दिव्य चक्षु से, मै अच्छे, बुरे, सुवर्ण, दुर्वर्ण, सुगत, दुर्गत, मरते, उत्पन्न होते, प्राणियो को देखने लगा। रात के बिचले प्रहर (याम) मे यह द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई।

(३) "फिर मैने आस्रवो (चित्त-मल) के क्षय के ज्ञान के लिए चित्त को झुकाया—सो "यह दुःख है" इसे यथार्थ से जान लिया, "यह दु ख-समुदय है" इसे यथार्थ से जान लिया; "यह दु ख-निरोध है इसे यथार्थ से जान लिया, "यह दु.ख निरोध-गामिनी प्रतिपदा है" इसे यथार्थ से जान लिया। "यह आस्रव है" इसे यथार्थ से जान लिया, "यह आस्रव-समुदय है", ... , "यह आस्रव-निरोध ...." "यह आस्रव-निरोध-गामिनी-प्रतिपदा है" ....। सो इस प्रकार जानते, इस प्रकार देखते, मेरा चित्त कामास्रवो से मुक्त हो

१· मज्झिमनिकाय/पृ० ३५२-५३ (हिन्दी अनुवाद)

गया, भवास्रवों से मुक्त हो गया, अविद्यास्रव से भी विमुक्त हो गया। अब यहाँ के लिए कुछ (करणीय) नही" इसे जाना। रात के पिछले याम में यह तृतीय विद्या प्राप्त हुई। अविद्या चली गई।"

वोधि-वृक्ष के नीचे ध्यानासन मे वैठने के पूर्व उन्होने दृढ संकल्प किया था कि चाहे मेरी त्वचा, स्नायु, अस्थि अवशुष्क हो जाए, शरीर मे मास, लोहित उवशुष्क हो जाए, मैं सम्यक्-सम्वोधि प्राप्त किये विना इस आसन से नही उठूँगा।

ललित-विस्तर में इस संकल्प को निम्नोक्त मार्मिक पद्य मे अभिव्यक्त किया गया है—

इहासने शुष्यतु में शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात्कायमतश्चलिष्यति॥

जब बुद्ध ने सव्वञ्ञुत-ञाण (सर्वज्ञता) का प्रतिवोध किया तब उनके मुख से हर्ष के उद्‌गार निकले—

"कितनी वार जन्म लिया इस संसार मे, गिनती ही नही। जन्म लेता गया और निरर्थक (मृत्यु की ओर) दौड़ लगाता गया। इस कायारूपी घर वनाने वाले की खोज करते हुए पुनः पुनः दुःखमय जीवन में पड़ता रहा। अव घर वनाने वाले को देख लिया। वह अव नया घर नही वना सकेगा। चित्त पूर्व संस्कारो से विहीन हो गया। भविष्य के लिए कोई तृष्णा नही रह गई।"

६. सहम्पति ब्रह्मा की याचना एवं पंचवर्गीय भिक्षुओं का अन्वेषण

ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध के मन मे आया—"मैं यदि धर्मोपदेश भी करूँ और दूसरे उसको न समझ पावें, तो मेरे लिए यह पीड़ा और परेशानी मात्र होगी। तव सहम्पति ब्रह्मा ने मेरे चित्त की वात को जानकर विचार किया—जब तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का चित्त धर्म-प्रचार की ओर न झुक, अल्प-उत्सुकता (उदासीनता) की ओर झुक जाये, तब लोक नाश हो जाएगा रे! लोक विनाश हो जाएगा रे! तब सहम्पति ब्रह्मा ब्रह्मलोक से अन्तर्धान हो, मेरे सामने प्रकट हुआ, मेरी तरफ हाथ जोड़कर कहा—"भन्ते! भगवन्! धर्मोपदेश करे, सुगत धर्मोपदेश करें। अल्प मतवाले प्राणी भी है, धर्म के न सुनने से वे नष्ट हो जायेंगे।'

"तब मैंने ब्रह्मा के अभिप्राय को जानकर और प्राणियो पर दया करके, बुद्ध-नेत्र से लोक का अवलोकन किया। वुद्ध-चक्षु से लोक को देखते हुए मैने जीवो को देखा, उनमे कितने ही अल्प-मत, तीक्ष्ण वुद्धि, सुन्दर-स्वभाव, समझाने मे सुगम प्राणियो को भी देखा। उनमे कोई-कोई परलोक और दोप से भय करते विहर रहे थे, कोई-कोई परलोक और दोप से भय नही करते विहर रहे थे। तव भिक्षुओ! मैंने सहम्पति ब्रह्मा से गाथा द्वारा कहा—

"उनके लिए अमृत का द्वार खुल गया है,
जो सुनने वाले है वे मन लगाकर सुनें।
हे ब्रह्मा! पीड़ा का ख्याल कर मैंने मनुष्यो को
निपुण, उत्तम, धर्म को नही कहा।

"तव ब्रह्मा सहम्पति-"भगवान् ने धर्मोपदेश के लिए मेरी वात मानली" यह जान, मुझको अभिवादन कर प्रदक्षिणा कर वही अन्तर्धान हो गया। उस समय मेरे (मन मे) हुआ-'मैं पहले

किसे इस धर्म की देशना (उपदेश) करूँ,–इस धर्म को शीघ्र कौन जानेगा ? अनेक विकल्पो के बाद मेरे मन मे हुआ–"पचवर्गीय भिक्षुओ को ही धर्मोपदेश करूँ।" भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ– "इस समय पंच वर्गीय भिक्षु कहाँ विहर रहे है ? भिक्षुओ ! मैंने अ-मानुप विशुद्ध दिव्य चक्षु से देखा–"पचवर्गीय भिक्षु वाराणसी के ऋपिपत्तन मृगदाय मे विहार कर रहे हैं।" तव मैं उरुवेला से विहार कर वाराणसी के ऋपिपत्तन मृगदाय, जहाँ भिक्षु थे, वहाँ पहुँचा। दूर से आते हुए मुझे पचवर्गीय भिक्षुओ ने देखा। देखते ही आपस मे पक्का किया–"आवुस ! यह वाहुलिक (बहुत जमा करनेवाला) साधना-भ्रष्ट वाहुल्य-परायण (जमा करने मे लगा) श्रमण गौतम आ रहा है। इसे अभिवादन नही करना चाहिए, लेकिन "जैसे जैसे भिक्षुओ ! मैं पचवर्गीय भिक्षुओ के पास आता गया, वैसे-वैसे वे··· अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर न रह सके। उन्होने मुझे अभिवादन कर ससम्मान स्थान दिया, मेरे पैर धोये। वे मेरे लिए "आवुस" शब्द का प्रयोग करते थे। ऐसा कहने पर मैंने कहा–नही भिक्षुओ ! तथागत को नाम लेकर या 'आवुस" कहकर मत पुकारो। भिक्षुओ ! तथागत सम्यक्-सम्बुद्ध है। इधर कान दो, मैंने जिस अमृत को पाया है, उसका तुम्हे उपदेश करता हूँ।

"ऐसा कहने पर भिक्षुओ ! पचवर्गीय भिक्षुओ ने मुझसे कहा—"जब तुम दुष्कर चर्या से भी ज्ञान की पराकाष्ठा प्राप्त न कर सके तो फिर अब वाहुलिक होकर उस ज्ञान-दर्शन को क्या पाओगे ?"

"यह कहने पर मैंने पचवर्गीय भिक्षुओ से कहा—भिक्षुओ ! तथागत वाहुलिक नही है और न साधना से भ्रष्ट है, न वाहुल्यपरायण है। भिक्षुओ ! तथागत अर्हत सम्यक् सम्बुद्ध है······।"

इस प्रकार कई बार कहने पर मैं पचवर्गीय भिक्षुओ को समझाने मे समर्थ हुआ। मेरे उपदेश से पचवर्गीय भिक्षु स्वय जन्मने के स्वभाव वाले, जन्मने के दुष्परिणाम को जानकर सम्यक् मार्ग पर आ गये।[१]

७. धर्मचक्र प्रवर्तन :

पचवर्गीय भिक्षुओ को इस प्रकार पुनः अपने अनुशासन मे बुद्ध ने लेकर इस प्रकार धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया—

"भिक्षुओ ! प्रव्रजित को दो अन्तो का सेवन नही करना चाहिए–किन दो का ?

(१) जो यह काम–सुखो के पीछे पड जाना है—जो हीन, ग्राम्य, पृथक–जनो के अनुकूल, अनार्य, अनर्थ करने वाला। और (२) जो यह आत्मक्लमथानुयोग (=पचाग्नितप आदि कठोर साधनाएँ) आत्मपीडा है–दु ख देने वाला, अनार्य अनर्थ करनेवाला है।

"भिक्षुओ ! इन दो अन्तो को छोड तथागत ने मध्यम मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया है। वह मध्यम मार्ग यही आर्य अष्टागिक मार्ग है। यथा—१. सम्यक् दृष्टि, २. सम्यक् सकल्प, ३. सम्यक् वचन, ४. सम्यक् कर्मान्त, ५ सम्यक् आजीव, ६ सम्यक् व्यायाम, ७. सम्यक्–स्मृति और ८. सम्यक् समाधि। इनमे सम्यक् दृष्टि और सम्यक् सकल्प "प्रज्ञा" के अग है; सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त एवं सम्यक्-आजीव शील के अग है, तथा सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एव सम्यक् समाधि ये

---

१. मज्झिमनिकाय (हिन्दी अनुवाद)/पृ० १०७-१०

तीनों समाधि के अन्तर्गत है। इसी कारण बुद्ध ने आर्य-अष्टांगिक मार्ग को शील-समाधि-प्रज्ञा इन तीन रत्नों के पालन का मार्ग भी बताया है।

बुद्ध के इन वचनों से पंचवर्गीय भिक्षुओं को यह ज्ञान हुआ—जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है, सभी निरुद्ध होने वाला है।[१] आगे चलकर पंचवर्गीय भिक्षु भगवान बुद्ध के प्रथम पाँच अर्हत् शिष्य हुए।

८. शिष्य-सम्पदा एवं भिक्षु-विहार[२]

(अ) यश श्रेष्ठिपुत्र की उपसम्पदा

धर्मचक्र प्रवर्तन के बाद तथागत बुद्ध की शिष्य सम्पदा क्रमशः बढ़ने लगी। वाराणसी मे यश नामक बहुत सुकुमार और अत्यन्त समृद्धिशाली श्रेष्ठिपुत्र रहता था। एक रात्रि मे अचानक उसकी निद्रा खुल गई, उसने अपने परिजनों को विषयवासनाओं मे लिप्त देखा तो उसे उनसे वितृष्णा हो आई, वैराग्य का उदय हुआ। वह राजप्रासाद से उतर, बुद्ध के सामने उपस्थित हुआ। बुद्ध ने उसे कामभोगों के दोषों तथा नैष्क्रम्य गुण का उपदेश देकर चार आर्य सत्यों का प्रकाश दिया, जिससे उसे उसी आसन पर रजरहित, मलरहित धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

यश कुलपुत्र के श्रेष्ठि पिता घर मे यश को न पाकर उसकी खोज मे निकले और बुद्ध के समक्ष पहुँचे। वे भी बुद्ध का सद्धर्मोपदेश सुनकर बुद्ध, धर्म और संघ इस त्रिशरण मे गये। भगवान् के प्रथम उपासक (गृहस्थ-शिष्य) बने। यश कुलपुत्र की माता और पत्नी बुद्ध की प्रथम उपासिकाएँ बनी। वस्तुतः उत्कलवासी तपुस्स एवं भल्लिक नामक व्यापारी प्रथम उपासक-द्वय थे।

उरुवेला मे तीस भद्रवर्गीय सहायक कुमार बुद्ध के भिक्षु-शिष्य बने। राजगृह मे संघ सहित विहार करने पर मगधराज बिम्बिसार ने श्रद्धापूर्वक बुद्ध और उनके संघ के लिए वेणुवन का दान किया।

(ब) सारिपुत्त एवं मोग्गल्लान

राजगृह मे संजय नामक परिव्राजक एक बड़े परिव्राजक संघ के साथ रहता था। सारिपुत्त एवं मोग्गल्लान इनके संघ मे ब्रह्मचर्यवास करते थे। एक दिन बुद्ध के शिष्य अस्सजि से उनकी भेंट हुई। अस्सजि से उपदेश की प्रार्थना पर अस्सजि ने कहा—"जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न होने वाले (हेतु-प्रभव) है, उनका हेतु तथागत कहते है, और उनका जो निरोध है—यही महाश्रमण का वाद है।"

यह धर्मोपदेश सुनकर सारिपुत्त को वहीं रज-रहित, मल-रहित धर्मचक्षु उत्पन्न हो गया—जो कुछ उत्पन्न धर्मा है, वह सब निरोधधर्मा है।

सारिपुत्त ने जाकर मोग्गल्लान को उपदेश दिया। उन्हे भी धर्मचक्षु उत्पन्न हुआ। दोनों ने बुद्ध की शरण ली।

---

१. संयुत्तनिकाय ४/पृ० ३६०-६२; संयुक्तनिकाय (हिन्दी अनुवाद) खंड-२, पृ० ८०७-८

२. महावग्ग/पृ० १८-३८

श्रेणिक बिम्बिसार के द्वारा बुद्ध और उनके सघके लिए वेणुवनाराम के दान के पश्चात् सम्पूर्ण उत्तराखण्ड मे अनेक भिक्षु विहारों की स्थापना होती चली गई। उनमे कुछ विहार प्रमुख थे, जिनमे श्रावस्ती मे अनाथपिंडिक का जेतवनाराम, विशाखा मिगारमाता द्वारा प्रदत्त पूर्वाराम तथा राजा प्रसेनजित-निर्मित राजकाराम, कपिलवस्तु मे निग्रोधशाक्य द्वारा निर्मित निग्रोधाराम, कौशाम्बी मे घोषित द्वारा निर्मित घोषितराम तथा वैशाली मे महावन कूटागारशाला—ये भिक्षुओं के प्रख्यात विहार थे।

९. भिक्षुणी-संघः

तथागत स्त्रियो के प्रति बहुत आदर भाव रखते थे। परन्तु पुरुषो व स्त्रियो का साथ, भले ही भिक्षु व भिक्षुणी के रूप मे ही क्यो न हो, सद्धर्म, सदाचार एव भिक्षु-सघ की रक्षा और दीर्घ जीवन के लिए उचित नही मानते थे। इस कारण भिक्षुसघ की स्थापना के अनेक वर्ष बाद तक उन्होने किसी स्त्री को सघ मे दीक्षित करने का विचार नही किया।

एक बार बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम मे विहार करते थे। तब महाप्रजापति गौतमी (भगवान की मौसी-माँ) ने बुद्ध से प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। गौतमी की बार-बार प्रार्थना पर भी जब बुद्ध ने प्रव्रजित होने की स्वीकृति नही दी तो आनन्द ने बुद्ध से स्त्रियो को प्रव्रजित करने के लिए प्रार्थना की, लेकिन फिर भी बुद्ध ने इन्कार कर दिया। इसपर आनन्द ने दूसरा मार्ग अपनाया। उन्होने तथागत से निवेदन किया–भन्ते ! क्या तथागत द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुसार स्त्रियां भी, घर से बे-घर हो, प्रव्रजित हो, अर्हत-फल साक्षात् कर सकती हैं ?

बुद्ध के 'हाँ', कर सकती है, कहने पर आनन्द ने पुन: आग्रह किया। आनन्द के बार-बार आग्रह करने पर तथागत ने गौतमी को कुछ कठोर शर्तों के साथ प्रव्रजित होने की आज्ञा दी।

उन शर्तो को स्वीकार करने पर ही बुद्ध ने गौतमी को प्रव्रजित किया। गौतमी की उपसम्पदा होने पर भगवान् बुद्ध स्त्रियो के बौद्ध संघ मे प्रवेश के परिणामो पर अपनी आशंकाए व्यक्त किये बिना न रह सके। उन्होने आनन्द से कहा—

"आनन्द ! यदि स्त्रियो को तथागत द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुसार घर से बे-घर हो प्रव्रजित होने की अनुमति न मिली होती, तो हे आनन्द ! यह श्रेष्ठ जीवन चिरस्थायी होता, एक हजार वर्ष तक यह सद्धर्म स्थिर रहता। लेकिन क्योंकि आनन्द ! अब स्त्रिया तथागत के द्वारा उपदिष्ट धर्म-विनय (बुद्ध)-शासन मे घर से बे-घर हो प्रव्रजित हो गई, तो इसलिए अब यह श्रेष्ठ जीवन चिरस्थायी नही होगा। अब यह सद्धर्म केवल पाँच सौ वर्ष ही स्थिर रहेगा।"

गौतमी को सक्षेप मे दिया हुआ बुद्ध का उपदेश भी इस प्रसग मे द्रष्टव्य है—

"गौतमी ! जिन धर्मो (बातो) को तू जाने कि ये राग को बढ़ानेवाली है, वैराग्य को नही; ये ससार से सयोग बढाने वाली हैं, विसयोग नही, महेच्छता के लिए है, अल्पेच्छता के लिए नही, असन्तोष बढानेवाली है, सन्तोष नही, भीड बढानेवाली है, एकान्त जीवन नही, आलस्य बढानेवाली है, अप्रमाद नही, जीवन-यापन दूभर बनानेवाली है, सुभर नही–तो हे गौतमी ! तू यह

१· अगुत्तरनिकाय (हिन्दी अनुवाद), खण्ड–३, पृ० ३४४-४५।
अगुत्तर-पालि-अट्ठकनिपात/पृ० ३६८–३७३

निश्चित रूप से समझ ले कि ये बाते धर्म नही है, विनय नही है, शास्ता (बुद्ध) का अनुशासन नही है। इनकी विपरीत स्थितियों मे ही शास्ता का अनुशासन है।"

महाप्रजापति गौतमी की भिक्षुणी-दीक्षा के बाद भिक्षुणी-संघ की नींव पडी और बहुत सी प्रसिद्ध नारियों ने भिक्षुणी दीक्षा ली, जिनकी ललित और मार्मिक कथाएँ थेरी-गाथा मे भारतीय साहित्य की अनमोल काव्यमय आत्मकथा के रूप मे सुरक्षित हैं।

१०. नई देशना

(क) त्रिविध प्रज्ञा

पालि पिटकों मे श्रुतमयी, चिन्तामयी एवं भावनामयी इन प्रज्ञाओं का उल्लेख आता है। विज्ञ जनों से सुनकर हमे जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे श्रुतमयी प्रज्ञा कहा गया है। सुनकर प्राप्त हुए ज्ञान को यदि हम अपनी बुद्धि एवं तर्क के द्वारा समझने का प्रयत्न करे, तो उसे चिन्तामयी प्रज्ञा कहा जाता है। अब चिन्तालब्ध ज्ञान को यदि हम ध्यान, भावना या निदिध्यासन की भूमिका पर सत्यापित करने का प्रयत्न करें, तो उसे भावनामयी प्रज्ञा कहा जाता है। प्रज्ञा के उन्मेष के ये ही तीन स्तर हैं।

(ख) चार आर्य सत्य

विवेकशील व्यक्ति जब संसार को गहराई से देखता है तो उसके सामने संसार का दु:खमय स्वरूप सहज ही प्रकट होने लगता है।

'दु:ख' आर्य-सत्य का साधक त्रिविध प्रज्ञाओ द्वारा सम्पूर्ण रूप से साक्षात्कार कर लेता है।

इसी प्रकार 'दु:ख-समुदय' सत्य को साधक जान लेता है कि यह भवचक्र मे भ्रमण कराने वाली नन्दीराग-युक्त एव ससार के सारे विषयो मे रस लेनेवाली तृष्णा है, जो स्वय अविद्यामूलक है। इस तृष्णा के हेय स्वरूप को जानकर वह विपस्सना साधना द्वारा उससे छुटकारा पा लेता है।

तीसरा आर्य सत्य है—'दु:खनिरोध'। साधक इस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर समझ लेता है कि सब क्लेशो से मुक्ति ही इसका स्वरूप है। क्लेश मुक्ति को अपने जीवन मे साक्षात्करणीय समझकर वह विपस्सना भावना द्वारा निर्वाण का साक्षात कर लेता है।

चौथे आर्य सत्य को 'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा' कहा जाता है। इसे हम निर्वाण मार्ग या मोक्ष मार्ग भी कह सकते हैं। इस आर्य सत्य का ज्ञान प्राप्त कर साधक समझ लेता है कि यह अभ्यासयोग्य है। ऐसा समझकर वह अपने चित्त को भावित करता है एव मोक्ष-मार्ग पर चल पडता है।

(ग) प्रतीत्यसमुत्पाद[१]

जीवन मे दु:ख तो है ही। "जाति-पच्चया जरा-मरण-सोक-परिदेव दु:खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।" जन्म हो गया हो तो बुढापा, बीमारी, मृत्यु आयेगी ही। पर जन्म क्यो हुआ ?

---

१. आत्मदर्शन (सत्यनारायणजी गोयनका कृत)/पृ० ११२-४

उत्तर है-"भवपच्चयाजाति।" यहाँ भव का अर्थ है—पूर्वार्जित कर्म, जिससे नया जन्म ग्रहण होता है। जन्म के पश्चात् जरा और मृत्यु आती है। यह भव क्यों होता है ? अनुभूतियो से देखने पर एकदम समझ मे आ गया—"उपादान-पच्चया भवो।" यह उपादान या आसक्ति ही भव का कारण है। यह उपादान क्यों होता है ? अनुभूतियो द्वारा तुरन्त मालूम हुआ--"तण्हा-पच्चया उपादान।" तृष्णा, यानी यह राग और द्वेष ही उपादान के कारण हैं। तृष्णा क्यो पैदा होती है ? स्पष्ट हुआ कि 'वेदना-पच्चया तण्हा।" सारे शरीर-स्कध पर जहाँ संवेदना होती है, वहाँ तृष्णा जागती है। वेदना होने का क्या कारण है ? "फस्स-पच्चया वेदना।" वेदना स्पर्श से होती है। छह इन्द्रियो के द्वारा इनके विषयो से स्पर्श होते ही सवेदना होती है। तो यह स्पर्श क्यो होता है ? "सळायतन-पच्चया फस्सो।" इन छह इन्द्रियों के दरवाजे खुले रहते हैं, इन पर स्पर्श होता है। तो यह छह इन्द्रियाँ कहाँ से आयी ? बात स्पष्ट हो गई "नाम-रूप-पच्चया सळायतन।" नाम-रूप की वजह से ये छह इन्द्रियाँ आई। यह नाम-रूप क्यो हुआ ? "विञ्ञाण-पच्चया नाम-रूप।" विज्ञान से नाम-रूप हुआ। यह विज्ञान क्यो होता है ? "सङ्खार-पच्चया विञ्ञाण।" हर कर्म-संस्कार (भव) नया विज्ञान (जाति) पैदा करता है। ये सस्कार कैसे बनते हैं ? "अविज्जा-पच्चया सङ्खारा।" अविद्या से ही सस्कार बनते है। इस प्रकार सारा रहस्य खुल गया। जड तक बात समझ मे आ गई कि यह अविद्या ही दुःख का मूल कारण है।

(घ) शील-समाधि-प्रज्ञा अष्टांगिक मार्ग[1]

शील का अर्थ है सदाचार। शील के अन्तर्गत धर्म के तीन अग आते है—

"सम्मा-वाचा, सम्मा-कम्मन्त और सम्मा-आजीव।"

'सम्मावाचा" अर्थात् सम्यक् वाणी। वाणी शुद्ध होनी चाहिये, हम यदि झूठ, कडी बात, निरर्थक बोलने एव चुगली से बचे तो वाणी पवित्र हो जाएगी।

"सम्मा-कम्मन्त" अर्थात् शरीर के कर्म सम्यक् हो। हम हत्या, चोरी, व्यभिचार एवं मादक पदार्थों से बचे तो हमारे कर्म निर्मल हो जाए गे।

शील के अन्तर्गत धर्म का तीसरा अग है "सम्मा आजीव", सम्यक् आजीविका अर्थात् हमारी आजीविका के साधन शुद्ध हो।

धर्म का दूसरा क्षेत्र है—समाधि। यदि धर्म मात्र शील सदाचार के उपदेशो पर ही आकर रुक जाता तो धर्म, धर्म नही होता। क्योकि मन वश मे नही है। समाधि द्वारा मन वश मे किया जाता है। इसके तीन अग है—

सम्मा वायाम, सम्मा सति, सम्मा समाधि।

"सम्मा वायाम" का अर्थ है सम्यक् व्यायाम। जिस प्रकार शरीर के विकार व्यायाम से ठीक होते है, उसी प्रकार मन के विकारो को दूर करने के लिए (१) हमारे भीतर जो बुराई है उसे निकालने का प्रयत्न करे (२) जो बुराई नही है, वह न आने पाए (३) जो सद्गुण मन मे पहले से हैं, वे कायम रखे (४) नये सद्गुणो को लाने का प्रयास करे। यही सम्यक् व्यायाम है।

समाधि का अगला अग है "सम्मा सति", सम्यक् स्मृति। स्मृति का अर्थ है-जागरूकता, सावधानी। हम वर्तमान क्षण के प्रति जितने-जितने सजग है, उतनी-उतनी सम्यक् स्मृति है।

---

१. वही/पृ० ८८-९०, ९४

सम्यक् समाधि का अर्थ है—राग-द्वेष-मोह-विहीन अवस्थाओ मे वर्तमान क्षण की सच्चाई के प्रति सतत जागरूक रहना।

धर्म का तीसरा क्षेत्र है प्रज्ञा। इसके अन्तर्गत आते है—सम्मा सकप्प एवं सम्मा दिट्ठि (दर्शन)। हमारे सकल्प सही होने चाहिए। सम्यक् दर्शन का अर्थ है, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसे ही गुण-धर्म-स्वभाव मे देखना। त्रिविध प्रज्ञा की चर्चा हम पहले कर चुके है।

(य) पांच बल

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा, ये पांच बल है। ये पाँच बल हमारे पाँच मित्र है। श्रद्धा का अर्थ है चित्त-प्रसाद। श्रद्धा के साथ विवेक होना आवश्यक है। विवेकहीन श्रद्धा, अन्ध श्रद्धा है। वीर्य का तात्पर्य है—प्रयत्न, पुरुषार्थ, पराक्रम। दृढता के साथ, निरन्तरता के साथ धर्म पथ पर चलना ही वीर्य है। स्मृति का अर्थ है-जागरूकता। हमारा चौथा मित्र है समाधि। क्षण-प्रतिक्षण लम्बी अवधि तक जागरूकता बनाये रखना ही समाधि है। चित्त के सारे मलो को काटने का मार्ग है—प्रज्ञा। इसकी व्याख्या हम कर चुके है।

(र) चार-ब्रह्मविहार

ब्रह्मविहार चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता एव उपेक्षा। मैत्री का अर्थ है अद्वेष। मैत्री भावना करते समय द्वेष एव लोभरूपी शत्रुओ से बचकर रहना आवश्यक है। करुणा भावना मे साधक कहता है—सब जीव दुःख से मुक्त हो। करुणा के पात्र न केवल दुःखी जीव ही है, बल्कि वे सुखी जीव भी है, जो दुश्चरित है एव जिनका अधोगति मे जाना सुनिश्चित है। मुदिता भावना के आलम्बन सुखी जीव होते हैं। कोई प्राणी यथालब्ध सम्पत्ति से वचित नही हो—इस प्रकार की भावना से मुदिता भावना का साधक अपने चित्त को भावित करता है। "सभी जीव अपने कर्म के धनी है, सब अपने कर्म के अनुसार फल भोगते है"—इस प्रकार विचार करके उनके प्रति उपेक्षा के भाव रखना ही उपेक्षा भावना है। इस भावना मे केवल मध्यस्थ भाव से चित्त को भावित किया जाता है। परन्तु मात्र मध्यस्थ भाव उपेक्षा ब्रह्मविहार नही है। राग और द्वेष का सही ज्ञान न होने से जीवो के प्रति उपेक्षा करने वाली एक अज्ञानोपेक्षा भी होती है, जो मोह-जन्य होने के कारण सच्ची उपेक्षा भावना नही है।

(ल) शमथ विपश्यना

तथागत ने जिस साधना का उपदेश दिया, उसमे शमथ एव विपश्यना-भावना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। साधना का उद्देश्य है—क्लेशो का उपशमन, तनुकरण एव प्रहाण। शमथ भावना द्वारा क्लेशो का उपशमन किया जाता है। क्लेशो के तनुकरण एव प्रहाण का एकमात्र मार्ग है—विपश्यना-भावना।

(व) आठ आर्य पुदगल

साधक को चार आर्य सत्यो का सम्यक् दर्शन हो जाने पर उसे आर्य पुद्गल कहा जाता है। इस दर्शन की उपलब्धि के पूर्व वह पृथग्जन कहलाता है। आर्य पुद्गल के आठ भेद है। इनमे चार मार्गस्थ कहलाते है, एव अन्य चार फलस्थ। आर्य मार्ग पर चलनेवाले को मार्गस्थ एव आर्य

फल की प्राप्ति पर उसे फलस्थ कहते है। कुल मिलाकर चार आर्य मार्ग एवं चार आर्य फल, ये आठ आर्य स्थान हुए। इन आर्य स्थानो मे स्थित मनुष्यो को आर्य पुद्गल कहा जाता है।

(श) त्रिशरण

साधक जब किसी गुणी व्यक्ति को, या उसके विचारो को, या उसके अनुयायियो को देखकर प्रसन्न-चित्त होता है, तो सहज ही वह उनकी शरण मे जाता है।

आर्यश्रावक बुद्ध के प्रति श्रद्धायुक्त होकर उनकी शरण मे जाकर कहता है—भगवान् अर्हत् हैं, सम्यक् सम्बुद्ध है, विद्याचरण सम्पन्न हैं, सुगत है, लोकज्ञ है, अनुत्तर है, अनुपम सारथी है, देवताओ और मनुष्यो के उपदेशक है।

धर्म मे अत्यन्त श्रद्धायुक्त कहता है—भगवान् का धर्म स्वाख्यात (सुन्दर रीति से कहा गया) है, वह सादृष्टिक (इसी शरीर मे फल देने वाला), अकालिक (कालान्तर मे नही सद्यः फलप्रद), एहिपस्सिक (आओ और देखो अर्थात् यही दिखाई देने वाला), औपनयिक (निर्वाण के पास ले जानेवाला), विज्ञ (पुरुषो) को अपने भीतर ही विदित होनेवाला है।

सघ मे अत्यन्त श्रद्धायुक्त कहता है-"भगवान् का श्रावक (शिष्य=भिक्षु)—सघ सुमार्गारूढ है। जो कि आह्वान करने योग्य है, पाहुना बनाने योग्य है, दान देने योग्य है, हाथ जोडने योग्य है, और लोक के लिए पुण्य (बोने) का क्षेत्र है।"

११ अनात्मवाद[१]

भगवान् बुद्ध ने अपनी पहली देशना मे आत्मवाद का प्रतिपादन किया। जिसको हम आत्मा कहते है, वह पांच उपादान स्कन्धो के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। साधारणतः आत्मा को द्रव्य माना जाता है। बुद्ध ने द्रव्य का अस्तित्व स्वीकार नही किया। जिसे हम जीव कहते हैं, वह वास्तव मे रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार एवं विज्ञान स्कन्धो का समूह मात्र है। इन पाँच स्कन्धो से निर्मित व्यक्ति को आत्मा की सज्ञा दी जाती है। बुद्ध भी "आत्म" शब्द का प्रयोग करते थे। उस समय प्रायः सभी तीर्थिक (तीर्थ-सस्थापक) आत्मा को द्रव्य रूप मानकर उसे ज्ञान एव आनन्द का आधारभूत तत्त्व मानते थे। बुद्ध ने ऐसे आत्म-द्रव्य को अस्वीकार किया। अपने अनुभव से उन्होने बताया कि ऐसा कोई स्थायी द्रव्य अनुभव मे नही आता जो सुख का आधार हो। बुद्ध ने मनन एव निदिध्यासन द्वारा अनुभव किया कि सभी पदार्थ अनित्य है एवं अनित्य होने के कारण दुःख रूप है। जिसे हम व्यवहार मे सुख कहते है, वह भी वस्तुतः अनित्य होने के कारण एव परिणामत. दु ख का निमित्त होने के कारण दुःख ही है। सक्षेप मे बुद्ध के अनात्मवाद की यही भूमिका है। बुद्ध की अनात्म-विषयक समस्त चिन्तनधारा को व्यक्त करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह सदैव सुखी रहे, कभी दु ख उसे स्पर्श न करे, यह सुख-तृष्णा ही एक शाश्वत आत्म-द्रव्य की अवधारणा का मूल रहस्य है। इसी तृष्णा से अहकार पनपता है। आत्म-द्रव्य की अवधारणा के साथ अहंकार-ममकार भावना इस प्रकार चिपक गई कि आत्म-द्रव्य से अहकार भावना को पृथक् करना असम्भव सा हो

---

१. मज्झिमनिकाय, खण्ड-३/पृ० ८०, सयुक्तनिकाय, खण्ड-३ पृ० ५९; महावग्ग, पृ० १६

गया। भगवान् बुद्ध ने दर्शन जगत् मे शायद पहली बार यह विवेक प्रस्तुत किया एवं अनात्मवाद की भूमिका बनाई, जो बौद्ध दर्शन की सभी शाखाओ को सदा प्रभावित करती रही।

१२. अव्याकृत प्रश्न

बुद्ध के चिन्तन मे चौदह प्रश्न ऐसे है, जिन्हें 'अव्याकृत' संज्ञा दी गई है। ये चौदह प्रश्न चार विभागो मे निम्न प्रकार विभाजित किये गए है—

विभाग—१

(अ) क्या यह लोक शाश्वत है ?
(ब) क्या यह लोक अशाश्वत है ?
(स) क्या यह लोक शाश्वत एवं अशाश्वत दोनो है ?
(द) क्या यह लोक न शाश्वत है, न अशाश्वत है ?

विभाग—२

(अ) क्या यह लोक अन्तवान् है ?
(ब) क्या यह लोक अन्-अन्तवान् है ?
(स) क्या यह लोक अन्तवान एवं अन्-अन्तवान् दोनो है ?
(द) क्या यह लोक न अन्तवान् है, न अन्-अन्तवान् है ?

विभाग—३

(अ) क्या तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते है ?
(ब) क्या तथागत मृत्यु के पश्चात् नही रहते है ?
(स) क्या तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते भी है, नही भी रहते है ?
(द) क्या तथागत मृत्यु के पश्चात् रहते है, यह भी नही है;
नही रहते है, यह भी नही है ?

विभाग—४

(अ) क्या जीव शरीर से अभिन्न है ?
(ब) क्या जीव शरीर से भिन्न है ?

भगवान् बुद्ध का दार्शनिक चिन्तन स्वानुभूति के आधार पर व्यवस्थित था। अतः वे किसी ऐसी अवधारणा को स्वीकार नही करते थे, जो शुद्ध तर्क या निराधार कल्पनाओ पर निर्मित की जाती थी। अपनी साधना मे बुद्ध ने अनित्यता एव क्षण-भगुरता का अवलोकन किया। उन्हे कूटस्थ-नित्य जैसी कोई वस्तु नही मिली। उन्होने यह भी अनुभव किया कि कूटस्थ-नित्य पदार्थ की मान्यता के मूल मे विविध प्रकार की तृष्णाएँ निहित है। इन तृष्णाओं के तिरोहित होने के साथ साथ कूटस्थ नित्यता की अवधारणा स्वतः विलीन हो जाती है। कार्य कारण की अविच्छिन्न शृंखला जब अनुभव मे आती है, तो निरन्वय उच्छेदवाद भी अपने आप निराकृत हो जाता है। बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के मूल को अपने विपस्सना ज्ञाण मे देखा। उनका सारा चिन्तन इस मौलिक अनुभव पर आधारित है, इसलिए उन्होने उपरोक्त प्रश्नो को अव्याकृत ही रखा।

१३. बुद्ध का अनावृत चिन्तनः

बुद्ध का चिन्तन सर्वथा अनावृत था, उन्होने अपने मे कोई रहस्य (आचरिय-मुट्ठि) छिपाकर नही रखा। बुद्ध केवल आत्मानुभव की कसौटी को ही महत्व देते थे। इसकी एक झलक हमे गौतमी को दिये धर्मोपदेश मे मिलती है। केशपुत्रीय कालामो से भगवान् का सवाद उनके अनावृत और उन्मुक्त चिन्तन की एक और झलक है, जिसमे भगवान कहते है—

"तुम किसी बात को इसलिए मत स्वीकार करो कि "यह बात परम्परागत है" कि "यह बात इसी प्रकार कही गई है' कि 'यह हमारे धर्म-ग्रन्थ के अनुकूल है'; कि 'यह तर्क—सम्मत है', कि 'इसका आकार-प्रकार सुन्दर है', कि 'यह हमारे मत के अनुकूल है', कि 'कहने वाले का व्यक्तित्व आकर्षक है', कि 'इसे कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य है।' हे कालामो[1] जब तुम आत्मानुभव से अपने आप ही जानो कि 'ये बाते अकुशल है, ये बाते सदोष है, ये बाते विज्ञपुरुषो द्वारा निन्दित है, इन बातो के अनुसार चलने से अहित होता है, दु ख होता है—जैसे कि लोभ, द्वेष, मोह और इनसे अभिभूत असयमाचरण, हत्या, चोरी, परस्त्रीगमन और झूठ बोलना तथा दूसरो को भी वैसी प्रेरणा देना तो है कालामो। तुम उन बातो को छोड दो।

"इसके विपरीत जब तुम आत्मानुभव से—अपने आप ही जानो कि ये बाते कुशल है, ये बाते निर्दोष है, ये बाते विज्ञ-पुरुषो द्वारा प्रशसित है, इन बातो के अनुसार चलने से हित होता है, सुख होता है—जैसे कि अलोभ, अद्वेष, अमोह, तो तुम उन पर आचरण करो।"

१४. महापरिनिब्बाण

दीघनिकाय के महापरिनिब्बाण सुत्त मे भगवान् बुद्ध का अन्तिम जीवन लिपिबद्ध है। उरूवेला मे बोधिवृक्ष के नीचे ई० पू० ५८८ मे उन्होने बुद्धत्व प्राप्त किया था और उसके पश्चात् सारनाथ मे धर्मचक्र प्रवर्तन। तदुपरान्त ४५ वर्षों तक पूरे मध्य-मण्डल मे पैदल विचरण कर सद्धर्म का प्रचार किया था। उन्होने ४४ वा वर्षावास श्रावस्ती के जेतवन महाविहार मे किया था। वर्षावासोपरान्त कार्तिक मास मे उन्होने श्रावस्ती से राजगृह की ओर प्रस्थान किया।

अपना ४५वाँ वर्षावास वैशाली के निकट वेलुवाग्राम मे किया। वही वे सख्त बीमार पड गये। उस मरणान्तक पीडा को उन्होने स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ, बिना दु.ख करते सहन किया। उन्हे अपने सेवको को बिना जतलाये परिनिर्वाण प्राप्त करना उचित नही लगा। अत: उस व्याधि को वीर्य (मनोबल) से हटाकर, प्राणशक्ति को दृढतापूर्वक धारण कर विहार करने लगे।

रोग से मुक्त हो, बीमारी से उठ, विहार से बाहर निकल कर छाया मे बिछे आसन पर बुद्ध बैठे। तब आयुष्मान् आनन्द वहाँ गये एव भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठे और कहा—हमे विश्वास था कि भगवान् तब तक परिनिर्वाण प्राप्त नही करेगे, जब तक भिक्षु-सघ को कुछ कह न देगे।

तब भगवान् ने कहा—आनन्द! तथागत को कोई आचार्य मुष्टि नही है। अत: आनन्द! तथागत भिक्षु सघ के लिए क्या कहेगे? इसलिए आनन्द! आत्मद्वीप, आत्मशरण, अनन्य-शरण, धर्मद्वीप, धर्मशरण होकर विहरो।

---

१. अगुत्तर निकाय (हिन्दी अनुवाद)/भा० १/पृ० १९२

वर्षावासोपरान्त बुद्ध ने महावन कूटागारशाला में भिक्षुओं को एकत्रित कर कहा—आज से तीन माह बाद तथागत परिनिर्वाण पायेंगे। वैशाली से प्रस्थान कर बुद्ध ने पावा मे चुंद कर्मार के आम्रवन मे विहार किया। चुद ने भगवान् को भोजन के लिए आमन्त्रित किया। चुद कर्मार-पुत्र का परोसा भोजन खाकर भगवान् को खून गिरने की भयकर बीमारी उत्पन्न हुई। मरणान्तक पीड़ा होने लगी। उसे भगवान् ने स्मृति-सप्रजन्य-युक्त हो, बिना दुखित हुए, सहन किया। वहाँ से विहार कर बुद्ध कुशीनारा की हिरण्यवती नदी के तट पर शालवन उपवन मे सिंहशय्या पर लेटे। और आनन्द से कहा—'जो भिक्षु या भिक्षुणी, उपासक या उपासिका धर्म के मार्ग पर आरूढ हो विहरता है, यथार्थ मार्ग पर आरूढ हो धर्मानुसार आचरण करने वाला होता है; उससे तथागत पूजित होते है। ऐसा आनन्द! तुम्हे सीखना चाहिए।'

अतिम समय मे भी बुद्ध मे सुभद्र परिव्राजक को आनन्द द्वारा प्रव्रजित करवाया, जो भगवान् के अतिम साक्षी शिष्य थे। यह प्रसग भगवान् बुद्ध के अनन्त करुणामय चित्त का द्योतक है, जिसने अंतिम श्वास तक जनहित मे अपने को सलग्न रखा।

अंतिम वचन एवं परिनिर्वाण

अत मे भगवान् ने भिक्षुओ को आमंत्रित किया। 'भिक्षुओ! यदि बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा मे एक भिक्षु को भी कुछ शका या दुविधा हो तो पूछ लो भिक्षुओ! पीछे अफसोस मत करना—शास्ता हमारे सम्मुख थे, किन्तु हम भगवान् के सामने पूछ न सके।' पर सभी भिक्षु मौन रहे। तब आनन्द ने कहा—इस सघ मे मै ऐसा प्रसन्न हूँ, यहाँ एक भी भिक्षु को बुद्ध, धर्म, संघ मार्ग या प्रतिपदा मे कुछ भी शका नही है।'

'आनन्द! तू 'प्रसन्न हूँ' कह रहा है? आनन्द! तथागत को मालूम है—इस भिक्षु-सघ मे एक भिक्षु को भी बुद्ध, धर्म, सघ, मार्ग या प्रतिपदा के विपय मे सदेह या विमति नही है। आनन्द! इन पाँच सौ भिक्षुओ मे जो सबसे छोटा भिक्षु है, वह भी न गिरने वाला है, नियत सम्बोधि-परायण है।'

तब भगवान् ने भिक्षुओ को आमन्त्रित किया—'हन्त! भिक्षुओ। अब तुम्हे कहता हूँ—सस्कार (कृत वस्तु) व्यय-धर्मा (नाशवान्) है, अप्रमाद के साथ जीवन के लक्ष्य का सपादन करो।'

—यह तथागत का अतिम वचन है।

अतिम वचनोपरान्त भगवान् प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। ...... तृतीय ध्यान को...... । ...... चतुर्थ ध्यान को ...... । ... ... आकाशानन्त्यायतन को... । .. अकिंचन्यायतन को ... । .. नैव-सज्ञाना सज्ञायतन को... । ... सज्ञा-वेदयितनिरोध को प्राप्त हुए।

तब आयुष्मान् आनन्द ने कहा—भन्ते अनुरुद्ध! क्या भगवान् परिनिर्वृत हो गये? 'आवसु आनन्द! भगवान् परिनिर्वृत नही हुए। सज्ञावेदयितनिरोध को प्राप्त हुए हैं।'

तब भगवान् सज्ञावेदयितनिरोध समापत्ति से उठकर नैवसज्ञाना-सज्ञायतन को प्राप्त हुए... । द्वितीय ध्यान से उठकर प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए... । चतुर्थ ध्यान से उठने के अनन्तर भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। □

भगवान् महावीर : समझें उन्हें

डॉ० नेमीचन्द जैन

कई वार यह प्रश्न सामने आ खड़ा होता है कि क्या चिन्तक और चिन्तन
दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं ? क्या धूप को सूरज से अलग किया जा
सकता है ? क्या किसी वस्तु की छाया को उस वस्तु से
अलगाना सम्भव है ?
चिन्तक का जन्म होता है, किन्तु चिन्तन का विकास होता है। वह एक
तरह से व्यक्ति की अर्जित सम्पदा होती है। हम अक्सर चिन्तक को तो देख पाते
हैं किन्तु चिन्तन को उसकी समग्रता मे जानने मे कठिनाई होती है।
महावीर को हम अनाम जानें यह मुश्किल है, उन्हे सनाम जानना आसान है।
ज्यादातर लोग महावीर को 'सनाम' ही जानते हैं, 'अनाम' नही।
विचार अनाम होता है। उसे कोई नाम देना सम्भव नही है / नही होता;
किन्तु विचारक सनाम होता है। एक वात और है।

हमारा ध्यान प्राय. वृद्ध की ओर जाता है. वर्द्धमान की ओर नही जाता।
जो वर्तमान भूत को छू गया है/छू रहा है, या जो आसन्न भूत है,
उसे तो हम जानते है—जानने लगते हैं, किन्तु वर्तमान पर या आसन्न भावि
पर हमारी पकड प्रायः ढीली होती है।
जो भूत और भविष्य, गत और अनागत के पलडो के वीच आगत के काँटे पर
अपनी पकड वना पाते हैं वे होते हैं 'तीर्थंकर'।
तीर्थंकर उन मुश्किलो को, जिन्हे पार कर पाना असम्भव-सा प्रतीत होता है,
पार कर लेते है—उनका वह तीर्थंकरत्व क्षण–की–विजय पर ही निर्भर करता है।
वे क्षण को जीत लेते है। उनके सामने काल एक अखण्ड–अविच्छिन्न प्रवाह होता
है। वे वस्तु को उसके सम्पूर्ण वस्तुत्व मे जानने लगते हैं;
इसलिए जो वह रहा है, उसे वहता हुआ रखकर जो वहने वाले को जानते है
वे होते हैं युग-चिन्तक।

ऐसे थे परम मनीषी भगवान् महावीर। वे मनुष्य थे और मनुष्यत्व
की सम्पूर्णता के लिए उन्होने वह सव छोडा, जिससे लोग प्राय इस तरह
चिपटे रहते है, जिस तरह आज का राजनीतिज्ञ सत्ता और पद से, या जैसे
भ्रमवश आत्मा शरीर से।
महावीर इस श्लेष से परिचित थे।

वे इस श्लेष के सम्यक्त्व को आमूल जानते थे/जानने लगे थे। धीरे-धीरे वे तपश्चर्या मे-से वस्तुओ-के-व्यक्तित्व को उसकी जीवन्तता मे अपने सम्मुख खड़ा देखने लगे थे। उन्होने धधकती वहिर्मुखता से स्वय को काटकर अन्तर्मुखता की आँच मे डाल दिया था। अनुभव किया था उन्होने कि यह जो दृश्य है, उससे परे वह है, जो द्रष्टा है। दृश्यो पर से हटकर उनका ध्यान ज्ञाता-द्रष्टा पर आ लगा था। जो ज्ञाता-द्रष्टा है, पूरी तरह वीतराग वही है या उसी मे वीतरागता की तमाम सम्भावनाएँ सन्निहित हुई हैं।

लोग प्राय: ज्ञान के मत्थे सारा दोष डाल देते है कि यदि हमने फलां स्थिति को जाना न होता तो हमे शायद कोई हर्ष-विषाद न होता, किन्तु उनका इस तरह सोचना दोषपूर्ण है। जानने मे दोष नही है, बल्कि जिसे जाना जा रहा है उससे सम्बद्ध या असम्बद्ध होने मे दोष है। भगवान् जानते है, किन्तु जिसे जाना जा रहा है, उससे वे खुद जुड़ते नही हैं। वे ज्ञाता-द्रष्टा होते है, किन्तु साझीदार नही होते। वे देखते है/जानते है, किन्तु जिसे देखते/जानते है, उसे फासले पर पाते हैं। रागद्वेष से मुक्त होता है उनका वह ज्ञान। सदोष/सकलुष वह होता है रागद्वेष के कारण। ज्ञान को रागद्वेष से मुक्त रखने की साधना का नाम तप' है। तप कायक्लेश नही है, वह एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। जव तक तप की पृष्ठभूमि पर दर्शन नही होगा, कोई सयोजना नही होगी, तव तक उसका होना, न होना अर्थहीन होगा।

इसीलिए
महावीर ने उस समय जव कि यह देश हिंसा की भट्ठी मे तच रहा था
सत्ता पर से अपना मोह हटा लिया और अत्यन्त अनासक्त भाव से
सत्य को ढूँढने निकल पड़े।

इतिहास मे जव भी, जहाँ भी किसी मनीषी ने सत्य से आँखे चार की है, वही उसे अनगिनत सकटो का सामाना करना पड़ा है। सत्य के साम्मुख्य मे पग-पग पर विपदाएँ होती है। सत्य को खोजना और खोज कर उसे अक्षत-अटूट पाना बहुत वडी साधना है। सत्य के साथ मुश्किल असल मे यह है कि उस पर असत्य का मुलम्मा चढ़ा होता है। कई पर्तो मे असत्य से वेष्टित सत्य इतना सवरित होता है कि उसे देखना और देखकर मुट्ठी मे कसना मुश्किल होता है। एक तो वे लोग जो ससार मे लिप्त होते है, सत्य को पहिचान नही पाते और कदाच् पहिचान भी लेते हैं तो उससे ठीक-ठीक आँखे नही मिला पाते।

सत्य से आँख मिलाना कोई मामूली वात नही है। यह स्थिति इतनी विदग्ध और तेजोमय होती है कि उससे आँख अटाना प्राय: असम्भव ही होता है। त्याग की विशद और गहन भूमिका के विना सत्य-के-तट तक पहुँच पाना सम्भव नही है।

आसक्तियाँ और मूर्च्छाएँ इतनी होती है मनुष्य के जीवन मे कि वह प्राय.

उनसे मुक्त नही हो पाता। कोई-न-कोई मूर्च्छा उसे प्रतिपल बाँधे रहती है। जब वह इन मूर्च्छाओ की दासता से परे होता है, तब वह सत्य-की-डगर पर पुरश्चरित होता है।

ख्याल रहे
सत्य शब्द नही होता। वह शब्द पर चढ कर आ सकता है, किन्तु शब्द वह नही होता। शब्द वर्तन है, वह अर्थ नही है, सत्य अर्थ है। स्वर है। व्यजन नही हे। व्यजन नि शक्त या शरणागत होता है स्वर के बगैर ठीक उसी तरह शब्द खाली-खस्स होते है अर्थ की अनुपस्थिति मे। सत्य शब्द नही है। शब्द छल कर सकते हैं—
सत्य निश्छल होता है। सत्य को एक बार उसकी परिपूर्णता मे पा लेने पर फिर कभी वह साथ नही छोडता। तकलीफ यह है कि लोग अश को पा कर ही मान लेते है कि उन्होने सम्पूर्ण को अपनी मुट्ठी मे कस लिया है, किन्तु वैसा होता नही है—
तब फिर वे धोखे मे चलने लगते हैं।
महावीर ने सत्य की खोज शुरू की और वे उसकी गहराइयो मे उतरने गये। कितने ही सकट आये उनकी साधना पर, किन्तु उनके कदम पीछे की ओर नहीं आये। यही बगाल
उनकी साधना का कसौटी बना था कभी। यही छोडे गये थे उनपर कुत्ते। यहीं फेंका गया था उन पर गोबर। और यही इतिहास ने जाना था कि जब भी सत्य यात्रायित होगा
झूठ के कुत्ते उस पर छोडे जाएंगे, और जब भी कोई साधना वैमल्य को पाने के लिये यत्नवती होगी, तब उस पर मल फेंका जायेगा ताकि वह और अधिक विमल/उज्ज्वल हो सके। अमर होने के लिये, पता नही क्यो, विपपान प्राय जरूरी रहा है। वह महावीर जो कभी बगदेश मे बिहार पर हुआ था, प्रत्यावर्तन मे उसे वह सब मिला जिसके लिये उसने अपनी साधना का सूत्रपात किया था। सब जानते हैं कि आग मे पडकर सोने का सारा छल टूट जाता है और वह जर्रे-जर्रे मे निश्छल हो पड़ता है। यही होता है आत्मा के साथ। वह आसक्तिो मे सतत् तच कर अनासक्त हो जाती है। इस तरह महावीर, या वर्द्धमान इसलिये महावीर या वर्द्धमान थे चूँकि वे सत्य की खोज मे अनवरत/अनथक थे। जो भी जब भी जहाँ भी सत्य की खोज मे अनवरत/अनथक रहेगा
महावीर होगा। यह असम्भव हो है कि कोई व्यक्ति सत्य के मार्ग पर निरलस चले और महावीर न हो—
वह अपरिहार्यता है
वैसा तो होगा ही
वैसा हुआ ही है

वह असदिग्ध है।
समझे
कि महावीर कोई नाम, वय स्थान नही हैं, वह व्यक्तित्व है, वह विचार है।
वह चिन्तन है। वह कोई हाड़–मास नही है। वह उन सीमाओ से परे
अक्षर है। जो हाड-मांस कभी था, वह अव कहाँ है ? ऐसे कितने ही हाड़–
मास के पञ्जर उनसे पहले, उनके समय, उनके वाद हुए, किन्तु कहाँ है वे सव ?
जो विचार वने वे रहे, जो नही बन सके, वे नही रहे। जिन्होने मृत्यु
को चुनौती दी और उसे जीता वे अमर हुए और जिन्होने उसके आगे घुटने
टेक दिये वे इतिहास की स्मृति से परे हो गये, तवारीख ने उन्हे भुला
दिया।
मृत्यु को जानना और उसे जान कर जीतना सरल भी है, कठिन भी।
सरल उनके लिये है जो उसकी दिग्विजय के लिये निकल पडे है और सकल्प कर
चुके हैं कि उसका हर पैतरा और दांव जानेगे और उसे हर मोर्चे पर परास्त
करेंगे,
मुश्किल उनके लिए है जो लालसाओ के गुलाम है। जो वासनाओ के दास है,
आसक्तियाँ जिनकी सर्वस्व है—ऐसे लोग मृत्यु के दांव से वच नही सकते।
मृत्यु उनसे भयभीत रहती है, जो स्वय अभीत/महावीर होते है—
उन्हे वह अपने पजो मे कसती है जो उससे आतकित और डरे सहमे रहते हैं।
महावीर की वर्द्धमानता स्वय चुनौती थी मृत्यु के लिए। दुनिया की तमाम
वर्द्धमानताएँ चुनौती वनी रहेगी यावच्चन्द्रदिवाकरौ मृत्यु के लिये।
इसलिये महावीर ने जो पाया उसे वर्द्धमान रक्खा। वे ठहरे हुये जल नही
थे, वहते हुए नीर थे। जो वहता है वह कभी पुराना नही पडता, अप्रासगिक
नही होता, जो ठहर जाता है, वह पुराना और अप्रासगिक हो जाता है।
महावीर आज भी कहाँ ठहरे हुए है? वे वर्द्धमान है आज भी। ससार मे
थे तव उनकी वर्द्धमानता खालिश नही थी, अव जव मुक्त हुए हैं तो उनकी
वर्द्धमानता खालिश है। द्रव्यो की यह विशेपता है कि वे अपने
खालिश रूप मे भी वर्द्धमान रहते है। जीव और पुद्गल का श्लेप जव वर्द्धमान
रहता है तव ससार वनता है और जव इनमे विविक्तता जन्मती है और
ये खालिश हो निकलते है, तव इनकी वर्द्धमानता स्वाभाविक
होती है। कुल मिलाकर
इस वात को हम महावीर मे-से हो कर समझें कि वर्द्धमानता इस लोक
मे अवस्थित द्रव्यो का स्वभाव है। ऐसा सम्भव नही है कि द्रव्य-परिणाम
न हो—असल मे इसी परिणमन/परिणाम का नाम ही वर्द्धमानता है।
महावीर ने लोकालोक की धड़कन का सम्यक् अनुवाद किया है। उसे
उसकी भापा मे समझा। समझ कर उससे वियुक्त हुए।
उन्होने यह जाना कि इस ससार मे सयोग और वियोग का चक्र अनवरत चल

रहा है। ज्ञान मे कही संयोग-वियोग नही है। अज्ञान मे है। ज्ञान जब अपने कैवल्य मे होता है तब वहाँ द्रव्य की तमाम पर्यायें युगपत् स्पष्ट होती हैं। जहाँ सपूर्णता है, वहाँ सयोग अथवा वियोग का कोई प्रश्न ही नही है। जहाँ आशिकता है सयोग या वियोग वहाँ है। कैवल्य मे अंशज्ञान के लिये कोई गु जाइश नही है, वह एक ठसाठस सार्वा शिकता है, कैवल्य है, ज्ञानघन है। सब कुछ झलक रहा है; किन्तु उस झलक मे किसी तरह की आसक्ति नही है, साझेदारी नही है।

समझें कि महावीर वह है जो इष्ट-अनिष्ट के सयोग-वियोग से ऊपर—बहुत ऊपर उठ गया है और
जो रह गया है निपट खालिश—शुद्ध आत्मतत्त्व।

महावीर को यदि जानना है तो उन्हे पूर्वाग्रह-मुक्त चित्त से एक विचार की तरह जानना होगा—जैसे ही हम उन्हे विचार से दूर ले जायेंगे वैसे ही वे हमारी समझ-की-परिधि से बाहर निकल जाएँगे।

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित जैनदर्शन का लक्ष्यबिन्दु है वस्तु-स्वरूप-की-खोज। यह कि यह क्या है, मैं क्या हूँ; यह क्यो है, मैं क्यो हूँ, मेरे चारो ओर जो यह सब कुछ है और जिसे मैं इन्द्रियो की खिडकियो से लगातार देखता आ रहा हूँ—वह क्या है?

इस 'क्या' 'क्यो' मे से सूर्योदय होता है एक ऐसी चिन्तन-प्रक्रिया का जो सत्य-की खोज की एक अप्रतिम प्रणाली है। इसे हम चिन्तन-के-क्षेत्र-की अहिंसा का नाम दे सकते हैं।

यह एक ऐसी वैचारिक सहिष्णुता और उदारता को जन्म देती है जिसकी कोख से सह अस्तित्व की सदाशयता और परस्पर विश्वास तथा भाईचारे की भावना का आविर्भाव होता है।

अनेकान्त जैनदर्शन का एक तकनीकी शब्द है। महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थ करो ने इसके प्रयोग द्वारा जहाँ एक ओर कैवल्य की प्राप्ति की, वही दूसरी ओर बिना किसी टकराहट के एक सर्वसम्मत और सर्वजनसुखाय जीने-की-कला को भी विश्व के सामने रखा। जीते सब हैं; किन्तु जीने की कला बहुत कम लोग जानते हैं। अनेकान्त द्वारा हम जहा एक ओर स्वय सुख के राजमार्ग पर आ खडे होते है, वही दूसरी ओर यह भी सोचने लगते है कि जो सीमाएँ मेरी हैं
वे ही उन लोगो की भी हो सकती है जो मेरी ही तरह के परिवेश मे समाज मे साँस ले रहे हैं।

अनेकान्त से मन मे दूसरो के लिये सम्मान और प्रीति के लिये अवकाश बनता है और व्यक्ति स्वतन्त्र चिन्तन की दिशा मे पूरी शक्ति के साथ आ जाता है। अनेकान्त का अर्थ है बहुआयाम अर्थात् यह चिन्तन-प्रक्रिया मान कर चलती है कि ससार की तमाम वस्तुओ का स्वरूप बहुआयामी है—बहुमुखीन है, अत

जब हम उसे अपने स्तर पर खोजते हैं तब उसका एक पक्ष, एक आयाम, या एक मुख ही
सामने आ पाता है। ऐसी सकीर्णताओ मे यदि हमने अंशतः जो जाना है
उसे ही अन्तिम मान ले और अड़ जाएँ की साहब, यह जो हमने जाना है वही
सही और अन्तिम है तो फिर एक तो सत्य-की-खोज आधी-अधूरी रह जाएगी,
दूसरे जो दूसरा व्यक्ति खोजी जा रही वस्तु का भिन्न पक्ष जानता है या
जान रहा है, उसे चोट लगती है—अतः हमे इस बात का ध्यान रखना होगा कि
जो हम कहते है वह एक हिस्सा है, सम्पूर्ण नही है। सम्पूर्णता को जानने के
लिये वीतराग होना आवश्यक है। राग या द्वेष वस्तु को विकलाग करदेते है
यानी उसे उसकी सम्पूर्णता मे प्रकट नही होने देते। कहा जाता है कि जो किसी
वस्तु को उसकी सम्पूर्णता मे जानने लगता है, वह चुप हो जाता है और
जो नही जान पाता वह वडवडाता रहता है; वाचाल/शब्द-कुशल बना रहता है।
हमे यह भी जान लेना होगा कि भाषा एक सुविधा है वह साध्य नही है।
शब्द की सीमाएँ है। वह पूर्ण नही हैं। वह कोई युगपत् वहुआयामी कथन
नही कर सकता। उसके द्वारा परिपूर्णता को सम्प्रेषित करना सम्भव नही है।
ऐसी स्थिति मे शब्द जो कह रहा है उसे आखिरी मान कर अपने अभिमत
पर अडिग रहना प्रायः हमारी खोज को लकवाग्रस्त कर देता है, अतः हमे
अनेकान्त द्वारा एक ही बात भलीभाँति जान लेनी होती है कि जिस वस्तु का
हम कथन कर रहे है, जिस वस्तु के वस्तुत्व की व्याख्या हम कर रहे है, वह
वहुआयामी है और शब्द एक समय में सिर्फ एक ही आयाम को अपनी गिरफ्त
मे ले सकता है अतः हमे क्रमशः यत्न करना है और अशतः जानते हुए सम्पूर्णता की
सफल यात्रा करनी है।

अनेकान्त की वगल मे खडा एक और तकनीकी शब्द मुस्करा रहा है। यह है
स्याद्वाद। स्याद्वाद का अर्थ है सापेक्ष कथन। 'स्यात्' जो 'वाद' के साथ जुड कर
प्रयुक्त है व्याकरण की दृष्टि से निपात है। निपात वह शब्द होता है
जिसकी कोई व्युत्पत्ति देना सम्भव नही होता। 'स्यात्' 'शायद' की तुल्यता का
शब्द नही है। इसका अर्थ सदेहपरक नही है, वल्कि सापेक्ष है।
स्यात् का स्पष्ट अर्थ है कि जो कह दिया गया है उसके अलावा और-और वच
रहा है जिसे आगे चल कर कहा जाएगा। स्यात् एक अर्थगत हाशिये की ओर
इशारा करने वाला शब्द है। यह हाशिया प्राय. हमारी नजर से छूट
जाता है और हम एक अर्थहीन आग्रह के कारण सत्य-के-तट तक पहुँचते-
पहुँचते रह जाते है।

स्याद्वाद के सात भग है, जिनके द्वारा हम सत्य-का-पीछा करते है। जैनदर्शन की
सवमे मुख्य वात यह है कि उसने प्रतिपाद्य को समझने-समझाने की प्रक्रिया
पर गहराई से और शीर्ष प्राथमिकता के साथ प्रकाश डाला है।
उसका कथन है कि सत्य को हम सापेक्ष (इन रिलेशन टू) ही जान सकते है। हमारी
ऐन्द्रिक सीमाएँ है। हम जो देख, सुन, सूँघ, चख या छू सकते है वह युगपत्

नही हो पाता । वह एक-समय-मे-एक होता है । ऐसी स्थिति मे हम जो
जानना चाहते हैं, उसे जानने मे बाधा पडती है । जब तक हम आत्मा,
जिसका व्युत्पत्तिक अर्थ है 'अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा'
—जो निरन्तर जानता है उसका नाम आत्मा है
के इस अर्थ पर अँगुली रखते है तब तक हमे आत्मा के सम्यक् व्यक्तित्व का
बोध होता है । यह कि आत्मा क्या है ? वह ज्ञान-रूप है । वह ज्ञानघन है ।
वह ज्ञान ही है । वह ज्ञाता-द्रष्टा है । वह जानता है और उसे दिखायी देता है ।
वह देखता नही है । ख्याल रहे : वह देखता नही है, उसे दिखायी देता है ।
वस्तुतः जो देखता है वह आग्रह-ग्रस्त हो जाता है और जिसे
दिखायी देता है, वह विविक्त हो जाता है । दर्पण देखता नही है, उसमे
प्रतिबिम्ब पड जाते हैं । वह अच्छा-बुरा कुछ नही जानता—कहता भी नही है ।
वैसा फैसला या तो वह द्रष्टा पर छोड देता है, या फिर उसे अनिर्णीत/अनकहा
पडा रहने देता है । आत्मा मे जब खालिश/केवल ज्ञान प्रकट होता है तब
कही जा कर कोई मनोज्ञ स्थिति बनती है यानी वीतरागता का उदय होता है ।
वीतरागता का मतलब होता है वस्तु-स्वरूप का दिखायी पडना—वहाँ
उसके देखने का कोई प्रयोजन नही होता । शुद्धात्म-परिणति मे रागद्वेष के
लिए कोई जगह नही है ।

जब तक हम जैनदर्शन की इस प्रक्रिया को नही समझ लेते, उसे पूरी तरह जानना
मुश्किल है ।
समझें हम भगवान् महावीर को
इस तरह कि दुनिया की तमाम अस्मिताएँ और अस्तित्व सापेक्ष हैं
निरपेक्ष यहाँ कुछ भी नही है ।
हमे जो भी जानना है उसे सापेक्ष ही जानना होगा । यह दृष्टि वैज्ञानिक है ।
विज्ञान की 'थिअरी ऑफ रिलेटिविटी' का आशय यही है ।
विज्ञान मे निरपेक्ष कुछ भी नही है—जो है सापेक्ष है
जैनदर्शन और विज्ञान की सापेक्षता मे यदि कोई अन्तर है तो मात्र इतना कि
जैनदर्शन ने सापेक्षता का उपयोग अध्यात्म के क्षेत्र मे किया है और विज्ञान
ने भौतिकी के क्षेत्र मे/अन्यथा दोनो की प्रक्रिया एक ही है ।
जैनदर्शन अन्तर्मुख है और विज्ञान बहिर्मुख, अत दोनो की तुलना करे
किन्तु दोनो की विशिष्टताओ को विस्मृत कर
इनकी विवेचना कदापि न करे । जब भी हम दोनो के सदर्भो को गडबडा
देते है,
विवाद उठ खडा होता है, अतः ऐसा करने से हमे यथासभव बचना चाहिये ।
जैनदर्शन तत्व-शोधन की प्रक्रिया है ।
वह मानता है कि सपूर्ण लोक द्रव्य-रचित है । द्रव्य छह है—जीव, पुद्गल,
धर्म, अधर्म, आकाश, काल । सब स्वतन्त्र है । सबके व्यक्तित्व अबाधित है ।

ये ये है; अतः सभव ही नही है कि जीव पुद्गल हो वैठे और पुद्गल काल और काल धर्म या अधर्म। सब अपनी-अपनी सत्ता मे अवस्थित रहते है। कभी नष्ट नही होते। इनमे से जीव और पुद्गल सचल है, शेप अचल–एक। पुद्गल का अर्थ है—जिसका पूरण और गलन हो अर्थात् जो सघात की प्रक्रिया मे स्कन्ध-रूप होता है और भेद की प्रक्रिया मे परमाणु तक जाता है। परमाणु है मूर्त, किन्तु है इन्द्रियातीत। वह सूक्ष्म-सूक्ष्म है। वह स्वय का आदि, स्वय का मध्य और स्वय का अन्त है। हमारा सम्पूर्ण लोक/यह दृश्य जगत् स्कन्ध-प्रभव है। जीव और पुद्गल के सयोग का नाम ससार है और इनके विविक्त होने का नाम मोक्ष। खयाल रहे—

जैनदर्शन ने कर्मसिद्धान्त को बड़े गहरे मे जा कर पकडा है। वह सिर्फ 'जैसा बोना वैसा काटना' तक ही सीमित नही है; वलिक उससे काफी आगे है। कार्मण वर्गणा विशिष्ट पुद्गल-स्कन्ध होते है; जिनके संयोग-वियोग से जीव वद्ध-मुक्त होता है। कर्म मूर्त है, सूक्ष्म है वे, किन्तु मूर्त है। तत्त्व सात है—जीव, पुद्गल, आस्रव, वध सवर, निर्जरा, मोक्ष। जीव से पुद्गल का पृथक्कीकरण मुक्ति है। तप मे-से भेद–विज्ञान और भेद-विज्ञान की यथार्थ समझ मे–से तप का आविर्भाव होता है।

जब यह प्रतीति होती है कि जीव और पुद्गल की अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताएँ है, 'तब उत्पादव्ययध्रौव्य' का सूत्र स्पष्ट होता है।

जीव-पुद्गल श्लिष्ट दीखते है, है नही-इस वोध के साथ कोशिश शुरू होती है इन्हे पृथक् करने की। कर्म कैसे वँधते है इस प्रक्रिया को जानते ही इस वात का वोध होने लगता है कि इन्हे अलगाया कैसे जाए, और वद्ध कर्मो की निर्जरा कैसे की जाए ?

जैनाचार्यो ने कर्मनिर्जरा के सिद्धान्त को काफी विस्तार से समझाया है। हम यहाँ उतने विस्तार मे न जा कर मात्र इतना ही कहेगे कि जैनदर्शन ने परमाणु को गहरे मे जाना है और उसके स्वरूप को इतनी वारीकियो मे खोजा है कि लोक के वहुतेरे धुँधलके स्पष्ट हो गये है। यह तथ्य कि परमाणु इस लोक की सरचना का अन्तिम घटक है—जैनदर्शन सदियो से प्रतिपादित करता आया है। जिन तथ्यो को पहले खोजा गया है और जिन्हे आज खोजा जा रहा है उनके लक्ष्य-विन्दु भले ही जुदा हो किन्तु निष्कर्ष प्रायः एक ही हैं। पुद्गल और जीव के स्वरूप मे-से ही जैनदर्शन ने ससार और मोक्ष की व्याख्या की है।

जब हम भगवान् महावीर की अँगुली पकड़े दर्शन की ऊँचाइयो से उतर कर आचार की तराइयो मे आते है तव लगता है कि जैनदर्शन और जैनाचार दो अलग पडाव नही है वलिक दोनो के मध्य एक स्पष्ट सेतुवध है। भगवान् महावीर ने जैनाचार की सूक्ष्मतर व्याख्या की है। गौतम गणधर ने उनसे अनगिनत प्रश्न किये है और महावीर ने उन सवके

स्वानुभूत/अचूक उत्तर दिये है। ये प्रश्नोत्तर मननीय हैं।
मुश्किल सिर्फ यह है कि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय प्राकृतो मे है, अतः जब तक हम इन्हे ठीक-ठीक जान नही लेते तब तक मौलिकताओं का रसास्वाद नही कर सकते। यह नही कि
यह सब-सारा हिन्दी आदि भाषाओ मे उपलब्ध नही है, है, किन्तु जो आनन्द मूल मे होता है, वह अनुवाद या द्वितीय/तृतीय सम्प्रेषण-सोपान पर सभव नही है। प्राकृतें कठिन नही हैं; किन्तु प्रयत्नाभाव के कारण आज हम
महावीर–के-महावीरत्व से लगभग कट गये है। इस समय हम एक ऐसे घातक दौर से गुजर रहे हैं, जो महावीरत्व के सदर्भ मे धार्मिक और आध्यात्मिक निरक्षरता का दौर है। कठिनाई यह है कि
कोई भी
महावीर को उनके सम्यक्त्व मे पाने की तैयारी मे नही है। वह इतना व्यस्त और कमजोर है कि उसके मन मे-से उन्हे जानने की उत्कण्ठा ही प्रायः लुप्त हो चुकी है।
जैनाचार की नीव अहिंसा है। वस्तुतः जैनधर्म को तीन स्थितियो मे समझने का प्रयास करना चाहिये—अनेकान्तमूलक दर्शन, भेदविज्ञानमूलक तप, और अहिंसामूलक आचार।
जैनाचार की बुनियाद मे अहिंसा की धडकन है, जिससे रिजाइन करके या जिसे अनसुनी करके हम उसे रेशे-भर भी नही समझ सकते।
अहिंसा का—महावीर की अहिंसा का—मतलब क्या है ? क्या यह किसी जीव के हनन तक ही सीमित है, या इसकी जड़ें और गहरी है ? खयाल रहे, ये काफी गहरी है। ये मनुष्य के तमाम पातालो को छू कर उसकी बुनियाद तक गयी है।
हिंसा केवल इतने मे ही नही है कि आपने किसी को मार डाला है बल्कि यदि आपने उसे मारने का सकल्प भी कर लिया है और घटना वस्तुतः घटित नही भी हुई है तो भी हिंसा वहाँ है। आप किसी को मारें, सतायें, या उससे बदला लें, या उसे किसी पसोपेश मे डालें—वह हिंसा है। हिंसा का द्वार सबसे पहले मनुष्य के भीतर खुलता है, बाहर तो मात्र उसकी अभिव्यक्ति होती है। असल मे व्यक्ति सबसे पहले आत्महनन करता है और उसके बाद दूसरो का। धारा इतनी अटूट होती है कि हमारा मन इस या उस को एक ही मान बैठता है। सब जानते है कि हिंसा के विचार मे पडे बिना उसका आचार मे आना असभव ही होता है।
कई बार तो ऐसा भी होता है कि बाहर कोई हिंसा घटित ही नही होती और भीतर वह हो जाती है।
जैसे कोई मछुहारा सवेरे से जाल डाले बैठा है, किन्तु सूर्यास्त तक उसके जाल

मे एक भी मछली नही है तो भी महावीर कहते है कि मछुहारे के मन ने
मछलियाँ पकडी है और वह हिंसा का भागी हुआ है।
दूसरी ओर एक शल्य-चिकित्सक ऑपरेशन कर रहा है और वैसा करते-करते
सबन्धित रोगी के प्राण-पखेरू उड़ जाते है
तो बाहर हिंसा के घटित होने पर भी वहाँ हिंसा नही हुई है चूँकि
चिकित्सक के भीतर 'मारना' नही था 'जिलाना' था। उसके उपकरण
की धार रोगी को बचाने के लिए थी, उसे मारने के लिए नही। कुल
मिलाकर महावीर की अहिंसा गहराई-से-भी-अधिक गहरे गयी है और
उसने सभ्य मनुष्य को अधिक सभ्य बनाया है। इस तरह जैनधर्म/जैनाचार का
सम्पूर्ण ढाँचा भावना/नीयत की नीव पर खडा है।

सत्य मात्र कथन तक सीमित नही है। वह जीवन मे प्रकट होने के लिए है।
जहाँ अहिंसा है, वहाँ सत्य की स्थिति न हो यह असम्भव है; किन्तु भगवान्
महावीर ने सत्य को लेकर एक बहुत गहरी बात कही है। वह यह कि
इस लोक मे वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्य-रूप है।
सत् जहाँ भी है—वह उत्पन्न होता है, लुप्त होता है, और फिर भी
अवस्थित रहता है।
हम समझे यहाँ कि सत्/द्रव्य गुण-पर्यायवान् है। गुण गुणी को कभी नही
छोड़ता; इसी तरह पर्याय भी उसे नही छोडती। हम समझे यहाँ यह
कि सत् की कोई न कोई पर्याय तो होती ही है। पर्याय की अनुपस्थिति
मे कोई द्रव्य नही होता। कोई-न-कोई अभिव्यक्ति तो द्रव्य की
होती ही है; अतः निष्कर्ष मे हम यह जाने कि पर्याय के बिना कभी कोई
द्रव्य नही हो सकता। वस्तु-स्वातन्त्र्य के लिए वस्तु मे गुण-पर्याय होगे
ही। वह वस्तु की अपरिहार्यता है।
उत्पाद और व्यय पर्याय के श्वासोच्छ्वास है और ध्रौव्य—वह गुण की
वजह से है। जब हम उत्पादव्ययध्रौव्य के सूत्र को समझने का प्रयास करते है,
उसे उसके पूरेपन मे जानना चाहते हैं तब लगता है कि कोई भी
द्रव्य पर्याय की दृष्टि से ही बनता-मिटता है, और गुण की दृष्टि से
ध्रुव रहता है।
कष्ट पर्यायबुद्धि मे है। जब हम पर्याय-मे- सत्य को खोजने लगते है तब कठिनाई
आ खड़ी होती है; किन्तु जब हम पर्याय-के-सत्य को जानने लगते है
तब सारी कठिनाइयाँ विलुप्त हो जाती है—
इसलिए यदि सत्य को ढूँढना/पाना ही है तो उसे इन तीनो मे युगपत् खोजना
होगा। जानना होगा लोक-के स्वरूप को और जानना होगा इस मर्म को
कि द्रव्य कभी नष्ट नही होता, उसकी पर्याय मात्र बनती-मिटती है। पूर्व
और उत्तर पर्याये मे एक–दूसरे के लिए जगहे खाली करती रहती है। पूर्व

पर्याय छूटती है, उत्तर आ खड़ी होती है, उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय के स्थान पर आ जमती है और फिर उसे भी कोई उत्तर पर्याय स्खलित कर देती है अतः वह नौ-दो-ग्यारह हो लेती है। यह क्रम अन्तहीन है: किन्तु इसे सम्यक्त्व के धरातल पर ही भलीभांति समझा जा सकता है।
जाने हम कि समग्र जैन दर्शन सम्यक्त्व की नींव पर खड़ा है।
उसने इस सम्यक्त्व को एक त्रिभुज मे खोजा है। त्रिभुज है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। दर्शन का सम्यक्त्व सही-सन्तुलित रुचि मे, ज्ञान का स्वरूप-बोध मे और चारित्र का स्वरूपाचरण मे। इस तरह जैनधर्म और जैनदर्शन के केन्द्रबिन्दु सत्य हैं। इन्हे मन, वचन और काय मे-से भरपूर प्रकट होना चाहिये।

अस्तेय अहिंसा और सत्य के बाद का सकल्प है।
जब हम दूसरो का अधिकार झपटते हैं, तब कठिनाई खडी होती है।
जो जिसका अधिकार-क्षेत्र है उसे वही बने रहना है। जब कोई अपनी अधिकार-परिधि को लाँघ कर दूसरे के अधिकार-क्षेत्र मे पांव रखता है तब वह चोरी करता है। जो जिसका प्राप्य है, वह उसे मिले
सम्पूर्ण प्रकृति और लोक की सामान्य व्यवस्था यही है। जब हम इस स्वाभाविकता मे से हट कर किसी वैभाविकता मे जाते है या जाने का प्रयास करते है तब वह तस्करी है।
तस्करी स्वभाव से स्खलन का नाम है।
चोरी एक सूक्ष्म धारणा है। स्वय को पर्याय-बुद्धि मे डालना/उलझाना भी चोरी है। चोरी कोई मात्र स्थूल स्थिति नही, है, वह सूक्ष्मतर स्थिति भी है। वह मानव-मन ही नही प्राणि-मन मे बहुत गहरे पडी मूर्च्छा है।
उस तक अपनी समझ-की-नोक को दौडाना कोई बहुत आसान काम नही है
वैसा करने के लिए सब मे पहले अपनी प्रज्ञा को मांजने/बुहारने की आवश्यकता है।
जब तक हम अपनी प्रज्ञा को सम्यक्त्व-की-रेत से खूब मांज नही लेते, कुछ हो नही सकता। इस/ऐसे परिष्कार मे-से ही प्रकट होता है क्रमशः अस्तेय। भगवान् महावीर के अस्तेय को समझना कठिन जरूर हैं; किन्तु उसे एक बार पाने के बाद सम्भवतः कुछ और पाने को फिर बच नही रहता है।

अस्तेय के बाद है अपरिग्रह। यह समता/साम्य के विकास की प्रक्रिया है।
जब हमे यह बोध होने लगता है कि 'इद न मम' यह मेरा नही है
मैं कुछ यदि हूँ तो मात्र ट्रस्टी हूँ
तब प्रकट होती है अपरिग्रह के-सूर्य-की-रोशनी। अपरिग्रह दो शब्दो से बना है। 'अ' का अर्थ सम्पूर्ण निषेध नही है, उसका अर्थ स्वल्पतर होते जाना है।
'अ' कोई अक नही है, परिमाण है। परिमाण को हम शून्य तक ले जा सकते है।
हम उसे घटाते या हटाते जाएँ जो स्वभाव नही है और
हम देखेंगे कि हमारा पांव उस मंजिल पर है जिसकी हमे तलाश थी। जीवन मे-से

निरर्थकताओ/मूर्च्छाओ को घटाते जाने का नाम है अपरिग्रह और उन्हे सम्पादित/प्रतिपादित करने की सज्ञा है परिग्रह। मोह क्या है? पर्याय मे गहन मूर्च्छा। हम जब विभाव को स्वभाव मानने की भूल करने लगते है तब शुरू होता है वस्तु की स्वतन्त्रता का हनन।

जैनधर्म का प्रमुख प्रतिपाद्य है वस्तु-स्वातन्त्र्य। महावीर ने वस्तु-स्वातन्त्र्य पर जितना बल दिया है और किसी पर नही। उन्होने साम्य/समत्व को उसकी समस्त भगिमाओ मे जाना और बताया है। देखा उन्होने कि वैषम्य के कितने छल और कितने रूपान्तर हो सकते है और सम्यक्त्व द्वारा उनसे कैसे निबटा जा सकता है?

महावीर ने परिग्रह पर अपने समकालीन सन्दर्भों में भी विचार किया। उन्होने देखा कि समाज मे नारी की स्थिति द्वितीयक/गौण है। शोषण के अन्तहीन दुष्चक्र मे पडी हुई है। उन्होने इस स्थिति-वैषम्य पर विचार किया। वे इसे लेकर बहुतगहरे गये। उन्होने इतिहास के पृष्ठ भी पलटे और पाया कि वह एक असूझ सामाजिक दासता की बेडियों मे जकडी हुई है। उसे भी परिग्रह मे सम्मिलित किया गया है। वह ठीक वैसी ही है जैसे जमीन, जायदाद, स्वर्ण, रजत, ऊँट, हाथी आदि। उन्होने इस सामाजिक विषमता को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य मे समझने की कोशिश की और व्रतो को एक नया आयाम दिया।

अब तक चातुर्याम थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और अपरिग्रह। उन्होने इस पक्ति मे एक और आयाम जोड़ा—ब्रह्मचर्य।

ब्रह्मचर्य सिर्फ सयम का प्रतीक नही है, वह नारी-मुक्ति/वीमैन-लिब का मैनीफेस्टो (घोषणा-पत्र) भी है। ब्रह्मचर्य के द्वारा महावीर ने नारी को तमाम धार्मिक, परम्परित सामाजिक दासताओ से मुक्त किया/उन्हे मुक्त करने का सूत्रपात किया। उन्होने देखा कि जो जैनधर्म वस्तु-मात्र की स्वाधीनता की बात कहता है वह परिग्रह के अन्तर्गत नारी को पराधीन क्यो रखना चाहता है?

अतः उन्होने ब्रह्मचर्य के उद्घोषण द्वारा नारी को वह यौन आजादी प्रदान की जो पुरुष को अपरिग्रह के अन्तर्गत प्राप्त थी। इस तरह उन्होंने नर-नारी के सामाजिक सन्तुलन को प्रवर्तित किया। उन्होने माना कि यदि पुरुष नारी-मुक्त हो सकता है तो नारी भी नर-मुक्त हो सकती है। सामाजिक क्रान्ति का यह इतना बड़ा जयघोष था कि न तो इसे तब ठीक से समझा जा सका और न ही आज समझा जा रहा है। आज भी हम तत्कालीन निष्प्राण परम्पराओ को ढो रहे है, किन्तु भगवान् महावीर के ब्रह्मचर्य-प्रवर्तन की पृष्ठभूमि पर जो विचार था उसकी ओर हमारा ध्यान नही है। यदि आज का समाज - मानव-समाज - नारी मुक्ति के इस सन्दर्भ को ठीक से पचा सके तो आधी दुनिया का चेहरा बदल सकता है और बदले चेहरे वाली

आधी दुनिया शेष आधी दुनिया को बदल सकती है। मानिये, भगवान् महावीर के आधुनिकता-बोध को हम तभी समझ सकते हैं जब हम अहिंसा-से-ब्रह्मचर्य तक की तमाम अर्थच्छवियो को ठीक-ठीक समझ सकें। समझें यह कि जो आदमी आज से लगभग ढाई हजार साल पहले हुआ था वह आज भी कितना तरोताजा और प्रासंगिक है।

ये कुछ संदर्भ हैं जिनमे भगवान् महावीर को समझा जाना चाहिये और आज की अशान्ति और आज के इस जानलेवा सत्रास से जूझना चाहिये व्यक्ति को, समूह को। □

●

नहीं दबे
अढाई हजार वर्षों के
मलबे के तले
'महावीर'
बिखर गये
छू कर
मन्वन्तर संवत्सर
बन गई
चिति ही स्थिति
हो गया निमज्जित
महाध्यान में
काल का कोलाहल !

—क० सेठिया

भारतीय सांस्कृतिक एकता के सूत्रधार

भगवान् शंकराचार्य

डॉ० भगीरथ मिश्र

शकराचार्य, भारत के ही नही, वरन् समस्त विश्व मे सबसे कम अवस्था के अद्वितीय तत्त्व-चिन्तक थे। अपनी आठ वर्ष की अवस्था मे ही, जबकि लोग लिखना-पढना आरम्भ ही करते है, उन्होने समस्त वेदो, उपनिषदो और दर्शन-शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और सोलह वर्ष की अवस्था मे ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और श्रीमद्भगवतगीता का भाष्य लिख लिया था, जो अद्वैत दर्शन की स्थापना करने वाला था। अद्वैत मत के प्रचार का वही आधार बना था। अद्वैतपरक, तत्त्वमूलक प्रस्थान त्रयी की व्याख्या, उनके विराट् विश्वव्यापी तथा सूक्ष्मदर्शी दृष्टि-कोण को स्पष्ट करने वाली है। यदि वे केवल व्याख्या या भाष्य करके ही रह जाते, तो वे केवल एक विद्वान् के रूप मे ही प्रतिष्ठित होते, परन्तु उन्होने अपने इस अद्वैत दर्शन का उपयोग उस समय के सभी मतो, पंथो और दार्शनिक वादो तथा साधना-पद्धतियो के परखने के लिए भी किया। साथ ही अपनी प्रखर बुद्धि, दैवी प्रतिभा और अद्भुत तर्कशक्ति एव अगाध निष्ठा के बल पर अन्य सभी मतवादों और साधना-पद्धतियों का खडन कर, सारी वेदविरोधी धारणाओ एवं अनात्म दर्शनो का खडन करके उन्होने विभिन्न मतानुयायियो को अपने अद्वैत वैदिक दर्शन का पक्षधर और अपना शिष्य बनाकर अपने मत के प्रचार मे निष्ठा के साथ प्रवृत्त किया।

साधक वे होते है, जो तप, निष्ठा और श्रम से किसी तत्त्व की प्राप्ति मे सलग्न रहते हैं, सिद्ध वे होते हैं, जो साधना की परिपूर्णता के साथ सिद्धि प्राप्त करते है और अपने शिष्यो और जिज्ञासुओ की शकाओ का समाधान करते है तथा प्राप्त तत्त्व का पूरा रहस्य जानते है। परन्तु जिन्हे बिना तप, निष्ठा और श्रम के ही सारा तत्व-ज्ञान सहज जन्मजात रूप मे प्राप्त होता है, तथा जो अपने बल और प्रतिभा के प्रभाव से, अपने सम्पर्क मे आने वाले सभी लोगो को प्रभावित करते है, साथ ही जिनमे कोई अलौकिक अद्भुत शक्ति होती है, वे ही भगवान् कहे जाते है। आचार्य शकर इसी कारण भगवान् शकराचार्य कहे जाते है, क्योकि उन्होने अपने गहरे तत्वज्ञान, अद्भुत व्यक्तित्व और विलक्षण प्रतिभा के द्वारा अपने गुरु आचार्यो तथा प्रखर बुद्धि के शिष्यो को केवल प्रभावित ही नही किया; वरन् अपने विरोधियो को हतप्रभ करके अपनी ओर आकृष्ट भी किया और उन्हे अद्वैत मतावलबी बनाया।

उनके अद्वैतमत का प्रचार रामेश्वरम् से लेकर काश्मीर तक एवं कामरूप (असम) से लेकर सौराष्ट्र-गुजरात और सिन्ध तक हुआ। सर्वत्र उन्होने पैदल यात्रा करते हुए वैदिक धर्म का प्रचार किया। अपने समय के सभी तीर्थ स्थानो की उन्होने एकाधिक बार यात्रा की। उनके एकान्तिक एव शिष्य-दल की यात्रा के मुख्य स्थल है—शृ गेरी, ओंकारेश्वर, महेश्वर, प्रयाग, काशी,

वदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, हरिद्वार, हृषिकेश, उज्जैन, श्रीशैल, कालहस्ती, कांची, रामेश्वरम्, श्री रंगपट्टम्, पढरपुर, नासिक, पुरी, गया, मगध, पुनः वाराणसी, द्वारका, पेशावर, श्रीनगर, नैमिषारण्य, अयोध्या, वगदेश, असम (कामरूप), कामाख्या, गौडदेश, नेपाल मे पशुपतिनाथ, पुन. वदरिकाश्रम, हिमाचल प्रदेश, पुनः वदरी धाम, केदारनाथ, कैलाश आदि। अकेले अपने ग्राम कालडी से निकले शकर को शृ गेरी मे प्रेरणा मिली और नर्मदातट पर ओकारेश्वर की सिद्धगुफा मे समाधिस्थ अपने गुरू श्री गोविन्दपादाचार्य से दीक्षा लेकर तथा उनकी आज्ञा से उन्होने वदरीनाथ क्षेत्र मे स्थित व्यास गुफा मे ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और भगवद्गीता का भाष्य लिखा। वहाँ से स्वय भगवान् वेदव्यास की आज्ञा और प्रेरणा से अपने मत की पुष्टि और आलोचना हेतु वे प्रयाग धाम मे गये, जहाँ पर वयोवृद्ध दार्शनिक एव वैदिक कर्मकाण्डी कुमारिल भट्ट उस समय रह रहे थे। आचार्य शकर उनके साथ शास्त्रार्थ करके कर्मकाण्ड के स्थान पर अद्वैत ब्रह्म ज्ञान की स्थापना करना चाहते थे। इसके साथ ही उन्हे अपने मत का विश्वासी वनाकर, उनसे अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य पर वार्तिक लिखाना चाहते थे।

जिस समय आचार्य शंकर पवित्र गगा का दर्शन करते हुए प्रयाग पहुँचे, उस समय लोगो ने वताया कि कुमारिल भट्ट अपने पापो के प्रायश्चित्त हेतु अपने शरीर को तुषानल मे भस्म कर रहे है। यह सुनकर शकराचार्य को वडा आश्चर्य हुआ और वे शीघ्र आचार्य भट्ट के यहाँ आये। वास्तव मे कुमारिल भट्ट स्वय एक अवतारी पुरुष थे। वे दक्षिण भारत के चोल प्रदेश मे एक ब्राह्मण कुल मे जन्मे थे। अल्पावस्था मे ही उन्होने समस्त वेदो और शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्होने अनात्मवादी बौद्ध और जैन मतो का खडन करके वैदिक कर्मकाण्ड की स्थापना की थी। परन्तु उनका जीवन विचित्र घटना-पूर्ण था। कहते है कि सुप्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक धर्म-कीर्ति कुमारिल भट्ट के भतीजे थे, जो वौद्ध धर्म ग्रहण कर नालदा चले गये थे। वहाँ जाकर उन्होने प्रसिद्ध बौद्ध धर्माचार्य धर्मपाल से दर्शन मे विशेष योग्यता प्राप्त की थी। बौद्ध दर्शन मे पारगत होकर घर लौटे तो उन्होने कुमारिल भट्ट को शास्त्रार्थ करने के लिए आमन्त्रित किया, शर्त यह थी कि जो हार जायेगा, वह दूसरे का धर्म ग्रहण कर लेगा। वैचारिक शास्त्रार्थ मे पराजित होकर उन्हे बौद्ध धर्म ग्रहण करना पडा और विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए उन्होने नालदा के वौद्ध विहार मे जाकर आचार्य धर्मपाल का शिष्यत्व ग्रहण किया। परन्तु वैचारिक शास्त्रार्थ मे वे हार गये—इस तथ्य पर विश्वास नही होता। इसी कारण कुछ लोगो का मत यह है कि उस समय वढते हुए बौद्ध धर्म को पराजित करने के लिए उन्होने बौद्ध विद्यापीठ नालन्दा मे जाकर वौद्ध सिद्धान्तो का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहा था, क्योकि उनका मत था कि किसी मत का खडन करने के लिए, उस मत का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। कोई भी कारण क्यो न हो, यह वात निर्विवाद है कि कुमारिल भट्ट नालदा गये और वहाँ आचार्य धर्मपाल से उन्होने वौद्ध दर्शन का अध्ययन किया।

एक दिन आचार्य धर्मपाल ने कुमारिल भट्ट तथा अन्य शिष्यो के सामने वेद की निन्दा की। उसे सुनकर भट्टपाद को बड़ा क्लेश हुआ और वे सिर झुका कर चुपचाप रोने लगे। उनको रोते देखकर आचार्य ने जब कारण पूछा, तो कुमारिल भट्ट ने आँसू पोछते हुए कहा कि आचार्यजी आप व्यर्थ ही वेद की निन्दा कर रहे है। इससे मुझे वडा क्लेश हो रहा है। इस पर आचार्य ने उन्हे प्रतारणा दी और कहा कि तुम वेद-विश्वासी प्रच्छन्न हिन्दू हो, तब तुम यहाँ क्यो आये?

कुमारिल ने उत्तर देते हुए कहा कि मैं बौद्ध दर्शन के विषय मे जानना चाहता हूँ। आपके द्वारा व्यर्थ ही वेद-निन्दा से मुझे दु:ख हुआ। इस पर आचार्य धर्मपाल ने कहा कि तुम मेरे कथन की असत्यता को प्रमाणित करो। इस पर शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। कुमारिल ने आचार्य को तर्कों के द्वारा हतप्रभ कर दिया और बोले 'सर्वज्ञ ब्रह्म की कृपा के बिना कोई सर्वज्ञ नही हो सकता। बुद्ध ने वैदिक धर्ममार्ग का अनुसरण कर ही ज्ञान प्राप्त किया था और फिर उन्होने कृतघ्न होकर उसी मार्ग का खडन किया। यह अपराध है।' आचार्य इस पर उत्तेजित हो गये और अपने शिष्यो से उन्हे छत से ढकेल देने को कहा। कुमारिल ने कहा कि यदि वेद सत्य है और भगवान की कृपा होगी, तो मेरी रक्षा हो जायेगी। छत से फेके जाने पर भी कुमारिल जीवित बच गये, तो सबको बडा आश्चर्य हुआ। इस घटना को सुनकर वैदिक धर्मावलबी लोग इकट्ठे हो गये और भट्टपाद को नालंदा के बाहर ले आये और उनका बड़ा सम्मान किया। उसके उपरान्त उन लोगो ने एक विशाल सभा का आयोजन किया और उसमे शास्त्रार्थ के लिए आचार्य धर्मपाल को बुलाया। शर्त यह थी कि जो हारेगा, वह जीतने वाले का धर्म ग्रहण करेगा अथवा तुषानल मे अपने शरीर को भस्म कर देगा।

दूर-दूर से बौद्धभिक्षु और वैदिक धर्म के विद्वान् वहाँ एकत्र हुए। कुमारिल भट्ट ने शास्त्रार्थ मे अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता तथा तर्क-शक्ति से आचार्य धर्मपाल को पराजित कर दिया। परन्तु धर्मपाल ने अपना धर्म नही छोडा और कहा कि मैं कुमारिल की प्रतिभा से परास्त तो हो गया हूँ, पर मेरी बौद्धधर्म मे आस्था नष्ट नही हुई है। मैं सघ की शरणागति से विचलित नही हूँ। अत: मैं तुषानल मे प्रवेश कर प्राण त्याग करूँगा और उन्होने ऐसा ही किया। कुमारिल की इस विजय से दूर-दूर तक वैदिक धर्म मे लोगो की आस्था जाग्रत हुई। बौद्ध धर्म पर इस विजय को गौरवान्वित करने के लिए तत्कालीन मगध देश के राजा शशाक नरेन्द्र वर्धन ने भी अवसर पाकर वैदिक हिन्दू धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया तथा बौद्ध तीर्थ स्थानो को नष्ट भी किया।

कुमारिल भट्ट ने पहले उत्तर भारत मे विजय अभियान चलाया और फिर दक्षिण भारत पर भी विजय पताका फहराने के लिए निकल पड़े। आचार्य धर्मपाल की पराजय के बाद किसी भी बौद्ध को उनसे शास्त्रार्थ करने का साहस नही हुआ। उन्होने बौद्धो को पराजित करके वेद की प्रामाणिकता की पुन. प्रतिष्ठा की, जो बौद्धो के प्रचार से लुप्तप्राय हो गयी थी। परन्तु यह सब पुण्य कार्य करने के उपरान्त उन्होने यह अनुभव किया कि उनसे दो बड़े अपराध हो गये हैं—एक बौद्ध धर्माचार्य जो उनके गुरु थे, उनका पराजित होकर तुषानल मे प्राणत्याग और जैमिनि के मीमासा दर्शन के आधार पर यह प्रमाणित करना कि ईश्वर असिद्ध है। इन दोनो अपराधो के प्रायश्चित के लिए कुमारिल भट्ट ने तुषानल मे प्रवेश का सकल्प कर लिया था।

जब शकराचार्य प्रयाग पहुँचे, तो वे उसमे प्रवेश कर रहे थे। शकर को आया हुआ देखकर वे बडे प्रसन्न हुए और जब उन्होने भट्टपाद से वार्तिक लिखने का अनुरोध किया, तो उन्होने कहा कि मैंने ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय पर आठ हजार श्लोको का वार्तिक लिखा है, परन्तु अब यह कार्य मैं नही कर पाऊँगा। इसका मुझे खेद है, परन्तु प्रायश्चित्त का सकल्प मेरे मन मे इतना तीव्र है कि अब आप उसे छोड़ने की बात मुझसे न कहिये। आप अपने इस शास्त्रार्थ के कार्य के लिए मेरे शिष्य मडन मिश्र के पास जाइये। यदि आप उन्हे शास्त्रार्थ मे परास्त कर देगे, तो वह मेरी भी पराजय होगी और फिर मडन मिश्र आपके शिष्य बन जायेंगे। वे आपके भाष्य पर वार्तिक तो लिखेंगे ही;

इसके साथ ही आपके वैदिक अद्वैतमत, वेदान्त-दर्शन का प्रचार भी करेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि मण्डन मिश्र मेरे शिष्य होते हुए भी मेरी विशेष श्रद्धा के पात्र हैं। आप शास्त्रार्थ के लिए उन्हे तत्पर करें और उसमे निर्णायिका मण्डन मिश्र की पत्नी भारती को रखें, जो सर्वविद्याविशारदा और सरस्वती की साक्षात् अवतार है।

भट्टपाद कुमारिल की बातें सुनकर शकराचार्य बडे ही मर्माहत हुए कि इतना बडा वर्चस्व, प्रतिभा और प्रभाव रखने वाला विद्वान्, महाप्राण, महापुरुष अपना प्राणोत्सर्ग कर रहा है। त्याग, तप, व्रत और सकल्प की यह एक पराकाष्ठा थी, पर कोई कुछ नही कर सकता था। देखते-देखते अग्निस्पर्श उनके शरीर मे होने लगा और श्री भट्टपाद ने आचार्य शकर से तारक ब्रह्म का नाम सुनाने को कहा। गभीर स्वर मे उन्होने तारक ब्रह्मनाम का उच्चारण आरम्भ किया। नामोच्चार के साथ समवेत जन-समूह का करुण क्रन्दन ध्वनित हो रहा था। उसी करुण महाघोष के साथ भट्टपाद के प्राण-पखेरू उडकर आत्मा अमरधाम को चली गयी और पचतत्वमय शरीर भस्म हो गया।

शकराचार्य उस करुण दृश्य को देखने के बाद भरे हृदय से मण्डन मिश्र से मिलने के लिए चल पडे। लम्बी यात्रा पूरी करने के अनन्तर वे मध्यप्रदेश मे नर्मदा के पवित्र तट पर अवस्थित माहिष्मती नगरी (वर्तमान मे महेश्वर) पहुँचे, जो सुप्रसिद्ध मीमासक कर्मकाण्डी मडन मिश्र का निवास स्थान था। यह माहिष्मती नगरी, ओकार मान्धाता या ओकारेश्वर के समीप ही है, जहाँ आचार्य शकर ने गुफा मे श्रीपाद गोविन्द स्वामी के समाधिस्थ रूप मे दर्शन किये थे और उनसे दीक्षा ली थी तथा उन्हे गुरु रूप मे स्वीकार कर वेदान्त सूत्रो का रहस्य समझ कर उनकी प्रेरणा से ही वेदान्त सूत्रो पर भाष्य लिखने का सकल्प किया था। अत: यह वह स्थान था जिसके आसपास उन्होने जो संकल्प लिया था, साथ ही जिसकी सम्पूर्णता भी यही होने वाली थी।

शकराचार्य ने माहिष्मती पहुँच कर विद्वान् मीमासक मडन मिश्र के घर का पता जानना चाहा। उन्होने नदी मे जल भरने के लिए जा रही कुछ परिचारिकाओ से मडन मिश्र का घर पूछा। इस पर एक परिचारिका ने उत्तर दिया—

स्वत प्रमाणं परतः प्रमाणं, कीरांगना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थ नीडान्तर सन्निरुद्धा, जानीहि तन मडन मिश्र धाम।

'जिस घर मे शुक और सारिका परस्पर यह बात करते हो कि वेद स्वत. प्रमाण है या परत प्रमाण है; कर्म फलदाता है या ईश्वर तथा जगत् नित्य है या अनित्य, आप समझ लीजिये कि वही मडन मिश्र का घर है।' इस सकेत के बाद आचार्य शकर को उनके घर पहुँचने मे देर न लगी। पर जब वे वहाँ पहुँचे, तो मडन मिश्र के द्वारपाल ने उन्हे और उनके शिष्यो को घर के भीतर जाने से रोक दिया। उसने कहा कि आचार्य मिश्र इस समय पिता का श्राद्ध कर रहे हैं, अतः आप लोग बाहर प्रतीक्षा कीजिये। शंकराचार्य ने विलम्ब होते देखकर योग बल से आकाश मार्ग से घर मे प्रवेश किया। वहाँ पर देखा कि मडन मिश्र ने मत्र बल से पूर्व मीमासा दर्शन के रचयिता जैमिनि मुनि और उत्तर-मीमासा अर्थात् वेदान्त सूत्र के रचयिता कृष्ण द्वैपायन व्यास को आमत्रित कर लिया है और स्वय उन्ही की सेवा मे सलग्न हैं। अनाहूत सन्यासी को वहाँ आया देख उन्होने क्रुद्ध होकर पूछा कि 'मुण्डी कहाँ से ?' शकर ने उत्तर दिया कि "गले से मुण्डित हूँ"। मडन ने पूछा—"तुम्हारे मार्ग को पूछ रहा हूँ"। शंकराचार्य ने उत्तर दिया—"क्या मार्ग ने आपसे कुछ

पूछा है ?" इस प्रकार शंकराचार्य, मंडन मिश्र के अनेक क्रोध-भरे प्रश्नों का विनोदपूर्ण उत्तर देते गये। मडन मिश्र के क्रोधावेश मे धृष्टता-पूर्ण व्यवहार को देखकर वहाँ उपस्थित दोनो मुनियो ने कहा कि ये सन्यासी है और अतिथि है, अतः इनका आदर सत्कार करना चाहिए। इस पर मंडन मिश्र बड़े लज्जित हुए और उनका सत्कार करके उन्हे आसन प्रदान किया तथा भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की। इस पर शकराचार्य ने उत्तर दिया कि मैं भिक्षा-प्रार्थी होकर नही, शास्त्रार्थ-प्रार्थी होकर आया हूँ और वही मुझे चाहिए। उन्होने यह भी बताया कि मै प्रयाग मे आचार्य कुमारिल भट्ट के निकट से आ रहा हूँ। उनसे भी मैने विचार-विमर्श की प्रार्थना की थी; पर उन्होने गुरुवध और ईश्वर के नास्तित्व प्रचार-रूप पाप के प्रायश्चित-हेतु तुषानल मे प्रविष्ट होकर महा प्रस्थान कर लिया है। उन्होने आपकी प्रतिभा और विद्वत्ता की बडी प्रशंसा की और आपके साथ शास्त्रार्थ करने का परामर्श दिया और यह भी कहा कि यदि मडन मिश्र शास्त्रार्थ मे पराजित हो जाते है, तो आप मुझे भी पराजित मानिये। इसलिए आपका मै शास्त्रार्थ के लिए आवाहन करता हूँ। यदि आप पराजित हो गये, तो आप मेरा मत मान लेंगे और सन्यास ग्रहण कर मेरे शिष्य बन जायेंगे और फिर मेरे द्वारा लिखित प्रस्थान त्रयी के अद्वैतपरक भाष्य पर वार्तिक लिखेंगे। और यदि मैं पराजित हो जाता हूँ, तो मै आपका शिष्य होकर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कर कर्म करूँगा। आचार्य मडन गुरु के देह-त्याग की बात सुनकर बड़े दुखी हुए। थोडी देर शान्त रहकर कहा कि मैं आपके साथ शास्त्रार्थ का आवाहन स्वीकार करता हूँ। उन्होने इस शास्त्रार्थ मे मध्यस्थ होने के लिए दोनो मुनियो से प्रार्थना की, परन्तु उन्होने इसे स्वीकार न कर मण्डन मिश्र की पत्नी भारती को, साक्षात् सरस्वती होने के कारण, मध्यस्थ बनाने की सलाह दी। शंकराचार्य ने भी इसे स्वीकार कर लिया। तदनन्तर मण्डन मिश्र ने शकराचार्य से निवेदन किया कि आज मैं श्राद्ध-कर्म समाप्त कर लूँ। कल हम लोग विचार मे प्रवृत्त होगे। तब तक आप मेरी अतिथिशाला मे विश्राम करें।

दूसरे दिन प्रातःकाल शास्त्रार्थ के लिए दोनो आचार्य तथा अनेक विद्वान् और जिज्ञासु लोग एकत्र हुए। दोनो पक्षो की सम्मति से सकोच के साथ भारतीजी मध्यस्थ के आसन पर आसीन हुई और दोनो से अपना अपना मत प्रस्तुत करने का अनुरोध किया। मण्डन मिश्र ने कहा कि आचार्यजी विचार-प्रार्थी होकर आये है, अतः वही पहले अपना पक्ष प्रस्तुत करे, मैं उसका खडन करूँगा। इससे सहमत होकर शकराचार्य ने अपना मत प्रस्तुत किया। उन्होने कहा कि "वेद के अनुसार अद्वैत ब्रह्मज्ञान ही जीवन का उद्देश्य है। कर्म और उपासना उस ज्ञान को प्राप्त करने अर्थात चित्त की शुद्धि के उपाय है। कर्म और उपासना के द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि या सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' की अनुभूति होती है। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मज्ञान से जीव की मुक्ति होती है। उसका पुनर्जन्म नही होता। कर्म या उपासना के द्वारा साक्षात् रूप से मुक्ति नही होती।"

मण्डन मिश्र ने आचार्य शकर के पक्ष का खडन करते हुए कहा कि "कर्म ही वेद का तात्पर्य है। कर्म के फलस्वरूप अनन्त स्वर्ग रूपी मुक्ति प्राप्त होती है। आत्मा और ब्रह्म की अभेद-भावना कर्म की पूर्णता का द्योतक है। अनन्त काल तक कर्म करते रहने से ही अनन्त स्वर्ग मिलता है।" इन स्थापनाओ के खण्डन और अपने मत के मण्डन मे दोनो आचार्यो ने अपनी-अपनी युक्तियाँ और तर्क प्रस्तुत किये और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार होने लगा। यह विचार-मथन और

शास्त्रार्थ सत्रह दिनों तक चला। प्रतिदिन भारती दोनो आचार्यो के गले मे मालायें डालती थी और वे दोनो के ही कण्ठो मे अम्लान रहती थी। अठारहवे दिन आचार्य शकर ने मुण्डक और कठोपनिषद् से उद्धरण देते हुए जिस प्रकार अपने मत का प्रतिपादन किया, उससे मण्डन मिश्र निरुत्तर और हतप्रभ हो गये। उनके गले की माला म्लान हो गयी। इस पर भारतीजी ने भी व्यथित होकर अपने पति को पराजित घोषित कर दिया।

इस पर आचार्य मडन मिश्र ने अपनी हार मानकर कहा कि "अब मुझे आपके मत मे सन्देह नही रहा। अब मैं आपका शिष्य हो जाऊँगा। अगर आप मुझे सन्यास के अधिकारी समझे, तो मुझे संन्यास की दीक्षा दीजिये"। अपने पति के इन वाक्यो को सुनकर भारती ने कहा कि "मेरे पति की पराजय अभी पूर्ण नही हुई है। शास्त्र मे पत्नी को अर्द्धाङ्गिनी कहा गया है। अब मैं आपसे शास्त्रार्थ करूँगी। जब आप मुझे भी पराजित कर देंगे, तभी आप पूर्णतया विजयी होगे और मेरे पति आपके शिष्य।" शकराचार्य ने कहा कि "यशस्वी लोग स्त्री के साथ वाद-विवाद मे प्रवृत्त नही होते। अतः आपकी यह इच्छा उचित नही है।" इस पर भारती देवी ने उत्तेजित होकर कहा कि "आप स्त्री को तुच्छ क्यो समझते है? याज्ञवल्क्य–गार्गी, राजर्षिजनक–सुलभा आदि पुरुष–नारी के शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है। यदि आप मेरे साथ शास्त्रार्थ नही करते तो अपनी पराजय स्वीकार कर लीजिये।" इस पर शकराचार्य शास्त्रार्थ के लिए तैयार हुए और दोनो मे शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। सूक्ष्मतर विषयो पर विचार होने लगा। सत्रह दिनो तक शास्त्रार्थ चलता रहा। उपस्थित पडित-मडली भारती की विद्वत्ता देखकर विस्मित हो गयी। पर कुछ निर्णय नही हो सका। अठारहवे दिन एक विषम परिस्थिति उत्पन्न हुई। भारती ने कामशास्त्र पर प्रश्न किये। "काम क्या है? कामकला कितने प्रकार की होती है? किन-किन अगो मे काम का निवास रहता है? किन-किन क्रियाओ से उसकी उत्तेजना और तिरोभाव होता है? शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष मे पुरुष और नारी के शरीर मे काम की वृद्धि और उसका ह्रास किस प्रकार होता है? तथा नारी किस प्रकार से पुरुष के ऊपर काम कला का प्रभाव डालती है?" इस पर शकराचार्य नतशिर बैठे रहे और फिर कहा कि "देवि, आप शास्त्रीय प्रश्न करे। संन्यासी से इस प्रकार के प्रश्न पूछना कहाँ तक उचित है?" इसके उत्तर मे भारती ने कहा कि "क्या कामशास्त्र, शास्त्र नही है? आप सन्यासी होकर भी जीतने की इच्छा छोड नही सके। यदि आप सन्यासी है तो आप जितेन्द्रिय है। कामशास्त्र की चर्चा मे आपको चित्तविकार क्यो होगा?" इस पर मडन मिश्र ने स्वयं कहा कि "भारती, तुम्हे ऐसे प्रश्न शोभा नही देते। तुम सन्यासी को इस प्रकार लांछित न करो।" इस पर भारती ने उत्तर दिया कि "ज्ञान लाभ होने से काम-क्रोधादि पर विजय प्राप्त होती है। कामशास्त्र की आलोचना मे यदि इनके मन मे विकार उत्पन्न होता है, तो यही समझा जायेगा कि अभी तत्वज्ञान मे ये पूर्ण दक्ष नही हुए हैं और ऐसा होने पर ये आपके गुरु होने के योग्य भी नही है।"

इन बातो को सुनकर आचार्य शकर ने हँसते हुए कहा "माता, आपके उत्तर देने के लिए मैं एक मास का समय चाहता हूँ। मै सन्यासी हूँ, अतः मैं इस मुख से उत्तर न दूँगा। सन्यासी के लिए कामत्याग करना ही शास्त्र का अनुशासन है। ज्ञानी को भी लोक-व्यावहारिक क्षेत्र मे शास्त्र की मर्यादा रखनी पडती है। यदि मै ऐसा कार्य करूँ, तो सन्यास का आदर्श कलुषित होगा। अतः मैं दूसरे शरीर मे प्रविष्ट होकर आपके प्रश्नो के उत्तर लिखित रूप मे दूँगा। आशा

है, आपको उसमें आपत्ति न होगी।" इस पर भारती ने कहा—"यतिराज, यदि आप दूसरे के शरीर मे प्रविष्ट होकर यह काम करेंगे, तो क्या काम-चिन्तन से आप संन्यास-धर्म से विचलित नही होगे ?" इस पर शकर का उत्तर था कि "यदि पूर्व जन्म का चाण्डाल अगले जन्म मे ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हो, तो क्या उसके ब्राह्मणत्व की हानि होती है ?" इस पर भारती ने एक मास की समयावधि स्वीकार कर ली और शास्त्रार्थ स्थगित हो गया।

आचार्य शकर वहाँ से दक्षिण की ओर चले। वे यह सोचते जा रहे थे कि किस प्रकार मैं कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करूँ। जब ये घोर जंगल से शिष्यो के साथ निकल रहे थे, तभी उसके बीच कुछ कोलाहल सुनाई पड़ा। पास जाने पर पता चला कि राजा अमरूक, जो इस जगल मे शिकार करने आये थे, अचानक प्राणहीन हो गये है और उनके मृत शरीर को लेकर सभी रानियाँ, परिजन और मत्रीगण रो रहे है। आचार्य यह मौका देखकर, अपने शिष्यो के साथ एक सुरक्षित गुफा मे गये और शिष्यो से कहा कि "मै राजा के शरीर मे प्रवेश करूँगा; जब तक मैं वापिस न लौटूँ, तब तक इस प्राणहीन शरीर की रक्षा करना।" आचार्य ने राजा अमरूक की देह मे प्रवेश किया। उन्हे जीवित जान कर सभी लोग आनन्द और उल्लास से भर गये और गाते बजाते घर पहुँचे। उस राजकीय शरीर से आचार्य शंकर ने पडितों से कामशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर लिया और फिर राजा का शरीर छोड़कर गुफा में स्थित अपने शरीर मे वापिस आये तथा कामशास्त्र सम्बन्धी भारती के प्रश्नो का उत्तर देते हुए एक निबन्ध लिखा।

उसके अनन्तर वे समयावधि के भीतर शिष्यो सहित माहिष्मती पहुँचे और आचार्य शकर ने भारती को अभिनदित करते हुए अपना निबन्ध भेट किया और कहा कि इसी मे आपके सभी प्रश्नो के उत्तर हैं। भारती ने उसे ध्यान पूर्वक पढ़कर कहा कि "हे यतीन्द्र, इसमे मेरे प्रश्नो के पूर्ण उत्तर है और अब आपकी विजय पूर्ण हुई। अब मेरे पति श्री आपका शिष्यत्व ग्रहण करेगे और मैं अपने लोक चली जाऊँगी।" कहते है कि भारती, सरस्वती का रूप थी और दुर्वासा के शाप से मर्त्यलोक मे आयी थी, जैसा कि बाणभट्ट के हर्ष चरित मे उल्लिखित है। भारती के पार्थिव शरीर छोड देने पर आचार्य मंडन ने संन्यास ग्रहण किया और वे सुरेश्वराचार्य के रूप मे शकराचार्य के शिष्य हो गये। आगे चलकर इन्होने न केवल उपनिषदो के शाकर भाष्य पर वार्तिक की रचना की, वरन् अद्वैत ब्रह्मज्ञान के प्रचार मे बहुत बडी भूमिका निभायी। उनका "नैष्कर्म्य सिद्धि" नामक ग्रन्थ पूर्ण ब्रह्मात्मज्ञान-सम्बन्धी प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ है।

माहिष्मती से आचार्य शकर ने पद्मपाद, सुरेश्वराचार्य आदि शिष्यो के साथ दक्षिण की यात्रा करते हुए कुछ समय तक पंचवटी मे निवास किया। उसके अनन्तर वे कृष्णा और तुंगभद्रा नदियो के सगमस्थल के पास स्थित श्रीशैल नामक सुविख्यात तीर्थ स्थान मे पहुँचे। यह प्राचीन युग से ही अनेक धार्मिक मतो और सप्रदायो का सगमस्थल था। परन्तु उस समय वहाँ पर कापालिको का अधिक वर्चस्व था। अतः उन लोगो ने विरोध किया। विचार मे पराजित होकर उन लोगो ने शकराचार्य की हत्या का षडयत्र बनाया। जिस समय उनके एक तात्रिक उग्रभैरव आचार्य की बलि देने वाले ही थे, उसी समय श्री पद्मपाद अपने शिष्यो समेत वहाँ पहुँच गये और उग्रभैरव के हाथ से बलि की तलवार खीच कर उसी का वध कर दिया। इस प्रकार श्रीशैल क्षेत्र मे आचार्य का वर्चस्व चारो ओर छा गया। तदनन्तर गोकर्णतीर्थ, मूकाम्बिका, श्री बेली आदि तीर्थो का भ्रमण करते हुए वे शृंगेरी पहुँचे। मार्ग मे किसी के मृत बालक को जीवनदान दिया और किसी के अबोल बालक को वाणी प्रदान की।

शृ गेरी मे ही आचार्य शकर के मर्न मे सन्यास की वृत्ति जगी थी, यहीं उनकी प्रेरणा से मदिर और मठ तैयार हुए। मदिर मे उन्होने श्री यन्त्र की स्थापना कर उसकी प्रतिष्ठा की और इसे सनातन वैदिक विश्वधर्म की ज्योति बताया तथा सन्यासी समुदाय का गठन किया। यहाँ पर रहकर आचार्य शकर ने विवेक-चूडामणि, अपरोक्षानुभूति, दृग्दृश्य-विवेक, अज्ञानबोधिनी, आत्मबोध, वेदान्त-केसरी, प्रपचसार, सर्वदर्शन सिद्धान्त आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की। शृंगेरी मे रहते हुए ही आचार्य शकर को यह आभास हुआ कि उनकी माता कष्ट मे हैं, अत अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वे कालडी पहुँचे और अनेक सामाजिक और पारिवारिक विरोधो के बावजूद स्वय माता का अन्तिम संस्कार कर उन्होने माता की आत्मा को शान्ति प्रदान की। आचार्य शंकरकी प्रेरणा से तत्कालीन केरल के राजा राजशेखर ने केरल के कट्टरपथी समाज मे अनेक सुधार किये। इसके साथ ही उनके जीवन की अनेक अचरजकारी घटनाये भी जुडी हुई हैं। इसके अनन्तर वे कर्मयोगी के रूप मे देश के विभिन्न क्षेत्रो मे दिग्विजय करते हुए समाज मे फैले आडम्बर को दूर करते रहे और वेद–विरोधी मतो को पराजित करते रहे। अनेक राजाओ तक ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। वामाचार का वे बराबर खडन करते रहे और शक्तिपीठो को पवित्र बनाते रहे।

आचार्य शकर भारत के ध्रुव दक्षिणस्थ रामेश्वरम् भी गये और वहाँ ब्रह्मात्मज्ञान का उपदेश दिया। उसके पश्चात् वे काचीपुरम गये। तदनन्तर उडीसा के तीर्थनगर पुरी के जगन्नाथ-स्वामी मन्दिर मे गये जो प्रतिमा-विहीन था, वहाँ उन्होने चिल्का सरोवर से रत्नपेटिका समेत देवविग्रह का उद्धार कर उसकी विधिवत् स्थापना की। वहाँ से वे पुनः मगध, वाराणसी, उज्जयिनी होते हुए सौराष्ट्र पहुँचे। वहाँ से प्रभास, द्वारका, गाधार, पेशावर होते हुए श्रीनगर पहुँचे और शारदा पीठ पर पीठासीन हुए। यह सर्वज्ञपीठ माना जाता था और इस पर आसीन होने का कोई साहस नही करता था। आचार्य ने सभी विद्वानो से शास्त्रार्थ कर उनकी शकाओ का समाधान किया और उस सर्वज्ञ पीठ को पवित्र किया। काश्मीर मे ही भावावेश मे देवी की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने 'सौन्दर्य लहरी' नामक अति ललित काव्यमय स्तोत्र की रचना की। उसके बाद नैमिषारण्य, अयोध्या, गया आदि तीर्थ होते हुए बगदेश आये। तत्पश्चात वे असम (कामरूप) के प्राग्ज्योतिष्पुर पहुँचे। यहाँ पर कहते है कि तान्त्रिको के मत्र प्रभाव से उन्हे शारीरिक कष्ट हुआ, परन्तु अन्ततोगत्वा उससे उस तान्त्रिक की ही मृत्यु हुई। आगे चलकर वे गौडदेश आये, जहाँ उन्हे अपने गुरु श्री गोविन्दपाद के गुरु अद्वैतवेदान्ती गौडपाद के दिव्य दर्शन हुए। उसके बाद वे नेपाल मे पशुपतिनाथ मदिर भी गये और वहाँ यथाविधि पूजा–अर्चना पद्धति का प्रवर्तन किया। आज भी नेपाल, विश्व भर मे अकेला हिन्दू राज्य है।

इस प्रकार सारे देश का दक्षिण से उत्तर और पश्चिम से पूर्व तक परिभ्रमण कर अद्वैत-ब्रह्म का डका बजाते हुए आचार्य शकर पुनः बदरिकाश्रम आये। यही उनकी अन्तिम यात्रा थी। यहाँ पहुँचकर उन्होने अपने चार प्रमुख शिष्यो पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक और तोटक को बुलाया और रामेश्वर धाम के शृ गेरी मठ का प्रथम आचार्य सुरेश्वर (विश्वरूप) को बनाया। पश्चिम मे द्वारकाधाम के मठ का प्रथम आचार्य हस्तामलक (पृथ्वीधर) को, पुरीधाम के मठ का प्रथम आचार्य पद्मपाद को तथा उत्तर के ज्योतिर्धाम के मठ का प्रथम आचार्य तोटकाचार्य को बनाया। इन चार मठो के नाम शृ गेरी मठ, शारदा मठ, गोवर्द्धन मठ और ज्योतिर्मठ रखा गया। इस

अन्तिम कार्य को सम्पन्न कर वे केदारनाथ धाम में चले गये और प्रायः समाधिस्थ रहने लगे और अन्त मे शिष्यो को प्रवोध देते हुए आत्मस्वरूप मे लीन हो गये। उनकी देह-ज्योति केदारनाथ के अग मे समा गयी। देह त्याग के समय वे बत्तीस वर्ष के थे।

इस अल्पायु मे ही आचार्य शंकर ने भारत वर्ष की भौगोलिक यात्रा करके उसे उच्चतम अद्वैतब्रह्मात्म-ज्ञान के सूत्र मे आद्योपान्त पिरो दिया। एक वैचारिक चेतना का उदय हुआ और सारे देश मे सांस्कृतिक एकात्मता का अनुभव हुआ। आगे आने वाले भक्ति-आन्दोलन द्वारा जो भक्तो और सतो के द्वारा मानव-मानव की समता का सन्देश दिया गया, उसकी वैचारिक भूमिका आचार्य शकर ने तैयार की थी, जिसका उपयोग परवर्ती आचार्यो ने समय की आवश्यकतानुसार अपने अपने ढग से किया, पर मूल धरती शकराचार्य-द्वारा बनायी गयी थी। उनका धर्म–दर्शन वास्तव मे विश्वात्मदर्शन अथवा समग्र मानवता का तत्वदर्शन और धर्माचार था। व्यापक होने के साथ-साथ अद्वैतब्रह्मात्म दर्शन शाश्वत तत्व-दर्शन भी है। इस बात को हम आगे देखेंगे।

शकराचार्य का स्वरूप हमे तीन रूपो मे देखने को मिलता है। प्रथम एक धर्म-सुधारक एवं सच्चे मानवधर्म के प्रचारक आचार्य के रूप मे, दूसरा गहन तत्व-चिन्तक दार्शनिक के रूप मे और तीसरा भावुक प्रतिभा-सम्पन्न भक्त-कवि के रूप मे। पहला रूप हमारे राष्ट्र की एकात्मता के लिए आवश्यक है और उसका विवरण हम पहले दे चुके है। दूसरा उनका जो तत्व-चिन्तक दार्शनिक का रूप है, उसमे प्राय. लोगो को भ्रम हो जाता है, क्योकि उन्होने अन्य रूपो के साथ उसका समन्वय नहीं किया। प्राय: लोग यह कहते है कि शंकर अद्वैत-दर्शन मे भक्ति का स्थान नही, जबकि सचाई यह है कि वे जितने ऊँचे विचारक थे, उससे कही ऊँचे भक्त थे। यह बात उनकी जीवनी और उनकी स्तोत्र-स्तुति–रचनाओ से भली भाति पुष्ट हो जाती है। आचार्य शकर वेद को ही प्रमाण मानते थे। वेद के तीन भाग है—कर्म, उपासना और ज्ञान। पूर्व-मीमासा दर्शन मे यज्ञ और कर्म की व्याख्या है और उत्तर-मीमासा मे उपासना और ज्ञान की। कर्म और उपासना प्रवृत्ति मार्ग के साधन है और ज्ञान निवृत्ति मार्ग का। कर्म और उपासना से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त की शुद्धि होने पर ही आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान तथा अद्वैत ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस ज्ञान के लिए काम, क्रोध, अहकार, लोभ आदि तथा सभी प्रकार की आसक्तियाँ छोड़नी पडती है। कर्म नश्वर है, उपासना भी अनित्य है, पर ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त होने पर मुक्ति प्राप्त होती है, जिसमे आत्मा स्वयं प्रकाश ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होती है, जो नित्य है।

उपनिषदो के प्रमाण से आचार्य शकर का मत है कि ब्रह्म सत्य है, ज्ञान रूप है और अनन्त है। वही नित्य है, शेष सब कुछ अनित्य और नश्वर है। जो अनित्य और नश्वर है वह भी ब्रह्म का ही रूप है—सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म। सर्व खलु इद ब्रह्म। सब कुछ ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नही है, इसलिए 'अह ब्रह्मास्मि' मै भी ब्रह्म हूँ। यही भावना शुद्ध हृदय वाले ज्ञानी की होती है। ज्ञान की इसी अवस्था मे पहुँच कर आचार्य शकर ने "विज्ञान नौका" ग्रन्थ की रचना की, जिसमे भगवद्गीता के श्री कृष्ण के समान ही शुद्ध ब्रह्म की अनुभूति प्रकट हुई है। उसकी रचना उत्तर काशी मे हुई थी, जिसमे आचार्य शकर ने परब्रह्म के उद्गार व्यक्त किये है। आठ श्लोको मे प्रकट विचारो मे कुछ इस प्रकार है—"जिस आत्मज्ञान के अभाव मे सारे ब्रह्माण्ड का अस्तित्व बोध होता है तथा जिस आत्मज्ञान के उद्भूत होने पर उसका अस्तित्व क्षणभर मे तिरोहित हो जाता है, जो मन वाणी से परे है, वह शुद्ध, मुक्त, नित्य परब्रह्म स्वरूप मैं ही हूँ (४)

जिसके आनन्द-सीकर से विश्व के सारे प्राणी आनन्द पूर्ण हो रहे है, जिसके प्रकाश से समस्त वस्तुएँ प्रकाशित होती है, जिसके सौन्दर्य से सारा ब्रह्माण्ड सुन्दर प्रतीत होता है, वह परब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ। (६)

यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं, विनष्ट च सद्यो यदात्मप्रबोधे।
मनोवागतीतं विशुद्धं विमुक्तं परंब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ४
यदानन्द लेशैः समानन्दि विश्वं यदाभाति सत्वे तदाभातिसर्वम्।
यदालोचने रूपमन्यत्समस्तं पर ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि ॥ ६

इन उद्गारों मे ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति हुई है।

आचार्य शकर के विचार से ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी। पर निर्गुण और सगुण ब्रह्म दो नही हैं। ब्रह्म का निर्गुण अश वह है, जो मुक्तावस्था मे निष्क्रिय और आत्मलीन रहता है और उसका सगुण रूप वह है, जो अपनी माया की शक्ति से चेतन और जड स्वरूप का विस्तार करता है। विविध प्रकार के क्रिया-कलाप, भावानुभूतियाँ, गति, रूप-विलास आदि सगुण ब्रह्म की लीला है। माया के इस रूप को देखकर जीव भ्रमित और आसक्त हो जाता है। उसके भीतर मोह, आसक्ति, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध आदि के मनोविकार कार्यशील होते हैं और वह निजात्मरूप को भूल जाता है। उसे फिर प्राप्त करने के लिए वेदो ने कर्म, उपासना और ज्ञान, ये तीन साधन बताये है। निष्काम कर्म से अनासक्ति का भाव उत्पन्न होता है और उपासना से चित्त की शुद्धि होती है, अनासक्ति और चित्त की शुद्धि से वैराग्य और वैराग्य से आत्मज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्य की अनुभूति भी इसी से होती है। यह ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान ही मुक्ति है। इस मुक्ति की अवस्था मे जीव 'अह ब्रह्मास्मि' की अनुभूति प्राप्त करता है और सारा ससार उसे ब्रह्ममय दिखायी देता है।

आचार्य शकर ने ब्रह्म के किसी रूप का खडन नही किया। उनका मत था कि जो जिसका इष्ट हो, वही उसके लिए ब्रह्म है। मूर्ति मे भी ब्रह्म का दर्शन, उपासना और भक्ति से किया जा सकता है। शिव, विष्णु, गणेश, दुर्गा या देवी और सूर्य, सभी ब्रह्म के स्वरूप हैं। इन पचदेवो की उपासना का उन्होने प्रचार किया। कर्म के रूप मे उन्होने पच महायज्ञ को स्वीकार किया। परन्तु न तो कर्म ही और न उपासना ही मुक्ति को प्राप्त कराने वाली हैं। मुक्ति तो केवल ज्ञान से ही मिलती है और वह ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति रूप ही है। इसी कारण उन्होने कर्म-वादियो और अनात्मवादियो के मतो का खंडन किया। कर्मकाण्डी या पूर्व मीमासक कर्म को ही जीवन का साध्य मानते हैं, परन्तु शकराचार्य का मत है कि कर्म से फल की इच्छा होती है और तदनुसार वह पुनर्जन्म धारण करता रहता है, उसे मुक्ति नही मिलती। मुक्ति की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही होती है। उपासना से चित्त की शुद्धि होती है, जन्म-बधन से छुटकारा नही। अतः उन्होने अद्वैत ज्ञान का प्रतिपादन किया। अनात्मवादी तो जगत् के माया जाल मे ही फँसे रहते है। निर्वाण या मोक्ष तो उन्ही को प्राप्त होता है, जो चित्त की शुद्धि के उपरान्त कर्मशून्य हो जाते है। गौतम बुद्ध को भी ज्ञान की प्राप्ति, वैदिक तप और अनासक्ति के द्वारा ही हुई।

शकराचार्य ने गुरु को ऊँचा महत्व दिया। गुरु का सान्निध्य ही ज्ञान के द्वार उद्घाटित करता है। गुरु के बताये मार्ग के अनुसार पचदेवोपासना और पच महायज्ञो के आधार पर शकराचार्य ने सनातन वैदिक धर्म को सुप्रतिष्ठित किया। यह उपासना और कर्म प्रत्येक व्यक्ति

को करने का उन्होंने उपदेश दिया। उनका यह भी मत था कि प्रत्येक स्तर का व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी हो सकता है, किसी के लिए यह मार्ग बन्द नही है।

शंकराचार्य का यह विचार था कि वेद के मतानुसार सर्वज्ञ ईश्वर ही जगत् का कारण है। कर्म कारण नही है। कर्म से प्राप्त स्वर्गादि भी अनित्य है और कर्म भी अनित्य है। अजर और अमर आत्मा के ज्ञान से ही परमानन्द प्राप्त होता है। और उसी से मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। कर्म दो प्रकार का होता है, एक सकाम और दूसरा निष्काम। निष्काम भाव से शुभ कर्म करने से चित्त की शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त मे ब्रह्म का ध्यान, उसकी धारणा और समाधि सम्भव है। सब कारणो के कारण अद्वैत ब्रह्म की निष्काम भाव से उपासना और ब्रह्म के ध्यान से भी मोक्ष की सिद्धि होती है।

ब्रह्म की माया या अविद्या, जिससे कि ससार के प्रपञ्च का विस्तार होता है, अनिर्वचनीय है। वह सगुण ब्रह्म की उपाधि और ईश्वर की शक्ति है। उसका अलग अस्तिव नही है। वह छाया और मृगमरीचिका के समान है। सीपी मे चाँदी और रस्सी मे साँप की जैसी, ससार मे व्याप्त यह माया है। इसके मोह और आसक्ति से अलग होने पर वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। उससे आत्मसाक्षात्कार और ब्रह्म से अद्वैत भाव का ज्ञान होता है। यही शुद्ध और ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान ही मुक्ति है।

आचार्य शकर का तीसरा रूप कवि का था। उनकी काव्य-रचना किसी लौकिक प्रयोजन से नही है, परन्तु स्तुतियो, स्तोत्रो और आत्मप्रबोधन के रूप मे उनके जो उद्‌गार है, उनमे कविता का अमृत मधुर प्रवाह फूट पड़ा है। ऐसा लगता है, जैसे कि ये रचनाएँ अनायास उनके मुख से नि.सृत हुई हो। कुछ तो निहित भावो के कारण, परन्तु बहुत कुछ उनकी मधुरशब्दावली, ललित छन्द योजना और सरस प्रवाह के कारण उनकी रचनाएँ, अत्यन्त लोक-प्रिय है और लोक-जिह्वा पर नाचती रहती हैं। आत्म प्रबोध के लिये उनका 'चर्पट मजरिका' स्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। जिसके कुछ छन्द यहाँ दिये जाते है—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिर वसन्तौ पुनरायात. ।।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः तदपि न मुंचत्याशावायु ।।
भज गोविन्द भज गोविन्दंः गोविन्दं भज मूढ़मते ।
अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, दशन विहीन जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुंचत्याशा पिण्डम ।।६ भज०
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे ।। भज गोविन्दं ।।८

इन छन्दो से स्पष्ट प्रकट होता है कि ये कितने सरल, सरस, सहज प्रवाह-युक्त और अनायास रमरणीय है। शब्द जैसे रत्नो के समान जडे हुए हो, अथवा लताओ के बीच फूलो जैसे रगीन आभा सहित झूम रहे हो, ऐसा उनका सौन्दर्य और आनन्द से भरा हुआ काव्य है। उन्होने सभी पचदेवों की स्तुति की। शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, भवानी, त्रिपुर सुन्दरी, गगा, यमुना, नर्मदा आदि जितने भी देवी-देवता और तीर्थ उनके सामने आये, उन्होने सबके तन्मय होकर स्तोत्र रचे। उनके स्तोत्र अद्‌भुत आनन्दमय, सुन्दर और लालित्य पूर्ण है। शिव पंचाक्षर स्तोत्र का एक श्लोक देखिये—

नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय, भस्मांगरागाय महेश्वराय।
नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय तस्मै नकाराय नमः शिवाय ॥

इसमे शकरजी का एक रूप तो स्पष्ट होता है ही, साथ ही शब्दो मे एक ऐसा प्रवाह है कि अनायास याद हो जाता है। शिवजी पर कई स्तोत्र शकराचार्य ने लिखे थे, जो काव्य के सौन्दर्य से परिपूर्ण है। विष्णु स्तोत्रो के बीच उनका अच्युताष्टक, जप और कीर्तन के लिए बडा ही उपयुक्त है। क्षिप्रगति से पढा जाने वाला यह स्तोत्र एक मस्ती भरी ललित लय से युक्त है, जिसके सामूहिक पाठ के समय पाठक झूम उठते है। स्तोत्र के बोल इस प्रकार है—

अच्युतं केशवं रामनारायणं, कृष्ण दामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्री धरं माधव गोपिका वल्लभं, जानकी नायकं रामचन्द्रं भजे।
कुंचितैः कुन्तलैर्भ्राजमाननं रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः।
हारकेयूरकं कंकणप्रोज्ज्वलं किंकिणी, मंजुलं श्यामलं तं भजे ॥८

आचार्य शकर की काव्य प्रतिभा, उनका शब्द चमत्कार और वर्णच्छटा सबसे अधिक देवी स्तोत्रो मे प्रस्फुटित हुई है। वे सौन्दर्य-माधुर्य के आनन्द मे रमकर धारा प्रवाह रचना करते चले जाते है और एक अनुपात और समान ध्वनि के शब्द जैसे स्वतः आकर जुड़ते चले जाते हैं। उदाहरण के लिए 'अम्बाष्टक' के दो एक छन्द लीजिये।

चेटी भवन्निखिल खेटी कदम्ब तरु वाटीषु नाकि पटली
कोटीर चारुतर कोटीमणी किरणकोटी करम्बितपदा।
पाटीर गन्ध कुच शाटी कवित्व परिपाटी नगाधिपसुता
घाटी कुलादधिक घाटी मुदारमुखवाटीरसेनतनुताम् ॥

यहाँ पर अन्य चमत्कार तो है ही, 'ट' कार की आवृत्ति का कठिन चमत्कार भी समाविष्ट है। शकराचार्य के सबसे सुन्दर छन्द 'त्रिपुर सुन्दरी स्तोत्र तथा 'सौन्दर्य लहरी' या 'आनन्द लहरी' मे देखने को मिलते है। इनमे शब्द माधुर्य, अलकृति तथा भावो की रमणीयता एक साथ दिखायी पडती है। 'त्रिपुरसुन्दरी' के स्तोत्र के छन्द देखिये—

कदम्बवनचारिणीं मुनि कदम्ब कादम्बिनीं
नितम्बजितभूधरां सुरनितम्बिनी सेविताम्।
नवाम्बुरुहलोचनामभिनवाम्बुद श्यामलां
त्रिलोचन कुटुम्बिनी त्रिपुर सुन्दरीमाश्रये।

शंकराचार्य की सबसे सुन्दर स्तुतियाँ 'भवानी-स्तोत्र' की है। इन स्तुतियो को 'सौदर्य लहरी' या 'आनन्द लहरी' भी कहा गया है। ये स्तुतियां शिखरिणी छन्द मे लिखी गयी है, जिसकी मन्द-मन्थर गति सचमुच आनन्द और उल्लास की सृष्टि करती है। इस 'सौन्दर्य लहरी' मे मूल सौ छन्द है। इस 'भवानी स्तोत्र' को 'आनन्दलहरी' भी कहते है। इसमे भगवती पार्वती के नखशिख शृंगार, चेष्टा, क्रिया-कलाप और शक्ति तथा महिमा और गरिमा का वर्णन है। यह वर्णन इतना कवित्वपूर्ण, अलकृत और भावमय है कि इसे पढते या सुनते ही लोग आनन्द-विभोर हो जाते है। इसमे कवि शकराचार्य की सौन्दर्य-दृष्टि और तन्मयता तथा भावभक्ति प्रकट हुई है। कुछ छन्द निम्माकित है—

मुखे ते ताम्बूलं नयन युगले कज्जल कला,
ललाटे काश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता
स्फुरत्कांची शाटी प्रथु कटि तटे हाटक मयी,
भजामस्त्वां गौरीं नगपति किशोरीमविरतम् ।

विराजन्मन्दार-द्रुम कुसुम हारस्तनतटी,
नदद्वीणानाद श्रवण विलसत्कुण्डलगुणा ।
नतांगी मातंगी रुचिर गतिभगी भगवती,
सती शम्भोरम्भोरुह चटुलचक्षुर्विजयते ॥

क्वणत्कांची दामा करि कलम कुम्भस्तननतां
परिक्षीणा मध्ये परिणत शरच्चन्द्र वदना ।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधानां करतलैः
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितराहो पुरूषिका ॥

वसन्ते सानन्दे कुसुमित लताभिः परिवृते
स्फुरन्नानापद्मे सरसि कलहंसालिसुभगे ।
सखीभिः खेलन्ती मलय पवनान्दोलित जलैः
स्मरेद्यस्त्वां तस्य ज्वरजनित पीडाऽपसरति ॥

'सौन्दर्य लहरी' या 'आनन्द लहरी' के सभी शिखरिणी छन्द भगवती के सौन्दर्य, क्रिया-कलाप, क्रीडा-कौतुक का उद्‌घाटन करने वाले है। साथ ही कुछ छन्द देवी की विराट् महिमा और शक्ति का वर्णन करते है; यथा—

मनस्त्वं व्योमत्वं मरुदसि मरुत्सारथिरपि,
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम् ॥
त्वमेव त्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन विभुषे ॥

इस प्रकार उनकी कवि-प्रतिभा, सौन्दर्य दृष्टि और शब्द-शक्ति अद्‌भुत और अलौकिक थी। ऐसी प्रतिभा का कवि, दार्शनिक और धर्म सस्थापक एक साथ मानव रूप मे दुर्लभ्य है। शंकराचार्य ने भारतीय सनातन वैदिक-धर्म की अखण्डता द्वारा जो सास्कृतिक एकता का कार्य किया था, वह स्थायी और शाश्वत मानवता की एकता का है। उनका चरित आज भी हमे प्रेरणा देने वाला है। □

●

समुद नाहीं, सिखर नाही, धरती नाहीं गगनां
रवि, ससि दोउ एकै नाही, बहत नाहीं पवनां
नाद नाही, व्यंद[१] नाही, काल[२] नाही काया
जब तैं जल व्यंब[३] न होते, तब तू ही राम राया[४] —**कबीर**

१. वाद्ययन्त्र, २. समय, ३. प्रतिबिंब, ४. ईश्वर विद्यमान रहता है।

आचार्य भिक्षु : समय की कसौटी पर

—आचार्य तुलसी

चार प्रकार के पुरुष :

स्थानाग-सूत्र मे अनेक प्रकार के पुरुषो की चर्चा है। सूत्रकार ने एक व्यवस्थित वर्गीकरण करके उन पुरुषों के चरित्र का निरूपण किया है। इस वर्गीकरण की एक शैली है, जो विकल्प-प्रधान है। दो, तीन, चार, पांच आदि विकल्पो के द्वारा, व्यक्ति या वस्तु के स्वरूप-निरूपण का वह क्रम जितना रोचक है, उतना ही ज्ञानवर्द्धक है। उस सूत्र के चौथे विभाग मे सैकड़ो चौभगियाँ है। एक चौभगी के अनुसार पुरुष, चार प्रकार के होते है—

१. उदितोदित ३. अस्तमित-उदित

२ उदित अस्तमित ४. अस्तमित-अस्तमित

उदितोदित वे व्यवित होते है, जो अपने जीवन के प्रारम्भ काल मे चमकते है और अन्त तक चमकते रहते है। इस विकल्प का उदाहरण है 'भरत चक्रवर्ती'। भरत का जीवन शुरू से ही यशस्वी था। वह विद्या, कला, वल, राज्यसचालन आदि कामो मे जितना निष्णात था, उतना ही निष्णात अध्यात्म के क्षेत्र मे था। लौकिक दृष्टि से चक्रवर्ती सम्राट् बनकर शिखर तक पहुँच गया। इसी प्रकार लोकोत्तर क्षेत्र मे वीतरागता का वरण कर वह विकास के आखिरी सोपान पर आरूढ़ हो गया।

दूसरा विकल्प है उदित-अस्तमित। इसमे जीवन का पूर्व-पक्ष उज्ज्वल होता है, पर उत्तर-पक्ष कालिमा से भर जाता है। 'ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती' इसका उदाहरण है। वह पूर्व जन्म मे किये गए निदान के कारण, प्रारम्भ से अन्त तक सासारिक कामभोगो मे आसक्त रहा। अनुचर कामभोगों को भोगकर वह अनुचर नरक को प्राप्त हुआ।

तीसरा विकल्प है अस्तमित-उदित। इसमे, जीवन का पूर्व-पक्ष धूमिल होता है पर उत्तरपक्ष उज्ज्वल हो जाता है। चाण्डालपुत्र 'हरिकेशबल', प्रारम्भ मे बहुत गुस्सैल था। इस कारण उसे अपने साथियो मे अपमानित होना पडा और प्रतिकूल परिस्थितियो से गुजरना पडा। सॉप और अलसिए की एक घटना ने उसको प्रेरित किया। उसने अपना जीवनक्रम बदल लिया। जीवन के उत्तरार्द्ध मे, सयम और तप से स्वय को भावित कर, उसने अपनी मजिल प्राप्त कर ली।

चौथा विकल्प है अस्तमित-अस्तमित। इस विकल्प मे, जीवन, सदा बुझा-बुझा रहता है। इसमे किसी प्रकार के उत्कर्ष का अवसर नही मिलता। 'काल-सौकरिक कसाई' की गणना ऐसे व्यवितयो मे होती है। वह बचपन मे जितना क्रूर था, उम्र की आखिरी सीढी पर चढने तक उतना ही क्रूर बना रहा। राजा की ओर से विवश करने पर भी वह अपने जीवन की दिशा नही बदल सका। एक दिन के लिए भी उसके मन मे करुणा का झरना नही फूट सका।

सिद्धांतवादी व्यक्तित्व :

आचार्य भिक्षु का जीवन उदितोदित था। वे 'सिंह-स्वप्न' के साथ अपनी मां के गर्भ मे आए और अन्तिम क्षण तक, सिंह-गर्जना करते रहे। वे गृहस्थ-जीवन मे पूरी तरह यशस्वी होकर रहे। मुनि जीवन मे भी उनका वर्चस्व सदा बढ़ता रहा। वे एक सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। समझ पूर्वक स्वीकृत सिद्धान्त को निभाने के लिये व्यवहार को भी गौण कर देते थे। रूढिवाद में उनकी आस्था नही थी। अपने गृहस्थ जीवन मे वे विवाह के बाद ससुराल गए। भोजन का समय हुआ। खाने के लिए थालियाँ परोसी गई। वे भोजन करने बैठे। खाना शुरू करने से पहले ही गालियाँ गाई जाने लगी। दामाद भोजन करे, उस समय गालियो के गीत गाने की परम्परा प्रचलित थी। स्त्रियो ने गीत शुरू किया। उसके बोल कान मे पडते ही वे उठ खड़े हुए। ऐसी गलत रूढियो के परिवेश मे बिना खाए ही वहाँ से चले गए। इस घटना मे उनका अह नही, सिद्धान्त के प्रति प्रगाढ आस्था बोल रही है।

सत्य के महान् खोजी :

आचार्य भिक्षु सत्य के अन्वेषक थे। मुनि-जीवन स्वीकार करने से पहले उन्होने तत्कालीन अनेक सम्प्रदायो से सम्पर्क किया। इसके पीछे एक ही दृष्टिकोण था, सत्य की खोज। साधु बनने के बाद भी उनकी खोज जारी रही। आगमो को बार-बार पढने का उद्देश्य क्या था ? शास्त्रो में निहित सचाई को वे जीवन मे देखना चाहते थे। इस सत्य का दर्शन न होने पर, उन्होने धर्मक्राति की। मुसीबतो को आमन्त्रित करना उनका लक्ष्य नही था। किन्तु सत्य की खोज करते समय उपस्थित मुसीबतो को गले लगाने मे भी उनको कोई सकोच नही था। वे एकमात्र सत्य के प्रति समर्पित थे। इसी कारण उनकी चेतना मे कही आग्रह की अकड नही थी।

एक बार कुछ दिगम्बर-जैन, आचार्य भिक्षु के पास आए। उनकी आचार-निष्ठा से वे प्रभावित हुए। कुछ समय बात करने के बाद वे बोले—"महाराज! आपका आचार और अधिक चमक उठे, यदि आप वस्त्र न पहने।" इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा—"आप लोगो की भावना अच्छी है, पर मुझे श्वेताम्बर आगमो मे विश्वास है। उन्ही के आधार पर मैंने घर छोड़ा है। उनके अनुसार मुनि वस्त्र रख सकता है, इसीलिए मैं वस्त्र रखता हूँ। यदि मुझे दिगम्बर-आगमो मे विश्वास हो जाए, तो उसी समय वस्त्रो को फेंक दूँ, नग्न हो जाऊँ।"

ऐसी दो-टूक बात वही साधक कह सकता है, जो केवल सत्य के लिए जीता है। आचार्य भिक्षु की सत्यनिष्ठा को याद करते समय एक विचारक की कुछ पक्तियाँ बार-बार मस्तिष्क मे कौध जाती है। उसने लिखा है—"महान वे नही है, जिनके पास असीम वैभव, नाम और यश है। महान वे है, जिन्होने सत्य को पा लिया और किसी भी मूल्य पर उसका सौदा करने के लिए तैयार नही होते। उनको शारीरिक यन्त्रणा पहुँचाई जा सकती है, उनकी सुख-सुविधा को उनसे छीना जा सकता है, लेकिन उनकी आत्मा को खरीदा नही जा सकता।"

आचार्य भिक्षु कोई वैभव-सम्पन्न व्यक्ति नही थे। राजसत्ता की दृष्टि से उनका नाम बहुत ऊँचा नही था। उनकी पहचान भी सीमित व्यक्तियो से थी। फिर भी वे धर्म-सम्प्रदायो के क्षितिज पर चमक उठे क्योकि उन्होने 'सत्य की खोज' मे अपना सब कुछ खो दिया था। उनको

सत्य के रास्ते से विचलित करने के लिये अनेक प्रयत्न किए गए, पर वे झुके नही। उन्हें शारीरिक और मानसिक यन्त्रणाओ के दौर से गुजरना पडा, पर वे कही रुके नही। उन्हे सब प्रकार की सुख-सुविधाओ से वचित होना पडा, पर वे मुडे नही। उनके सामने एक ही सूत्र था—'सत्य से साक्षात्कार।' सत्य की दिशा मे आगे बढने के सब रास्ते बन्द होने पर भी वे पीछे नही लौटे। उन्होने धारणाओ की दीवार को तोडकर रास्ता बनाया। उस रास्ते पर वे अविश्रान्त भाव से बढते रहे। वे सत्य के लिए जीए। 'वे सत्य बनकर रहे'। सत्य की उपलब्धि उनकी अन्तिम मजिल थी।

महावीर-वाणी में सत्य का दर्शन :

सत्यद्रष्टा आचार्य भिक्षु ने ईसवी सन् १७६० मे, 'आचार-शुद्धि' का अभियान चलाया। उनका अभियान चल सकेगा, इस सम्बन्ध मे वे स्वयं सदिग्ध थे। इसी दृष्टि से उन्होने तपस्या का क्रम शुरू किया। तपस्या के तेज ने सन्देह का कीचड़ सुखा दिया। उन्हे जनजागरण मे अपनी क्षमता नियोजित करने की प्रेरणा मिली। जनता को सत्य से परिचित कराना उन्हे अभीष्ट था। इसके लिये वे एकान्त से पुनः भीड़ मे आए।

आचार्य भिक्षु आगज्जीवी नही थे। त्रिकाल की व्यवस्थाओ को ध्यान मे रखकर वे अपने कदम उठाते थे। उनके सामने साधना का विशिष्ट उद्देश्य था। इस उद्देश्य को वे गिरिकन्दराओ मे बैठकर पूरा कर सकते थे। पर, साधना के साथ सगठन को जोडने की कला उनको भगवान् महावीर से विरासत मे मिली थी। भगवान् महावीर के प्रति उनके मन मे आस्था का जो दीपक जल उठा था, वह किसी भी किनारे से खण्डित नही था। अखण्ड व्यक्तित्व के प्रति समर्पित, अखण्ड आस्था ने उनका सत्य से साक्षात्कार कराया।

उन्होने महावीर-वाणी मे सत्य को खोजा। साधना एव पुरुषार्थ के बल पर उसे आत्मसात किया। और लोककल्याण की मगल भावना से प्रेरित होकर उसे बाँटा। सत्य शाश्वत होता है तथा व्यवस्था परिवर्तनशील होती है। उन्होने उस समय जिस सत्य का निरूपण किया, वह आज भी उतना ही सत्य है। दो शताब्दियो के अन्तराल मे समय की धूल उस सत्य को अश रूप मे भी धूमिल नही कर सकी है। उन्होने उस समय जो मौलिक स्थापनाएँ की, आज की कसौटी पर वे बराबर खरी उतरी है। उनकी स्थापनाओ के कुछ बिन्दुओ पर यहाँ विमर्श करना है।

सार्वभौम धर्म :

सम्प्रदाय और धर्म, ये दो भिन्न तत्त्व हैं। सम्प्रदाय शरीर है और धर्म है प्राण! कुछ लोग सम्प्रदाय को ही धर्म मान लेते है। वे एक सीमारेखा खींचते है और उस रेखा के अन्दर ही धर्म होने का दावा करते है। उन्हे अपने सम्प्रदाय मे सत्य का दर्शन होता है। वे उन्ही लोगो को धार्मिक मानते हैं और धर्म करने का अधिकार देते है, जो उस सम्प्रदाय-विशेष की सीमा मे आ जाते है। आचार्य भिक्षु ने इस अवधारणा के विरोध मे आवाज उठाई। उन्होने कहा—धर्म सम्प्रदाय की सीमा मे कैद नही हो सकता। किसी भी जाति और वर्ग का व्यक्ति, 'धर्म की आराधना' कर सकता है। हमारी आस्था जैन धर्म मे है। जैन-धर्म के अनुसार, अहिंसा, सयम, ब्रह्मचर्य, जप, तप, आदि का आचरण 'धर्म' है। ऐसा आचरण एक जैन कर सकता है, वैसे ही

अ-जन भी कर सकता है। एक जैन अहिंसा का पालन करता है, वह धर्म है और अ-जैन की अहिंसा धर्म नही है, यह कोई व्याप्ति नही बनती। व्याप्ति यह है कि जहाँ अहिंसा है, वहाँ धर्म है। उस धर्म का आराधक कोई भी हो सकता है। इसमे कोई विप्रतिपत्ति नही है।

आचार्य भिक्षु की इस अवधारणा ने एक मिथ्यात्वी व्यक्ति को धर्म का अधिकार दे दिया। उस समय के परम्परावादी लोगो ने इस बात का विरोध किया। विरोध की जमीन इतनी पोली थी कि वह उसी मे धँसकर रह गया। आचार्य भिक्षु द्वारा दृढता के साथ निरूपित उस सत्य को आधार बनाकर हमने 'अणुव्रत-आन्दोलन' का प्रवर्तन किया। 'सार्वभौम धर्म' की घोषणा का ही एक व्यावहारिक रूप है—अणुव्रत। इसने सम्यक् व्यक्ति और मिथ्यात्वी, आस्तिक और नास्तिक, सबको धर्म करने का अधिकार दे दिया। तथाकथित धार्मिक लोग चौके। उन्होने 'अणुव्रत' का विरोध किया। पर अणुव्रत मे उस शाश्वत सत्य का प्रतिबिम्ब था, जिसकी स्थापना आचार्य भिक्षु' ने की थी। अणुव्रत के व्यापक प्रभाव को देखकर कहा जा सकता है कि सार्वभौम धर्म की बात उस समय जितनी प्रासगिक थी, आज उससे भी अधिक प्रासगिक है। जिन लोगो की धर्म-कर्म, आत्मा, पुनर्जन्म आदि मे आस्था नही है, वे साम्यवादी कहे जाने वाले लोग भी अणुव्रत की परिभाषा के अनुसार, स्वय को धार्मिक मानने के लिए तैयार है। अणुव्रत को आधुनिक रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय हमे दिया जाता है, पर यह दर्शन आचार्य भिक्षु का है, भगवान महावीर का है। इस दर्शन की सार्वभौम सत्ता को बदलना किसी के लिए भी सम्भव नही है।

अनुशासन का मूल्य :

आचार्य भिक्षु ने साधना को सगठन के साथ जोडा और उसे ऐसे मजबूत साँचे में ढाला, जिसको कोई हिला नही सकता। उन्होने कहा—'साधना अकेला व्यक्ति भी कर सकता है और समूह भी कर सकता है।' समूहगत साधना मे सबसे कठिन तत्व है—अनुशासन। परिवार, समाज या राष्ट्र, समूह-चेतना के किसी भी स्तर पर सफल जीवन तभी जी सकता है, जब वह अनुशासन मे रहना जाने। अनुशासनहीनता हर युग की गम्भीर समस्या है। बौद्धिकता के साथ तर्क की क्षमता बढती है। जहाँ तर्क की सत्ता है, वहाँ प्रश्न उठेगा कि कोई व्यक्ति किसी के अनुशासन मे क्यो रहे ? पारिवारिक विघटन, सामाजिक टूटन और राष्ट्रीयता के बिखराव मे यही भावना काम कर रही है। जहाँ अनुशासन के सस्कार न हो, अनुशासन के प्रति आस्था न हो, और अनुशासन के परिणाम मे विश्वास न हो, वहाँ, सामूहिक-जीवन भी, एक 'समस्या' बन जाता है।

अनुशासन मे रहना जितना कठिन है, अनुशासन करना भी उतना ही कठिन है। कभी-कभी तो अनुशासन करने मे ज्यादा मुश्किले खडी हो जाती है। वर्तमान परिस्थितियो के सन्दर्भ मे यह तथ्य सही प्रतीत होता है। आज स्कूलो मे 'विद्यार्थी' समस्या बन रहे है। कार्यालयो मे 'कर्मचारी' समस्या बन रहे है। उद्योग-धन्धो मे 'श्रमिक' समस्या बन रहे है, परिवार मे 'बहू-बच्चे' समस्या बन रहे हैं। प्रश्न है कि ऐसा क्यो होता है ? किसी भी एक पक्ष की कमी बताना एकाकी-आग्रह हो सकता है। मूलभूत कठिनाई यह है कि अनुशासन करने और अनुशासन मे रहने की कला का प्रशिक्षण नही मिल रहा है।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन को संगठन का अनिवार्य पहलू बताया। उन्होने कहा—आत्मशुद्धि के लिये अनुशासन जितना जरूरी है, सगठन की दृढता के लिए भी उसका उतना ही

मूल्य है। कोई भी सघ या संगठन तब तक चल सकता है, जबतक उसके सदस्य 'सघीय-अनुशासन' का पालन करते है। आचार्य भिक्षु के सामने एक प्रश्न आया—'महाराज ! आपका यह मार्ग कब तक चलेगा ?' उन्होने इस प्रश्न के उत्तर मे कहा—'इसका अनुगमन करने वाले साधु-साध्वी जब तक आचार और श्रद्धा मे सुदृढ रहेगे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो की मर्यादा का उल्लघन नही करेगे और स्थानक बाँधकर नही बैठेंगे, तब तक यह मार्ग चलेगा।'

यह प्रसग मर्यादा या अनुशासन के सर्वोपरि महत्व को प्रकट करने वाला है। तेरापन्थ-धर्मसघ मे अनुशासन, केवल विधान की वस्तु कभी नही बना। सभी आचार्यों ने अपने युग मे अनुशासन के प्रति हुई छोटी-से-छोटी उपेक्षा का दृढता से प्रतिकार किया। इससे साधु-साध्वियो के मन मे अनुशासन के प्रति आस्था का भाव प्रगाढ होता रहा। सघ के प्रारम्भ मे साधु साध्वियो की सख्या बहुत कम थी। किन्तु आचार्य भिक्षु ने गुणात्मकता के सामने 'सख्या' को महत्व कभी नही दिया।

एक बार की घटना है, आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को बुलाने के लिए आवाज दी। उनकी ओर से कोई उत्तर नही मिला। दो तीन बार इस क्रम को दोहराया गया। पर न तो मुनि वेणीरामजी आए और न उन्होने कोई उत्तर ही दिया। आचार्य भिक्षु सचेत हो गये। पास ही बैठे श्रावक गुमानजी लुणावत की ओर अभिमुख होकर वे बोले—"लगता है वेणीरामजी संघ से अलग होगा।" गुमानजी तत्काल उठे। वे सामने वाली दूकान मे गए, जहाँ वेणीरामजी बैठे थे। उन्होने उनको सारी बात सुनाई। मुनि वेणीरामजी उसी क्षण उठे और आचार्य भिक्षु के पास पहुँचे और वन्दना करने लगे। आचार्यवर बोले—"बुलाने पर भी नही बोलता ?" मुनि वेणीरामजी ने कहा—"गुरुदेव ! आपका शब्द सुनकर बैठा रहूँ, यह कैसे हो सकता है ? मेरे कारण आपको कष्ट करना पडा, इसका मुझे दुःख है। मैंने आपका शब्द सुना ही नही था।" मुनि वेणीरामजी ने अपने विनम्र व्यवहार से गुरु को प्रसन्न कर लिया। इस घटना ने सब साधुओ को विशेष रूप से जागरूक कर दिया।

आचार्य भिक्षु के बाद, उत्तरवर्ती आचार्यो के समय मे भी, जिस-किसी ने अनुशासन के प्रति लापरवाही बरती, उसे समुचित बोधपाठ मिला। यही कारण है कि अनुशासन की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है। स्वच्छन्द मनोवृत्ति वाले इस युग मे, जब पुत्र भी अपने पिता के अनुशासन मे रहने के लिए राजी नही है, सैकडो साधु-साध्वियाँ एक आचार्य के अनुशासन मे रहते हैं, इसे अन्य लोग आश्चर्य की दृष्टि से देखते है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि वह कौन सी प्रक्रिया है, जो पूरे धर्मसघ को एक सूत्र मे पिरोए हुए है ? अनुशासन की डोर से बांधे हुए है ? इस सन्दर्भ मे कई कारण ध्यान देने योग्य है—

(१) अनुशासन आरोपित नही हृदय से स्वीकृत है।
(२) जो अनुशासन मे रहता है, सुखी होता है, इस प्रकार के सस्कार जीवित हैं।
(३) कठोर-से-कठोर अनुशासन के पीछे, सयम की विशुद्धि और व्यवहार शुद्धि का लक्ष्य रहता है।
(४) किसी भी अनुशासनात्मक कार्यवाही मे व्यक्ति को नही, उसकी गलती को गलत मानने का दृष्टिकोण होता है। इससे गलती सुधरने के बाद, व्यक्ति को मानसिक रूप से प्रताडित रहने का अवसर नही आता।
(५) अनुशासन, की दृष्टि से सघ के किसी भी सदस्य को कोई छूट नही है।

(६) अनुशासन-हीनता के दुष्परिणाम सबके सामने हैं।
(७) ज्ञान और तपस्या की अल्पता मे भी अनुशासननिष्ठ व्यक्ति को महत्व मिलता है।
(८) अनुशासन और विनय का अद्भुत सामंजस्य है।
(९) व्यक्तिगत प्रतिशोध या द्वेषभावना से कोई भी अनुशासनात्मक कार्यवाही नही होती।

इस प्रकार की और भी कुछ बाते है, जो सघीय अनुशासन को दृढ-से-दृढतर बनाती जा रही है। आज का ससार तेरापंथ-धर्मसंघ से एक अनुशासन का सूत्र सीख ले तो अनेक समस्याओ को सहज समाधान मिल सकता है।

वैचारिक स्वतन्त्रता :

एक ओर कठोर अनुशासन, दूसरी ओर सबको स्वतंत्र-चिन्तन का अधिकार—आचार्य भिक्षु ने अपने चिन्तन को कभी सघ पर थोपा नही। उन्होने तेरापंथ की स्थापना के पन्द्रह वर्ष बाद सन् १७७५ मे 'मर्यादापत्र' लिखा। उस समय तक उनका वर्चस्व स्थापित हो चुका था। वे चाहते तो आज्ञा—"गुरूणाम विचारणीया" गुरु की आज्ञा होने के बाद कोई वितर्क नही हो सकता, इस प्रकार कहकर सविधान को लागू कर सकते थे, किन्तु उन्होने ऐसा नही किया। वे विचार-स्वातत्र्य के समर्थक थे। उन्होने महावीर-वाणी मे पढा था—"मइमं पासा" महावीर ने अपने शिष्यो से कहा— 'तुम्हारे पास मति है। तुम मननशील हो। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे केवल आस्था के आधार पर स्वीकार मत करो। उस पर चिन्तन-मनन करो और तुम्हारी समझ मे आ जाए तो स्वीकार करो।"

आचार्य भिक्षु ने अपने ज्ञान और अनुभवो के योग से सविधान लिखा। उन्होने एक-एक साधु को बुलाकर संविधान पढने के लिए कहा। उसे पढने के बाद किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति न होने पर, उसे संघ में लागू किया। यह शैली उन्होने अपने जीवन के अन्त तक निभाई। सन् १८०२ मे आचार्य भिक्षु ने अतिम मर्यादापत्र लिखा। उसी के आधार पर मर्यादा-महोत्सव का ऐतिहासिक समारोह आयोजित होता है। उस मर्यादापत्र पर अनेक साधुओ के हस्ताक्षर हैं। वे हस्ताक्षर इस तथ्य के प्रतीक है कि एक-एक साधु ने उन मर्यादाओं को पढकर, उन पर मनन कर अपनी स्वतत्र इच्छा से उन्हे स्वीकार किया था। जिन मर्यादाओ को सोच-समझकर अपनी सहमति दी, बाद मे उनकी छीछालेदर करना या अवहेलना करना, आचार्य भिक्षु को कभी मान्य नही था। इसलिए उन्होने कहा—"जिसका आन्तरिक विचार स्वच्छ हो, वह इस मर्यादापत्र पर हस्ताक्षर करे। इसमे शर्मा-शर्मी का कोई काम नही है। 'मुँह पर और, मन मे और—यह साधु के लिए उचित नही है।"

श्रद्धा, आचार या परम्परा की कोई बात किसी साधु की समझ में न आए तो उसे आचार्य या बहुश्रुत-साधु के पास समझने की इजाजत दी गई, पर सदिग्ध अवस्था मे सघ मे रहने की इजाजत नही दी गई। आचार्य या बहुश्रुत साधु के साथ चर्चा करने पर भी कोई बात गले न उतरे, उसे 'केवलिगम्य' करने का परामर्श दिया गया है। किन्तु किसी पर कुछ भी थोपने का उपक्रम मान्य नही हुआ। बड़ी-बड़ी सस्थाओ और पार्टियो मे इस नीति को काम मे लिया जाए तो सम्भवतः मनोभेद की परिस्थिति उत्पन्न ही न हो। किन्तु जहाँ नेता अथवा कार्यकर्त्ता अपने विचारो को दूसरो पर थोपने की कोशिश करता है, वहाँ संस्था और पार्टी की एकता के आगे प्रश्न चिह्न लग जाता है।

साधन-शुद्धि का सिद्धान्त :

आचार्य भिक्षु की मेधा सूक्ष्म थी। वे हर तत्त्व को उसकी गहराई मे पैठकर पकड़ते थे। उन्होने साध्य-साधन की एकता को, जिस सूक्ष्मता से विश्लेषित किया, उसे कोई असाधारण व्यक्ति ही कर सकता है। लोकोत्तर दृष्टि से मनुष्य का अन्तिम साध्य होता है—मोक्ष। मोक्ष की प्राप्ति के लिए ससार बढाने वाले साधनो का उपयोग सम्मत कैसे हो सकता है? मोक्ष की साधना, आत्मशुद्धि से होती है। आत्मशुद्धि का साधना है—धर्म। धर्म वह है, जो अहिंसा, सयम और तप के आचरण से होता है। धर्म के लिए हिंसा की सगति बैठ ही नही सकती। उस समय कुछ ऐसी मान्यताएँ प्रचलित थी, जो धर्म को हिंसा के साथ जोड रही थी। इसी मान्यता के आधार पर मिश्र-धर्म की परम्परा प्रचलित हुई। आचार्य भिक्षु ने इसका यौक्तिक निरसन करते हुए कहा—"जैसे धूप और छाया का कभी मिश्रण नही होता, वैसे ही दया और हिंसा का मिश्रण नही हो सकता। पूर्व और पश्चिम के मार्ग कभी मिल नही सकते, वैसे ही दया और हिंसा मे कभी मेल नही हो सकता।"

इसी शृ खला मे अल्प-पाप वहु 'निर्जरा का सिद्धान्त' प्रचलित था। किसी व्यक्ति को लड्डू खिलाने मे पाप है, पर वाद मे वह उपवास करेगा, उससे वहुत धर्म होगा, इसी प्रकार हिंसा, असत्य आदि अठारह पापो का सेवन कर जीवों को वचाने मे पाप कम होता है और धर्म अधिक होता है, आचार्य भिक्षु ने, ऐसी प्रवृत्तियो को कभी धर्म की सज्ञा नही दी। उन्होने कहा—'मोक्ष का साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। जो मोक्ष का साधन है, वही धर्म हो सकता है। धर्म के क्षेत्र में प्रलोभन और भय दोनो का स्थान नही है। धर्म का सीधा सम्वन्ध है हृदय परिवर्तन से। आदमी का मन वदलता है तो गलत काम अपने आप छूट जाते हैं।'

आज के युग मे भी ऐसे वहुत लोग है, जो आदर्श की वातें करते हैं। देश मे समाजवाद लाना, भ्रष्टाचार दूर करना, नीतिहीन व्यक्तियो को सत्ता से च्युत करना—आदि ऐसे नारे हैं, जो सुनने मे वडे मीठे लगते हैं। पर हवा के झोके के साथ, ये नारे, ऊपर के ऊपर निकल जाते हैं, क्योकि ऐसे नारे लगाने वाले लोग भी, अपना काम करने के लिए, भ्रष्ट तरीके काम मे लेते हैं, नीति से हटकर काम करते हैं। यह स्थिति किसी व्यक्ति, वर्ग या दल तक सीमित नही है। ऊपर-से-नीचे तक यही क्रम चल रहा है। ऐसी स्थिति मे साधनो की शुद्धि पर ध्यान दिया जाए, तो काम करने मे काफी सुविधा रह सकती है।

महासेतु को प्रणाम :

आचार्य भिक्षु महासेतु थे। दृढ सिद्धान्तवादी होने के वावजूद वे आग्रही मनोवृत्ति से मुक्त थे। निश्चय और व्यवहार, दोनो को आधार मानकर उन्होने सत्य और सगठन को एक साथ जोडा। शाश्वत के प्रति वे पूरी तरह समर्पित थे पर सामयिक सत्य को उन्होने कभी उपेक्षित नही किया। उनके मन मे न प्राचीनता की पकड थी और न नए का व्यामोह था। आवश्यकता और उपयोगिता के आधार पर वे दोनो को स्वीकार करते थे। कठोरता और कोमलता का उनमे अद्भुत सामजस्य था। एक ओर वे गभीर सिद्धान्तो के प्रखर प्रवक्ता थे तो दूसरी ओर उतने ही विनोदप्रिय थे। उनकी चेतना में स्वार्थ नाम का तत्व नही था, पर वे अवसर को

पहचानते थे। उनका जीवन और दर्शन दो-शताब्दी बाद भी उतना ही प्रासगिक है, जितना उनके अपने समय मे था, इसीलिए इस युग के विद्वानो को उनमे 'काण्ट' का दर्शन होता है।

आचार्य भिक्षु इसलिए प्रणम्य नही है, कि वे हमारे गुरु थे। उनका महत्त्व इसलिए भी नही है कि उन्होने एक नई परम्परा का सूत्रपात किया। उनकी स्मृति इसलिए नही होती है कि उन्होने समस्याओ के दुस्तर सागर को हँसते-हँसते पार किया। उनको हम याद करते है सत्य के प्रति उनके सम्पूर्ण समर्पण के लिए, उनको हम प्रणाम करते है उनकी लोकोत्तर निष्ठा के लिए, और उनको हम महत्व देते है उन शाश्वत सिद्धान्तो का निरूपण करने के लिए जो आज भी हमको रास्ता दिखाते है, आगे बढने का साहस देते है और हमारी हर समस्या का समाधान करते है। आचार्य भिक्षु ने जिन आदर्शो के लिए सघर्ष का पथ चुना, वे आदर्श हमारे अपने आदर्श है। उन आदर्शो तक पहुँचने का हमारा सकल्प कभी क्षीण न हो। वे आदर्श भावी पीढ़ियों के लिए भी आदर्श बने रहें और हर पीढ़ी वहाँ तक पहुँचकर कृतार्थता का अनुभव करें। □

आचार्य भिक्षु के प्रति—

गंग-जमुन सा निर्मल जीवन, सत्य-शोध के प्रवल पुजारी,
मरघट में भी अलख जगाया, अलबेले बाँके अवतारी।
सुख-वैभव भावी पीढ़ी को, कालकूट तुम स्वयं पी गये,
मृत्यु भला क्या तुम्हें मारती, मर कर भी तुम पुनः जी गये।

—क० फूलफगर

महर्षि दयानन्द और पुनर्जागरण

—विष्णु प्रभाकर

विश्व का इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा पडा है, जो इस बात के साक्षी है कि जिन देशो ने दासता से मुक्ति पाई है या किसी दूसरे रूप मे राजनैतिक क्रान्ति की है, उन्होने सबसे पहले सामाजिक क्रान्ति का उद्घोप किया था। भगवान बुद्ध हो या हजरत मोहम्मद, मार्टिन लूथर हो या गुरु नानक, इनके द्वारा परिचालित धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्रान्ति के बाद ही उन देशो मे राजनैतिक शक्ति प्रबल हुई।, अभी अभी सन् १९४७ मे हमने विदेशी शासन से जो मुक्ति पाई है, उसके पीछे भी पिछली सदी मे उभरे अनेक सुधार आन्दोलनो की शक्ति थी।

और यह भी सच है कि जितने सुधार-आन्दोलन यहाँ हुए, उनका तत्कालीन कारण विदेशियो का इस प्रदेश मे आगमन था। यूँ तो यह क्रम ऐतिहासिक रूप मे तथागत बुद्ध के समय से आरम्भ हो जाता है, लेकिन मुसलमानो के इस देश मे आने के बाद जो आन्दोलन तेरहवी सदी और उसके आस-पास पनपे, वे विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं।

इनसे पूर्व आने वाली जातियां इस देश के महासमुद्र मे ऐसे समा गयी थी कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही समाप्त हो गया। ऐसा इसलिये हो सका, क्योकि वे किसी धर्म का जयघोप करती हुई नही आई थी। मुसलमान लोग एक नया धर्म लेकर आये, फिर भी उनमे अलग रहने की भावना नही थी, इसलिये समय-समय पर सघर्प होने के बावजूद इस देश मे एक नई मिलीजुली सस्कृति का उदय हुआ।

लेकिन यूरोप से आनेवाली जातियाँ किसी भी रूप मे इस देश के रहने वालो से एकाकार न हो सकी। वे सदा सिविल लाइन मे रही, तन से ही नही, मन से भी। इसमे दोप केवल उन्ही का नही था। इस देश मे रहने वाली जातियो ने, विशेप रूप से हिन्दुओ ने, अपने चारो ओर वर्जनशीलता के इतने और ऐसे दायरे खीच लिये थे कि उन्हे लाँघना किसी के लिये भी सम्भव नही हो सका। इसके अतिरिक्त वे स्वय भी इस भावना से ग्रस्त थी कि वे सबसे महान है।

जैसा कि सदा होता है, विजेताओ के साथ उनकी सभ्यता और सस्कृति भी इस देश में आई। शुरू-शुरू मे ईसाई धर्म प्रचारको ने हिन्दू धर्म पर खुले हमले किये। स्वाभाविक रूप से सुधार आन्दोलनो के जन्म का एक कारण इस आक्रमण का प्रतिकार करना भी था। फिर भी इन जातियो से सम्पर्क होने के बाद देश मे एक नयी चेतना, एक नयी प्रश्नाकुलता का जन्म हुआ और उसके परिणाम स्वरूप उन्नीसवी सदी में एक के बाद एक, अनेक प्रखर सुधार आन्दोलन प्रकट हुए।

मुगल साम्राज्य यो तो सन् १८५७ तक चलता रहा, परन्तु वास्तव में उसका अन्त सन् १७५७ में ही हो गया था। उन्नीसवी सदी के दूसरे दशक मे मराठो की शक्ति समाप्त हो गयी

और चौथे दशक मे सिख राज्य के कर्णधार महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद अंग्रेज भारत के वास्तविक शासक बन गये। विशेष कर सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता सग्राम के असफल हो जाने के उपरान्त देश के कर्णधारो के अवचेतन मे अन्तर्मन्थन की प्रक्रिया शुरू हो गयी थी और उनके सामने यह स्पष्ट होता जा रहा था कि राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने से पहले सामाजिक और सास्कृतिक क्राति अनिवार्य है।

इसी के परिणाम स्वरूप राजा राममोहनराय ने सन् १८२८ मे ब्राह्म समाज की स्थापना की और सती प्रथा तथा बाल-हत्या जैसी बर्बर प्रथाओ को कानून के द्वारा बन्द करवाने की सफल चेष्टा की। आचार्य जावडेकर के शब्दो में, "हिन्दू धर्म मे सुधार किये जाएँ। एकेश्वरी धर्म का सर्वत्र प्रचार करके यह बताया जाए कि सब धर्मो का अन्तरग एक ही है। और इस तरह ससार के धर्मभेदो का अन्धकार दूर करने वाले सार्वत्रिक विश्व धर्म के सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैलाना उनकी बड़ी महत्वाकाक्षा थी।"[१]

ब्राह्मसमाजी पश्चिमी शिक्षा से बहुत प्रभावित हुए और आगे चलकर ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन के समय मे तो वे वेदों के 'ब्रह्म' से बहुत दूर हट गये। ब्राह्मसमाज का प्रभाव केवल बगाल तक ही सीमित रहा लेकिन बम्बई और अहमदाबाद मे इसी से मिलते जुलते एक और सुधार आन्दोलन का आरम्भ हुआ। महाराष्ट्र मे ऐसा आन्दोलन उन्नीसवी सदी के आरम्भ मे चल पडा था। इसी की नीव पर सन् १८६७ मे प्रार्थना समाज की स्थापना हुई लेकिन इसके नेता हिन्दू धर्म से जुड़े थे और इसे उसका एक सुधारक पन्थ मानते थे। यह समाज भी बहुत जोर नही पकड सका, क्योंकि सन् १८८० में तिलक और आगरकर ने आजन्म देश सेवा की दीक्षा लेने वालो का दल खड़ा करने की जो प्रथा डाली, उससे प्रार्थना समाज की सुधारक मण्डली का तेज फीका पड़ने लगा।

इस काल के दूसरे समाज सुधारक आन्दोलनो मे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का विधवा-विवाह-आन्दोलन उल्लेखनीय है। रामकृष्ण परमहंस यद्यपि इस प्रकार के सुधारक नही थे, लेकिन उन्होने विवेकानन्द के रूप मे एक ऐसी शक्ति को जन्म दिया, जो लोक सेवा और राष्ट्रीयता की प्रतीक थी। भौतिक प्रगति को और प्रवृत्ति-परता को प्रधानता देकर वेदान्त को कर्म प्रबल बनाना, ईसाई पादरियो की तरह धर्माचरण मे लोक-सेवा को प्रधानता देना और धर्म के आधार पर राष्ट्रभक्ति और स्वाभिमान की ज्योति जलाकर लोगो मे क्रान्ति का भाव फैलाना स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन का उद्देश्य था।

लेकिन इन सबसे अधिक जुझारू, प्रखर और प्रभावशाली था स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज का आन्दोलन। कम से कम एक बात मे यह आन्दोलन सर्वथा मौलिक था। दूसरे आन्दोलन किसी न किसी रूप मे पश्चिम से सीधे प्रभावित थे, परन्तु स्वामी दयानन्द सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और अग्रेजी के प्रभाव-वृत्त से एकदम असम्पृक्त थे। उस निर्भीक सन्यासी ने पश्चिम का कोई सीधा प्रभाव ग्रहण नही किया।

उनका जन्म काठियावाड (गुजरात) के एक छोटे से नगर टकारा मे श्री करसन जी नाम के एक जमीदार के घर मे हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलजी था।[२] उनके पिता बड़े

---

१. आधुनिक भारत : आचार्य जावड़ेकर, पृष्ठ-५२
२. प्यार से उन्हे दयाराम या दयालजी भी पुकारते थे।

कट्टर शैव थे। उन्होने मूलजी को १४ वर्ष की छोटी आयु मे ही शिवरात्रि का व्रत रखने को विवश कर दिया था। रात्रि जागरण के समय बालक मूलजी ने देखा कि एक छोटी-सी चुहिया शिव की पिण्डी पर चढकर प्रसाद खा रही है। उसके निर्दोष मन मे सहज भाव से एक प्रश्न उभरा—"शिव तो सर्वशक्तिमान है, वे चुहिया को हटा क्यो नही देते ?"

लेकिन हटाना तो क्या और भी कई चुहियाँ मूर्ति पर आ चढी। मन मे प्रश्नो का तुमुल-नाद गूँज उठा, क्या इस मूर्ति मे सच्चे शिव का वास है ? नही है तो सच्चा शिव कहाँ है ? कहाँ है सच्चा शिव ? ··कहाँ है··· ?

पिता उसका समाधान न कर सके। प्रश्न निरन्तर गूँजता रहा। इसको और सघन करने वाली घटनाएँ घटती रहती। और वह बालक से किशोर और किशोर से युवा होता चला गया। उसके अन्तर मे यह पुकार निरन्तर प्रबल होती गयी, "कहाँ है सच्चा शिव ? कोई बताये मुझे।"

अन्ततः इसी शिव की तलाश मे उसने घर छोड दिया और बर्फीली नदियो तथा हिंसक पशुओ से भरे सघन वन प्रान्तर मे भटकने लगा। दस वर्ष तक उसकी खोज जारी रही। जहाँ कही भी प्रकाश की झलक दिखाई देती, वह वही पहुँच जाता, पर पाता कि वह सब माया-मरीचिका है। सब कही अंधकार है।

इस चिरन्तन खोज की प्रक्रिया मे उसे अद्भुत अनुभव हुए। दुर्बलता के वे क्षण भी आए जब उसने मृत्यु को चाहा पर दूसरे ही क्षण उसके अपने अन्तर की शक्ति ने उसे सावधान कर दिया। उसने निर्धनता और अविद्या के अन्धकार मे डूबी जनता को देखा। उसने धर्म के नाम पर होने वाले शोषण को देखा। उसने अनुभव किया कि उस शिव को ढूँढना ही होगा।

यह वह समय था जब देश मे विदेशी सत्ता के प्रति असन्तोष भड़क रहा था। चारो ओर प्रश्न ही प्रश्न उभड रहे थे। वह इस अवधि मे अनेक साधु-सन्तो, पण्डितो, महात्माओ और सन्यासियो से मिला। स्वय भी सन्यास ग्रहण करके उसने दयानन्द सरस्वती नाम धारण किया, पर कुछ भी उसे सन्तुष्ट न कर सका। वह सन् १८५८ मे घूमते-घूमते हरिद्वार के कुम्भ के मेले मे आये। भ्रष्टाचार की चरम सीमा देख कर उन्हे अपार वेदना हुई।

इस अवधि मे उन्होने पढा भी खूब। सत्य की तलाश मे वे इतना व्यग्र थे कि तन्त्रो मे कुण्डलिनी के केन्द्र को पहचानने-परखने के लिये शव को चीर डाला और पाया कि सब कुछ झूठ है।

सत्य कहाँ है ? कहाँ मिलेंगे सच्चे शिव ? ·· तलाश और तेज हो उठी। अन्त मे इसी प्रक्रिया से गुजरते हुए वे सन् १८६० मे मथुरा पहुँचे। उनकी आयु तब ३६ वर्ष की थी। उन्होने सुना था कि वहाँ विरजानन्द नाम के एक दण्डी स्वामी रहते है। वे परम ज्ञानी है। शायद वे उनकी जिज्ञासा शान्त कर सकें।

दण्डी स्वामी प्रज्ञा-चक्षु थे परन्तु दयानन्द की प्रतिभा को पहचानने मे उनको कोई कठिनाई नही हुई। १८६० से १८६३ तक लगभग तीन वर्ष उनके पास रहकर उन्होने व्याकरण पढा। अब वह स्वय वेद पढ सकते थे। कहते हैं शिक्षा समाप्त होने पर उन्होने गुरु दक्षिणा के रूप मे कुछ लौंग गुरु के चरणो मे रखी। तब दण्डी स्वामी ने उनसे कहा, "दयानन्द ! मुझे लौंग नही चाहिये लेकिन जो कुछ चाहिये वह भी तुम ही दे सकते हो। आज देश मे अज्ञान का जो अन्धकार फैला है उसे तुम ही दूर कर सकते हो। जाओ ! कुरीतियो का निवारण करो। जिन

ग्रन्थो में परमात्मा और ऋषि-मुनियों की निन्दा है उनका वहिष्कार करके आर्ष ग्रन्थो का प्रचार करो। वैदिक ग्रन्थो के पठन-पाठन मे लोगो को लगाओ। गगा-जमुना के प्रभाव की भाँति लोकहित की भावना से क्रियाशील जीवन व्यतीत करो।"

गुरु का आदेश शिरोधार्य करके दयानन्द ने उनसे विदा ली पर मृत्यु का अन्वेषक शीघ्रता नही करता। उन्होने दो वर्ष तक खूब अध्ययन, मनन और चिन्तन किया। उन्होने अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर अपना कार्य क्षेत्र निश्चित किया लेकिन अभी मन मे कुछ शकाये थी। जयपुर मे उन्होने पहले वैष्णव मत और फिर शैव मत का खण्डन किया। उन्होने लिखा, "विद्याध्ययन समाप्त करके दो वर्ष तक मैं आगरा रहा, पर समय-समय पर पत्र द्वारा अथवा स्वय मिल कर स्वामीजी से शंका समाधान कर लिया करता था।"

सन् १८६७ मे कुम्भ के मेले मे जाने से पूर्व वे इधर उधर घूमते रहे। एक बार फिर गुरु जी के पास जाकर शका समाधान किया। अब उन्हे अपना मार्ग मिल गया था। साधना पूरी हो गयी थी। इसके बाद उन्होने पीछे मुडकर नही देखा। सन् १८६७ से सन् १८८३ मे अपने देहावसान तक वे तत्कालीन भारत मे फैले पाखण्ड, अविद्या और अन्ध-विश्वासो के विरुद्ध सघर्ष करते रहे लेकिन अभी भी उनकी सत्य की तलाश समाप्त नही हुई थी। वह निरन्तर विकसित हो रहे थे। असत्य को त्यागने और सत्य को ग्रहण करने को वे सदा तैयार रहते थे।

उस समय हिन्दू धर्म अत्यन्त विकृत हो चुका था। सैकडो मत-मतान्तर चल रहे थे। असख्य जातियो मे बँटा समाज अपनी शक्ति खो चुका था। नारी, शूद्र और अछूत मनुष्य का शरीर पाकर भी मनुष्य नही माने जाते थे। हिन्दू धर्म का अर्थ था छूतछात, विद्वत्ता का दम्भ, धर्म का ढोग और घृणा। इसके विपरीत इस्लाम और ईसाई धर्म नये थे। उनमे जीवन था, स्फूर्ति थी। वे इस जीर्णशीर्ण धर्म पर नवोन्मेष के साथ प्रहार कर रहे थे।

उन्हे सुधार की चहुँमुखी लडाई लड़नी पडी। यह काम ब्राह्मसमाज ने भी किया था पर जैसा कि हमने देखा, वह पाश्चात्य विचार धारा से आतकित था। स्वय उसके नेता इस बात को अनुभव कर रहे थे। इसलिये उनमे वह स्वाभिमान नही था, जो दयानन्द मे प्रकट हुआ। उन्होने कुम्भ के मेले मे पाखण्ड-खण्डिनी पताका फहरा कर मानो मरणासन्न जाति को पुकारा, 'रूढ़ सस्कारो की गन्दी पते उतार फेको, तभी तुम अपना सच्चा स्वरूप देख सकोगे।"

उन्होने सब प्रकार के पाखण्डो पर घन की चोट की। वे शान्त सुधारक नही थे, उग्र-क्रान्तिकारी थे। उनकी दृष्टि मे भारत के लिए जो हितकर था, उस पर चट्टान की तरह दृढ रहते थे। उन्होने मानो सत्य के द्वार की कुजी को पा लिया था, जो युग-युग से बन्द पडा था। उनकी तमाम शिक्षाये वेदो पर आधारित थी। उन्होने प्रमाण देकर सिद्ध कर दिया कि परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान वेदो मे है। उनसे मतभेद हो सकता है, पर वेद उनके लिये किसी जाति, वर्ण या वर्ग की सम्पत्ति नही थे। वेदो को पण्डितो की पचायत से निकाल कर जन साधारण के लिये सुलभ बना देने का श्रेय उन्ही को है। आर्य समाज के दस नियमो मे एक यह भी है कि वेद सब सत् विद्याओ की पुस्तक है। वेद को पढना-पढाना, सुनना-सुनाना सब आर्यो का परम धर्म है।

उन्होने मात्र सहिता (मत्र) भाग को निर्भ्रान्ति स्वतः प्रमाण माना। वे देवतावाद नही मानते थे। उन्होने निरुक्तकारो की तीन देवो की पूजा, याज्ञको की ३३ देवो की स्तुति और पाश्चात्य विद्वानो की अग्नि आदि जड वस्तुओ की आराधना का खण्डन कर एकेश्वरवाद की स्थापना की।

उनके मत में वैदिक सूत्र विभिन्न नामों से एक ईश्वर के ही गीत गाते है। वे आत्मा, परमात्मा, प्रकृति, इन तीनो को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करते हैं। वेद में इतिहास नही मानते। वैदिक शब्दो को यौगिक और योग्य रूप मानते है, रूढ नही। उन्होने निरुक्त प्रणाली को स्वीकार करते हुए कहा, "वेद मे धर्म की नही, विज्ञान की सारी वातें प्रच्छन्न है।"

उनकी इस मान्यता का श्री अरविन्द ने समर्थन ही नही किया, वल्कि उन्हे स्वामीजी से एक शिकायत भी रही। उन्होने कहा, "वेदो मे केवल धर्म ही नही, विज्ञान भी हैं—दयानन्द के इस विचार से चौकने की कोई वात नही। मेरा विचार तो यह है कि वेदो मे विज्ञान की ऐसी वातें भी हैं, जिनका पता आज के वैज्ञानिको को नही चला है। इस दृष्टि से देखने पर तो पता चलता है कि दयानन्द ने वेदो मे निहित विज्ञान के सम्वन्ध मे अत्युक्ति नही, वल्कि अल्पोक्ति से काम लिया है।"

यह सच है कि वेदो मे उनकी आस्था का पार नही दीखता। सन् १८७७ के केसरी दर-वार के अवसर पर सव धर्मो मे एकता स्थापित करने के उद्देश्य से एक समारोह का आयोजन किया था। उसमे उन्होने यह प्रस्ताव रखा कि सव धर्मो के व्यक्ति वेदो को स्वीकार कर लें। पर यह तो असम्भव था। यह आयोजन सफल नही हो सका। इसके आठ वर्ष वाद जनवरी, १८८५ मे ब्राह्म समाज के एक प्रसिद्ध नेता वावू नवीनचन्द्र राय ने ज्ञान प्रदीप मे इस समारोह की चर्चा करते हुए लिखा था, "फिर दूसरी वार स्वामीजी की मुलाकात हम लोगो से दिल्ली मे सन् १८७७ मे कैसरे हिन्द के दरवार के समय हुई। वहाँ उन्होने हमे, वावू केशवचन्द्र सेन और श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को निमत्रित किया और हमलोगो से यह प्रस्ताव किया कि हम लोग पृथक-पृथक धर्मोपदेश न करके एकता के साथ करें, तो अधिक फल होगा। इस विषय मे वहुत वातचीत हुई, पर मूल विश्वास मे हम लोगो का उनके साथ भेद था, इसलिये जैसा वे चाहते थे, एकता न हो सकी।"

मूल विश्वास मे वह कैसा भेद था, इसकी चर्चा श्री पी० एस० वासु ने वावू केशवचद्र सेन की जीवनी मे की है, 'वावू केशवचन्द्र सेन जव फिर दिल्ली मे स्वामी दयानन्द से मिले, तो उन्होने कहा कि वे वहुत सी वातो मे उनसे सहमत हैं, लेकिन एक वात उनकी समझ मे नही आती कि विना वेद का सहारा लिये धार्मिक शिक्षा कैसे दी जा सकती है।"

इस आयोजन मे सर सैयद अहमद आदि उस युग के कई अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियो ने भी भाग लिया था। एकता के ये प्रयत्न सफल नही हुए, परन्तु स्वामीजी के मन मे यह प्रश्न वराव्रर कौधता रहा कि यह एकता कैसे हो सकती है। कैसे हम सव एक साथ मिलकर सद्धर्म का प्रचार कर सकते है। तीन वर्ष वाद दिसम्वर, १८८० मे उन्होने सैंट्स पीटर चर्च आगरा के विशप महोदय से कहा, यदि हम और आप तथा अन्य धर्मों के वुद्धिमान् नेता केवल उन वातो का प्रचार करें, जिन्हे सव मानते हैं तो एकता स्थापित हो सकती है और फिर मुकावले पर नास्तिक ही रह जायेगे।

लेकिन विशप महोदय भी स्वामीजी की यह वात स्वीकार नही कर सके। और फिर उसके तीन वर्ष वाद राजस्थान मे स्वामीजी का देहावसान हो गया। खण्डन-मण्डन की गहरी परत को भेद कर यदि कोई दयानन्द के अन्तर तक पहुँच पाता तो निश्चय ही यह देखता कि वह व्यक्ति

एकता के लिये कितना आतुर रहता था। सम्भवतः मुगल सम्राट् अकबर के बाद केवल स्वामी दयानद ने ही इस चिरवांछित एकता के सपने को सत्य करना चाहा था।

यहाँ हम एक बात और स्पष्ट करना चाहेगे। वे सत्य के अन्वेषक थे इसलिये मन के कपाट सदा खुले रखते थे। कहते है उन्होने देहरादून के बाबू ज्योति स्वरूपजी को एक पत्र लिखा था। उन्होने स्वीकार किया था कि वेदो मे गलतिया है। पहले वे चारो वेदो का भाष्य कर ले उसके बाद उन गलतियो को छाँटेगे। एक समय आर्य समाज मे इस पत्र की प्रामाणिकता को लेकर बडा वितण्डावाद उठ खडा हुआ था। इसके अतिरिक्त अहमदाबाद के प्रार्थना-समाज के नेता श्री भोलानाथ साराभाई से भी कुछ ऐसी बाते कही थी जिनपर आर्य समाज के नेता विश्वास नही कर पायेगे।

ये बाते सच हो या गलत, पर जो सत्य का अन्वेषक है उसके मन मे द्वन्द्व का उभरना स्वाभाविक है। वही द्वन्द्व तो सत्य की तलाश मे आगे बढने की प्रेरणा देता है। पूना के व्याख्यानो मे वे कई बातो मे अपने पूर्व के मतव्यो से हजार कदम आगे बढ गये हैं। अन्वेषक निरतर विकसित होता रहता है। यही उसकी पहचान है।

लेकिन वेदो के सम्बध मे स्वामीजी की आस्था कितनी ही प्रवल रही हो, दूसरे असंख्य अधविश्वासो पर उन्होने गहरी चोट की। मूर्तिपूजा और श्राद्ध को उन्होने वैदिक धर्म के प्रतिकूल माना। बताया कि मृत्यु के बाद जीवात्मा पुन: जन्म लेता है, इसलिये श्राद्ध द्वारा उसे भोजन या जल पहुँचाने की कल्पना नितांत अवैज्ञानिक है। मदिरो मे मूर्तियो पर जल चढाना, ईश्वर की पूजा का उचित साधन नही है। उचित साधन है दैविक गुणो को अपने अतर मे सजाना। उस युग मे समुद्र यात्रा का समर्थन करते हुए उन्होने लिखा, 'धर्म हमारी आत्मा और कर्तव्य के साथ है। जब हम अच्छा काम करते है, तो हमको देश देशांतर और द्वीप–द्वीपांतर जाने मे कोई दोष नही लगता। दोष तो पाप करने मे लगता है।"

स्त्रियो और शूद्रो के लिये तो वे मसीहा बन कर आये। उस काल मे जब पिता के जीवित रहते पुत्र दिन मे अपनी पत्नी का मुँह नही देख सकता था, तब स्वामी दयानंद ने यह घोषणा की, "प्राचीनकाल मे स्त्रियो को विद्या प्राप्ति का अधिकार था। वह आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत धारण करती थी और साधारण स्त्रियो के भी उपनयन और गुरु-गृह में वास आदि संस्कार होते थे।"

उन्होने, स्त्री शूद्रोनाधीयाताम् का खण्डन करके यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमते तत्र देवता: आदि वाक्यो का मण्डन किया। लिखा, स्त्रियो को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित और शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये। उनको वेद पढने का अधिकार देते हुए कन्या के विवाह की आयु सोलह वर्ष निश्चित की। वृद्ध विवाह को गलत माना। उनकी प्रेरणा पाकर असूर्यपश्यायें पहली बार घर की चहार दिवारी के बाहर निकली। शुरू मे वे विधवा-विवाह का प्रचलन केवल शूद्रो तक ही सीमित रखने के पक्षपाती थे, लेकिन बाद मे पूना के अपने एक व्याख्यान में उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा, ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनो बराबर हैं, क्योकि वह न्यायकारी हैं। उसमें पक्षपात का लेश नही है। जब पुरुषो को पुनर्विवाह की आज्ञा दी जाय, तो स्त्रियो को दूसरे विवाह से क्यो रोका जाय? प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी विचारशील और न्यायी होते थे। आजकल उनकी सतान अनार्य हो गयी है! पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी स्त्रियां चाहे कर सकते हैं, देश

काल, पात्र और शास्त्र का कोई बंधन नही रहा। क्या यह अन्याय नही है? क्या यह अधर्म नही है।

उन्होने वर्ण-व्यवस्था को जन्म से नही, कर्म से माना और सब वर्णों के लिये समानाधिकार का प्रतिपादन किया। उन्होने न केवल शूद्र, बल्कि अतिशूद्र को भी जनेऊ धारण करने का अधिकार दिया। अपनी जीवन-सन्ध्या मे तो वे वर्ण-व्यवस्था को मरण-व्यवस्था तक मानने लगे थे। वे पहले सुधारक थे, जिन्होने इस दिशा मे सक्रिय कदम उठाया। उन्होने अपनी ओजस्वी वाणी मे उनके लिये समानाधिकार का प्रतिपादन किया। कहा, "यदि परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रो को पढाने के विषय मे न होता तो उनके शरीर मे वाक् और श्रवण इन्द्रियां क्यो रखता?...कही-कही निषेध किया है, उसका अभिप्राय यह है कि जिसको पढने-पढाने से कुछ नही आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहलाता है।"

इन विचारो की पृष्ठभूमि मे आर्य समाज ने दलितोद्धार का काम किया। उन्हें शुद्ध करके उनके साथ सहभोज और किसी सीमा तक विवाह करने मे भी कोई आपत्ति नही हुई। इसके परिणाम स्वरूप इन जातियो मे आत्म सम्मान की भावना जागृत हुई और वे अपने अधिकारो के प्रति सजग हो उठी। मेघ जाति के लोग जहां पहले राजपूतो को 'गरीब नवाज' कहकर सम्बोधित करते थे, अब केवल 'नमस्ते' कहकर ही सम्बोधित करने लगे। पहले जिनकी छाया पड़ने से भी मनुष्य अपवित्र हो जाता था, वे ही भगी और चमार अब पण्डित और ठाकुर बनने लगे। श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने ऋषि दयानन्द के प्रमाणो के आधार पर ही शूद्रो के वेद पढ़ने के अधिकार की व्यवस्था की। 'यथे माम वाचम् कल्याणी मा वदानि जनेभ्य' आदि मन्त्रो का वास्तविक अर्थ समझाया।

स्वामीजी का मत था कि प्राचीन काल मे एक वेदोक्त धर्म होने के कारण खान-पान और विवाह आदि व्यवहार सारे भूगोल मे परस्पर होते थे। जब से ईसाई-मुस्लिम आदि मत मतान्तर चले, आपस मे वैर-विरोध हुआ, उन्होने मद्यपान और मास आदि का खान-पान स्वीकार किया, उसी समय से भोजनादि मे बखेडा हो गया।

उन्होने अपने धर्मग्रन्थो के साथ-साथ अन्य मत-मतान्तरो के धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन भी किया। उनके दोष दिखाते हुए उन पर प्रहार किये। ऐसा करने का उद्देश्य उन्ही के शब्दो मे यह था, "जो जो सब मतो मे सत्य बातें हैं वे सब मैंने, अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके, जो जो मतमतान्तरो मे मिथ्या बातें है उन सबका खण्डन किया है।...यद्यपि मैं आर्यावर्त देश मे उत्पन्न हुआ और बसता हूँ, तथापि इस देश के मत-मतान्तरो की झूठी बातो का पक्षपात न करके यथा-तथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही दूसरे देशस्थ व मतोन्नतिवालो के साथ भी बरतता हूँ। जैसा स्वदेश वालो के साथ मनुष्योन्नति के विषय मे बरतता हूँ, वैसा विदेशियो के साथ भी तथा सब सज्जनो को भी बरतना योग्य है।"

एक और स्थान पर उन्होने कहा, "मेरा उद्देश्य सबको आपस मे मिलाना है, जैसे जुड़े हुए हाथ। मैं कोल से लेकर ब्राह्मण तक मे राष्ट्रीयता की ज्योति जगाना चाहता हूँ। मेरा खण्डन हित सुधार के लिये है।"

हम देख आये हैं कि सन् १८५७ की क्रान्ति के समय स्वामीजी घूमघूम कर देश मे उठती हुई ज्वाला को देख रहे थे। तभी उन्होने समझ लिया था कि देश के स्वाधीन हुए बिना कुछ नही हो सकता। कुछ लोगो ने प्रमाणित करना चाहा है कि उस क्रान्ति से उनका गहरा सम्बन्ध था।

और यह भी कि पराजित होने के बाद नाना और ताँत्या टोपे उनसे मिलने आये थे। स्वामीजी ने उन्हे ढाढस बँधाते हुए कहा था कि आज हार गये तो क्या हुआ कल अवश्य जीतेंगे। उन्होने नाना को आत्महत्या करने से भी रोका था और उचित अवसर आने तक उन्हे संन्यास धर्म की दीक्षा दी थी। लेकिन इन तथ्यो को प्रमाणित करने के अकाट्य प्रमाण अभी तक उपलब्ध नही हो सके है, पर उनके ग्रन्थों मे स्थान-स्थान पर इसी भावना को स्वर देते जो विचार प्रकट हुए है, उनसे लगता है कि शायद स्वामीजी ने उस क्रान्ति मे सक्रिय भाग लिया ही हो। इस असफल क्रान्ति के पच्चीस वर्ष बाद उन्होने सत्यार्थप्रकाश मे लिखा, "कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित और अपने पराये का पक्षपात-शून्य प्रजा पर माता–पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियो का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नही है।" बार बार उन्होने यही कहा कि, अन्य देशवासी राजा हमारे देश मे कभी न हो।" (आर्याभिविनय, पृष्ठ-२४८)

एक बार भारत मे वायसराय ने उनसे कहा था, "आप ईश्वर से वर मांगा करे कि भारत पर अंग्रेजी राज की छत्रछाया बराबर बनी रहे।" स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया था, 'मैं अपनी मातृभूमि को स्वछन्द (स्वतन्त्र) राष्ट्रो की पक्ति मे खड़ा देखना चाहता हूँ।" (भारतीय स्वाधीनता संग्राम और आर्य समाज-प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु-पृष्ठ-११)

उन्होने स्वदेशी का पूर्ण समर्थन किया। वे नमक पर कर लगाने के प्रबल विरोधी थे। किसानों का वे बहुत आदर करते थे। उनके शब्दो मे, "राजाओ के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले है और राजा उनका रक्षक है" स्वामीजी की इन मान्यताओ ने राष्ट्रीयता, उग्र राजनीति और क्रान्ति की भावना को गति दी। इसीलिये देश को स्वतन्त्र कराने के जितने भी आन्दोलन चले, उन पर किसी न किसी रूप मे आर्य–समाज का प्रभाव रहा। इसीलिये स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा स्थापित गुरुकुल काँगडी बहुत वर्षो तक भारत की गोरी सरकार का कोपभाजन बना रहा। हिंसा के मार्ग से भारत को स्वतन्त्र कराने के लिये कृत-संकल्प अनेक क्रान्तिकारी भी आर्य-समाज के सदस्य थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, चौधरी रामभज दत्त, डा० सत्यपाल, भाई बालमुकुन्द गुप्ता, रामप्रसाद बिस्मिल और मास्टर गैंदालाल आदि कुछ ऐसे नाम है जो भारतीय स्वाधीनता सग्राम के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखे जायेंगे। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजित सिंह और सरदार भगत सिंह भी तो एक आर्य समाजी परिवार के ही सदस्य थे। लोकमान्य तिलक और दादाभाई नौरोजी और महात्मा गांधी आदि राष्ट्रनेता स्वामीजी की राष्ट्र-भक्ति से बहुत प्रभावित थे। दादाभाई नौरोजी तो यहाँ तक कहा करते थे कि उन्होने स्वराज्य' शब्द स्वामी दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश से सीखा है।

देश के प्रति इतनी ममता होने के कारण यह स्वाभाविक था कि उन्हे देश को एक करने वाली किसी एक भाषा से भी प्रेम हो। उनकी मातृभाषा गुजराती थी और वे सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। प्रयाग के कुम्भ के मेले पर उनकी भेट आदि ब्राह्म समाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से हुई। एक विभूति ने दूसरी विभूति को पहचान लिया। महर्षि ने स्वामीजी से आग्रह किया कि वे कलकत्ता पधारे।

सन् १८७२ के अन्त मे जब वे कलकत्ता पहुँचे तब तक वे सरल सस्कृत मे ही बात करते थे। वहाँ वे अनेक दिग्गजों के सम्पर्क मे आये। पण्डित ईश्वरचद्र विद्यासागर और ब्रह्मानन्द

केशवचन्द्र सेन प्रभृति सुधारको ने उनमे एक ऐसे शक्तिशाली और कर्मठ व्यक्ति को देखा जो देश में फैले अविद्या के अन्धकार को दूर करने की क्षमता रखता है। इसीलिये उन्होने स्वामीजी को सुझाया कि वे प्रचलित देशी भाषा मे अपने उपदेश दिया करें जिससे साधारण जन उसे समझ सकें। आप सस्कृत बोलते हैं तो कभी-कभी अनुवादक आपके मन्तव्य को विकृत रूप मे प्रस्तुत करते हैं। आपको बिना मध्यस्थ के सीधे जनता से बात करनी चाहिये। पूर्वकाल मे तथागत बुद्ध और भगवान महावीर ने भी जन-जागरण के लिए जनभाषा, पाली और प्राकृत, को अपनाया था।

उस समय उनकी आयु अडतालीस वर्ष की थी, फिर भी उस सत्य के अन्वेषी ने इन महानुभावो की सलाह स्वीकार करने मे तनिक भी सकोच नही किया और तुरन्त प्रचलित देशी भाषा हिन्दी सीखनी शुरू कर दी। शीघ्र ही वे उसमे इतने पारगत हो गये कि लिख-बोल सकें। कुछ ही दिनो बाद उन्होने हिंदी की शक्ति को पहचान कर यह घोषणा की, "दयानन्द के नेत्र वह दिन देखना चाहते है, जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरो का प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्त भर मे भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्यभाषा मे लिखे और प्रकाशित किये है।"

उन्हे दूसरी भाषाओ से द्वेष नही था। वे चाहते थे कि लोग कई भाषाएँ सीखें और जानें। महाभारत के युग मे विदुर और युधिष्ठिर कई भाषाएँ जानते थे। उन्होने स्पष्ट लिखा है, "जब पाँच-पाँच वर्ष के लडका लडकी हो तब देवनागरी अक्षरो का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भाषाओ के अक्षरो का भी।"

जिस समय सत्यार्थप्रकाश प्रकाशित हुआ, उस समय वह पचास वर्ष के थे। भाषा सीखते हुए उन्हे केवल दो ही वर्ष हुए थे, गलती रह जाना स्वाभाविक था। द्वितीय सस्करण की भूमिका मे उन्होने स्वीकार किया है, "सस्कृत ही बोलने तथा जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गयी थी।"

लेकिन दिन रात तीव्र व्यग्यमयी शैली मे वाद-विवाद करते रहने के कारण उनकी भाषा सरल और प्राणवान होती चली गयी। मुहावरो का उन्होने सटीक प्रयोग किया है। उन्होने आर्यसमाज का यह नियम बना दिया कि प्रत्येक आर्य तथा आर्य सभासद को आर्यभाषा तथा सस्कृत जानना चाहिये। इसका परिणाम यह हुआ कि सस्कृत के गढ काशी और उर्दू के गढ़ पंजाब मे हिन्दी की मांग बढ गयी और जैसा कि हो सकता था, हिन्दी सहज भाव से देश की राष्ट्रभाषा बन गयी।

शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ (मातृ भाषाएँ) होनी चाहिए, यह आवाज भी सबसे पहले आर्यसमाज ने ही उठाई। गुरुकुलो मे इस सम्बन्ध मे क्रियात्मक परीक्षण हुए। अनेक वैज्ञानिक विषयो पर मौलिक ग्रन्थ लिखे गये। पारिभाषिक शब्दो का निर्माण हुआ। गुरुकुल कांगडी मे सबसे पहले हिन्दी के माध्यम से वैज्ञानिक विषयो की शिक्षा दी जाने लगी। केवल हिन्दी पढने के लिये ही अनेक विदेशी विद्वान गुरुकुल आये। यह सब देख कर ही महात्मा गान्धी ने प० मदनमोहन मालवीय को लिखा था कि गगा के किनारे हरिद्वार के जगलो मे गुरुकुल खोल कर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते है तो वाराणसी की गगा के किनारे बैठ कर आप इन बच्चो को थेम्स का पानी क्यो पिला रहे है ?

तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सैंडलर ने स्वीकार किया, "मातृभाषा द्वारा ऊँची शिक्षा देने के परीक्षण मे गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

शिक्षा के क्षेत्र मे भी स्वामी दयानन्द का योगदान कई दृष्टियो से अत्यन्त मौलिक रहा। उन्होने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का समर्थन किया और बालक-बालिका सबके लिये शिक्षा अनिवार्य कर दी। निरक्षरता उन्मूलन के प्रति यह एक रचनात्मक कदम था। उन्होने विधान किया कि बालक पच्चीस वर्ष तक और कन्या सोलह वर्ष तक गुरुकुल मे रहते हुए शिक्षा पाये। दोनो को वेद-वेदागो की शिक्षा के साथ-साथ राज विद्या, शिल्प, गणित, ज्योतिष, भूगोल, चिकित्सा आदि शास्त्रीय और व्यावहारिक विषयो तथा देश-देशान्तरो की भाषा का ज्ञान भी कराया जाय, ऐसा स्वामीजी का अभिप्राय था।

अपने विचारो का प्रचार करने के लिये उन्होने ७ अप्रैल, १८८५ के दिन बम्बई मे आर्य समाज की स्थापना की। बहुत कम लोग जानते है कि सबसे पहले जनवरी मे आर्य समाज की स्थापना राजकोट मे हुई थी, परन्तु सरकार के कोप के कारण उसकी भ्रूण हत्या हो गयी। स्वामीजी प्राचीन सस्कृति के उपासक थे पर उन्होने विज्ञान के अध्ययन पर निरन्तर जोर दिया और जो नया है उसको ग्रहण करने से कभी इंकार नही किया। आज वे भले ही पुराने प्रतीत होते हो और उनकी कुछ मान्यताओ से असहमत भी हुआ जा सकता है, पर अपने जीवन के अन्तिम क्षणो तक वे निरन्तर विकसित होते रहे। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। यही सत्य की तलाश या चिरन्तन खोज है।

उन्होने न तो किसी नये धर्म की स्थापना की, न किसी नये दार्शनिक विचार का प्रतिपादन किया। उनकी मान्यता का आधार विशुद्ध वेदान्त है। वैसे उन्हे विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक माना जाता है। आत्मा, परमात्मा और प्रकृति, वे तीनो का स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। दूसरी तरफ कुछ ऐसे विद्वान भी है, जो मानते है कि वे मूलतः अद्वैत के उपासक हैं। वस्तुतः एक महान समाज सुधारक और नव जागरण के पुरोधा के रूप मे उनका जैसा और जितना योगदान है वैसा और उतना दर्शन के क्षेत्र मे नही है। उनके एकेश्वरवाद को पैगम्बरी एकेश्वरवाद के विरोध मे वैदिक एकेश्वरवाद कहा जाता है पर ऐसा है नही। वे द्वैतवाद के समर्थक थे या अद्वैत के, हम इस विवाद मे नही पडना चाहते। हम तो यह मानते है कि वे परम आस्तिक थे। उन्होने छहों दर्शनो को एक समान आस्तिक प्रमाणित किया है। इस क्षेत्र मे वस्तुतः उनका सबसे बड़ा योगदान वेदो के अर्थ करने की सही रीति खोज लेने मे है।

उनके जीवन मे सकीर्णता का नितान्त अभाव था। पादरी स्काट, पादरी लाल बिहारी, मोनियर विलियम्स और सर सैयद अहमद जैसे व्यक्ति उनके परम मित्र थे। लाहौर मे आर्य-समाज की स्थापना के लिए जब किसी हिन्दू ने स्थान नही दिया तब एक मुस्लिम भद्र पुरुष खान बहादुर डॉ० रहीम खान की कोठी पर ही २४ जून, १८७७ मे उसकी स्थापना की गयी। सर सैयद अहमद ने एक बार उन्हे अपने घर भोजन करने के लिये आमन्त्रित किया तो वह बोले, "आपके घर खाना खाने मे मुझे कोई आपत्ति नही है, परन्तु खाऊँगा नही। स्वार्थी लोगों ने जनता को गुमराह करने के लिये अफवाह फैला दी है कि मैं मुसलमानो और ईसाइयो का दूत हूँ। हिन्दू धर्म को भ्रष्ट करना चाहता हूँ। आपके घर खा लिया तो उनको मन चाहा प्रमाण मिल जायेगा।"

स्वामीजी के इस रूप पर प्रकाश डालने वाली एक और घटना इस प्रकार है। अभी वे अपने प्रचार अभियान पर नही निकले थे। चिन्तन करते ही घूम रहे थे। सन् १८६६ मे वह जब सौरभ (जिला मुजफ्फरनगर) पहुँचे तो देववन्द के हजरत मुहम्मद कासिम साहव 'दारुल उलूम' की स्थापना के उद्देश्य से उनसे मिलने आये। उनमे क्या वातें हुई, यह तो पता नही, पर उन्होने ४५०) रु० चन्दे के रूप मे उन्हे दिये थे। तव जनाव मुहम्मद कासिम साहव ने उनको 'रहवरे आजम' कहकर पुकारा था।[१]

स्वामीजी के प्रति अनेक मुस्लिम भद्र पुरुषो ने भक्तिभाव पूर्ण उद्गार प्रकट किये हैं। वम्वई आर्य समाज की स्थापना के समय उसकी सस्थापना समिति के सदस्यो मे एक सदस्य हाजी अल्लारखा रहमतुल्ला सोनावाला भी थे। सन् १८८७ मे स्वामीजी की मृत्यु पर सूफी फकीर रहीम वख्श ने जो मार्मिक श्रद्धांजलि दी थी, वह इस प्रकार थी—

> सचाई पर झुठाई कभी गालिव आती नही।
> और वलियो की जुवाँ से वुराई सुनी जाती नही॥
> किसी चीज की कीमत उसका वक्त आने पर होती है।
> मुल्क हिन्द मे वलियो की कीमत जमाना गुजर जाने पे होती है॥

एमर्सन ने कही लिखा है कि वडे होने के साथ एक शर्त है, 'गलत समझा जाना'। हर महापुरुष की यही नियति रही है, स्वामी दयानन्द की विशेष रूप से, क्योकि उन्होने अनेक वाधाओ से जूझते हुए गहन अन्धकार मे से होकर मार्ग वनाया है। इसीलिए उनमे सन्तो की नम्रता और निरहकारिता नही दिखाई देती। उन्होने धीरे-धीरे चलने वाली नीति नही अपनाई थी, वल्कि घन की चोट की थी। उन्होने निर्भीकता के साथ, कह सकते हैं, एक सीमा तक क्रूरता के साथ, जो कुछ उन्हे वुरा लगा स्पष्ट कह दिया। कूटनीति का पाठ उन्होने नही ही पढा था। पर उनके प्रहारो मे न तो किसी प्रकार का द्वेष था, न घृणा का पुट। उनका मूल्याकन हर दृष्टि से सही नही भी हो सकता, पर उद्देश्य निश्चय ही खरा था। उन्हीके शव्दो मे, "मेरी कोई नवीन कल्पना या मतमतान्तर चलाने का लेश मात्र भी अभिप्राय नही है किन्तु जो सत्य है उसे मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको तोडना-तुड़वाना अभीष्ट है, यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त मे से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्यावर्त व अन्य देशो मे अधर्म युक्त चाल चलन है उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त वातें हैं उनका त्याग नही करता, न करना चाहता हूँ क्योकि ऐसा करना मनुष्य धर्म के वाहर है।"

उनकी इन वेलाग और उग्र वातो का एक परिणाम यह हुआ कि उनका विरोध प्रवल से प्रवलतर हो उठा। अठारह वार उनकी हत्या करने की चेष्टा की गयी। लेकिन वे सदा शान्त और निर्द्वन्द्व वने रहे। वे क्षमा करना जानते थे लेकिन अन्ततः उनके विरोधी उन्हे जहर देने मे सफल हो ही गये। सुकरात और ईसा की भाँति उन्होने भी अपने हत्यारो की ओर करुणा भरी दृष्टि से देखा और उन्हे क्षमा कर दिया लेकिन अपना सयम नही छोडा। मृत्यु शैया पर उन्होने जिस निर्भीकता और शान्ति का परिचय दिया वह कोई सत्य का अन्वेषक ही दे सकता था।

---

१. धर्मयुग–राजनाथ पाण्डेय का लेख ९ नवम्वर, १९८० (धनराशि के वारे मे शका है)

उस दिन दीवाली थी, तमस पर प्रकाश की विजय का पर्व। जीवन भर वे भी तमस के विरुद्ध युद्ध करते रहे थे। उनके सारे शरीर पर फफोले उभर आये थे। श्वास तीव्र गति से चल रही थी। उन्होने नेत्र खोले। नयनो मे नीर भरे अनेक भक्त वहाँ खडे थे। स्वामीजी ने उन्हे पीछे खडे हो जाने के लिए कहा, बोले, "सब द्वार खोल दो। प्रकाश को आने दो।"

द्वार खुलते ही वहाँ प्रकाश भर उठा। उन्होने पूछा, "आज कौन सा दिन, कौन-सी तिथि और कौन-सा पक्ष है?"

एक भक्त ने उत्तर दिया, 'कृष्ण पक्ष का अन्त और शुल्क पक्ष का आरम्भ है। तिथि अमा है और वार मगल।"

स्वामीजी का मन खिल उठा। उन्होंने चारों ओर देखा। फिर मत्रोच्चार करने लगे—

तेरी मधुर याद जब जागे, हो जाता ऐसा उन्माद
अपने मे ही खोया-सा मन अपने से करता सम्वाद
कब होगा यह यज्ञ शेष, कब होगी अन्तिम आहुति
कब इस आहुत जीवन का प्रभु कर लोगे स्वीकार प्रसाद।

ऋ० ७।८६।२

मत्रोच्चार करते करते वे समाधिस्थ हो गये। कुछ क्षण बाद आँखें खोली। मधुर स्वर मे बोले 'हे दयामय, "हे सर्वशक्तिमान, तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। तूने अच्छी लीला की।"

और ओम् का उच्चारण करते हुए प्राणो को मुक्त कर दिया, जीवात्मा प्रियतम से मिलकर पूर्णकाम हो गया। वे चले गये, परन्तु भारत के सास्कृतिक और राष्ट्रीय नव-जागरण मे उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है और अमर भी। उनकी मान्यताओ और सिद्धांतो ने एक बार तो हीन भावग्रस्त इस जाति को अपूर्व उत्साह से भर दिया था। अन्धविश्वास और कुरीतियों के जाल से मुक्त होकर उन्होने जिस गतिमय मार्ग को अपनाया था, वही मार्ग आज हमे वैज्ञानिक युग मे ले आया है।

किसी भी देश के इतिहास के लिये यह उपलब्धि अत्यन्त गौरव का विषय हो सकती है और है। □

●

दयानन्द ने ही मुल्क को गहरी नींद से जगाया।
हाय अफसोस कि एवज में हमने उन्हें जहर पिलाया॥
हिन्दू हो चाहे हो मुसलमां इस मुल्क हिन्द का।
इ साफ से बोलो कि दयानन्द था इस जमाने में रहनुमा सबका॥

—सूफी फकीर रहीम बख्श

सृजन-चेतना के प्रतीक : श्रीमज्जयाचार्य

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

साहित्यकार बनता नही, जनमता है, यह कथन किसी अन्य साहित्यकार के साथ घटित होता है या नही, श्रीमज्जयाचार्य पर पूर्ण रूप से सही प्रमाणित होता है। उनमे सहज रचना-धर्मिता थी। सृजन उनकी चेतना का अविभाज्य अग था। उनकी भावप्रवणता और कल्पना-शीलता जितनी मुखर थी, शब्द शिल्पन उतना ही सुघड था। उन्होने कविता लिखने का अभ्यास नही किया, स्वय कविता ने उनका वरण किया। उनके अनुभवो की जमीन उर्वरा थी। सिंचन कम मिला या अधिक, उस जमीन पर डाले गए बीजो को अकुरित होना ही पडा ! उनका दृष्टिकोण सकारात्मक था। कोई भी नकारात्मक बिन्दु उनकी गति का अवरोधक नही बना। जिज्ञासाओ के पख खोलकर वे सत्य के आकाश मे उडाने भरते थे। उन्होने शब्द को इस प्रकार साध लिया कि वह उनके गभीर से गभीर अर्थ का वाहक बन गया। वे जीवन के चित्रपट पर उभरी छोटी-बडी हर घटना को कुशलता के साथ शब्दो मे उकेर देते थे। सचमुच वे एक महान साहित्यकार थे।

जन्म और दीक्षा :

श्रीमज्जयाचार्य का जन्म मारवाड के छोटे से गांव "रोयट" मे हुआ। वि० सं० १८६० आश्विन शुक्ल चतुर्दशी के दिन वे जन्मे। उनका नाम रखा गया जीतमल। परिवार के लोग प्यार से उन्हे "जीतू" कहकर पुकारा करते। वे तीन वर्ष के हुए और उनके सिर से पिता आईदानजी गोलछा का साया उठ गया। मां कल्लूजी अपने तीन पुत्रो के साथ किशनगढ जाकर रहने लगी। वहाँ आचार्य श्री भारमलजी का आगमन हुआ। कल्लूजी ने अपने पुत्रो के साथ आचार्य की उपासना और प्रवचन श्रवण का लाभ उठाया।

जयाचार्य बहुत छोटे थे, उस समय एक बार साध्वी अजबूजी (जयाचर्य की बुआजी) रोयट आई। वहाँ उनका व्याख्यान होता। गांव के लोगो मे उनके व्याख्यान का अच्छा प्रभाव था। साध्वीजी ने एक दिन कल्लूजी से पूछा—"तुम व्याख्यान क्यो नही सुनती हो ?" कल्लूजी ने उत्तर दिया—"जीतू बीमार है। वह कुछ भी खा नही सकता। उसके जीने की आशा क्षीण हो रही है।" साध्वी कल्लूजी बीमार बालक को दर्शन देने गई। बीमार बालक की आंखो मे अद्भुत चमक थी। साध्वीजी ने उसको मगल मत्र सुनाया और कल्लूजी से कहा—'यह बालक रोगमुक्त होकर साधु बने तो तुम बाधक नही बनोगी, ऐसा सकल्प स्वीकार कर लो।" कल्लूजी निःश्वास छोडती हुई बोली—"साध्वीजी ! आप साधु बनने की बात कर रही हैं। हमे इसके जीवन की भी आशा नही है।" साध्वीजी ने कहा—"यदि यह जीवित रहे तभी तुम्हारे सकल्प का उपयोग

है।" कल्लूजी ने सकल्प कर लिया। उस क्षण के बाद धीरे-धीरे बालक स्वस्थ हो गया। परिवार मे प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

वि० सं० १८६९ मे तेरापथ धर्मसंघ के दूसरे आचार्य श्री भारमलजी का चातुर्मास जयपुर था। श्राविका कल्लूजी अपने तीनो पुत्रो के साथ जयपुर गई। वहाँ जीतमल के सबसे बड़े भाई सरूपचंदजी की दीक्षा हुई। चातुर्मास के बाद पौष शुक्ल नवमी को मोहनबाडी मे वटवृक्ष के नीचे आचार्य भारमलजी ने दीक्षा सस्कार सपन्न किया।

इस घटना के बाद बालक जीतमल का मन भी दीक्षा के लिए उतावला हो उठा। उनके मन मे वैराग्य का अकुर पहले ही फूटा हुआ था। अब वे समय को खोना नही चाहते थे। माँ की आज्ञा प्राप्त कर उन्होने आचार्य भारमलजी को निवेदन किया। उनकी योग्यता पर पहले से ही सबको भरोसा था। दीक्षा की स्वीकृति मिल गई। आचार्य वर की आज्ञा से मुनि रायचदजी ने माघ कृष्ण सप्तमी को उन्हे दीक्षित कर लिया।

दो भाइयो की दीक्षा ने मझले भाई भीमराज के मन को विरक्त कर दिया। उन्होने साधु बनने का निर्णय लिया तो माँ कल्लूजी भी तैयार हो गई। आचार्यश्री के सामने उपस्थित हो उन्होने अपनी भावना प्रकट की। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को उन दोनो की दीक्षा हो गई। डेढ महीने की अवधि मे पूरा परिवार दीक्षित हो गया।

शिक्षा :

आचार्य भारमलजी ने मुनि जीतमल की शिक्षा का दायित्व मुनि हेमराजजी को सौपा। मुनि हेमराजजी आचार्य भिक्षु के पास दीक्षित वरिष्ठ साधुओ मे से एक थे। वे जितने आचार कुशल थे, उतने ही तत्त्ववेत्ता थे। उनकी सन्निधि मे मुनि जीतमल साधना के शिखर पर आरोहण कर रहे थे और अपनी प्रज्ञा का जागरण कर रहे थे। वे तत्त्व को गहराई से समझने, आगमो के रहस्यो को पकडने और प्रवचन कला मे दक्षता प्राप्त करने की दिशा मे निरतर जागरूक रहे।

वि० स० १८८१ मे मुनि हेमराजजी का चातुर्मास जयपुर था। उस समय मुनि जीतमल २१वे वर्ष मे थे। उस वर्ष उन्होने सस्कृत का अध्ययन शुरू किया। तब तक तेरापथ धर्मसघ मे सस्कृत भाषा के अध्ययन का कोई क्रम नही था। मुनि जीतमल ने एक नई धारा बहाई। सस्कृत भाषा सीखकर उन्होने जैन आगमो का तलस्पर्शी अध्ययन करने मे सफलता प्राप्त की।

विकास की यात्रा :

इसी वर्ष पौष शुक्ल तृतीया को तृतीय आचार्य श्री रायचदजी ने मुनि जीतमल को अग्रणी (साधुओ के एक वर्ग का प्रमुख) बनाकर जनपद विहार करने का निर्देश दिया। १३ वर्ष तक अग्रणी के रूप मे जनपद विहार कर मुनि जीतमल जनता को सन्मार्ग दिखाते रहे।

वि० स० १८९४ के आषाढ महीने मे आचार्य श्री रायचदजी ने मुनि जीतमल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर एक प्रकार से तेरापंथ का शासन सूत्र उन्हे सौप दिया। मुनि जीतमल ने पद्रह वर्ष तक युवाचार्य के रूप मे काम किया। वि० स० १९०८ माघ कृष्ण चतुर्दशी को छोटी रावलिया (उदयपुर) मे आचार्य श्री रायचंदजी का स्वर्गारोहण हुआ। उस समय युवाचार्य श्री जीतमल थली प्रदेश (बीदासर) मे विराज रहे थे। उनको दस दिन बाद आचार्य के स्वर्ग गमन का

सवाद मिला। उस दिन आप अनौपचारिक रूप मे तेरापथ के चतुर्थ आचार्य बन गए। आचार्य पद समर्पण की औपचारिकता माघशुक्ल पूर्णिमा को सम्पन्न की गई। आचार्य बनने के बाद वे जयाचार्य नाम से अधिक विश्रुत हुए। उन्होने तेरापथ धर्मसघ मे बहुआयामी विकास किया। उनके युग मे सघीय व्यवस्था की दृष्टि से ऐतिहासिक परिवर्तन हुए।

श्रीमज्जयाचार्य साधक थे, तपस्वी थे स्वाध्यायी थे, ध्यानी थे, धर्मसघ के सचालक थे, कुशल व्यवस्थापक थे, और बहुत बडे साहित्यकार थे। उन्होने अपने जीवन मे साढे तीन लाख पद्य प्रमाण साहित्य लिखकर कीर्तिमान स्थापित किया। उनकी साहित्यिक यात्रा ग्यारह वर्ष की अवस्था से ही प्रारम्भ हो जाती है। दीक्षित होने के दो वर्ष बाद ही उन्होने 'संत गुणमाला' की रचना कर अपने बुजुर्ग सन्तो को चमत्कृत कर दिया था।

जयाचार्य की साहित्यिक प्रतिभा नैसर्गिक थी। पर अठारह वर्ष की अवस्था तक उसमे कोई उल्लेखनीय स्फुरणा नही हुई थी। वि० स० १८७८ मे वे एक सामान्य साधु की भूमिका मे चातुर्मास बिताकर आचार्य श्री रायचन्दजी के दर्शन करने पहुँचे। उस चातुर्मास मे उन्होने एक काष्ठ की पात्री पर रग-वार्निश किया था। उन्हे ऐसा अनुभव हुआ कि पात्र निर्माण कला मे अच्छी योग्यता अर्जित कर सकते है। उन्होने वह पात्री गुरुदेव को दिखाई। गुरुदेव ने उनको प्रोत्साहित किया। पर वहा उपस्थित साध्वी दीपांजी ने व्यग्य की भाषा मे कह दिया—'मुनिजी! पात्र को क्या दिखाते हो? पात्र रगने का काम तो हम साध्वियाँ भी कर सकती हैं। आप तो किसी आगम ग्रन्थ की टीका लिखकर लाते तो आपकी विशेषता होती।' यह बात जयाचार्य के दिल को भीतर तक छू गई। उन्होने शायद मन ही मन आगम की टीका लिखने का सकल्प कर लिया। अगले वर्ष जबकि उनकी अवस्था मात्र १९ साल की थी, उन्होने पन्नवणा जैसे तात्त्विक आगम की राजस्थानी भाषा मे पद्यबद्ध व्याख्या लिख डाली। उसके बाद तो उन्होने अनेक आगमो की पद्यबद्ध व्याख्याएँ लिखी। वे व्याख्याएँ 'जोड' कहलाती हैं। उनमे भगवती सूत्र की जोड़ का ग्रन्थाग्र सबसे अधिक है। 'जोड' की विधा एक नई और मौलिक विधा थी। इसमे जयाचार्य की बहुश्रुतता और लेखन-त्वरता विशेष रूप से स्फुरित दिखाई देती है।

जयाचार्य का साहित्य बहुआयामी था। उन्होने जिस दिशा मे अपने साहित्य की धारा बहाई, वह बहती ही रही। उनके समग्र साहित्य को मुख्य रूप से दस विधाओ मे बांटा जा सकता है—

१. साधना
२. आख्यान
३. सस्मरण
४. जीवनिया
५. स्तुति काव्य
६. विधान, मर्यादा
७. आगम भाष्य
८. तत्त्व दर्शन
९. उपदेश
१०. न्याय और व्याकरण

जयाचार्य द्वारा रचित कृतियो की सख्या १२६ तक पहुँच जाती है। आपके समग्र साहित्य का ग्रन्थाग्र साढे तीन लाख पद्यो तक पहुँच जाता है। इनमे सबसे छोटी रचना सत गुण माला है, जिसका ग्रन्थाग्र ३८ पद्य परिमाण है। बृहत्तम रचनाओ मे चार कृतियो का ग्रन्थमान इस प्रकार है—

भगवती की जोड़	६०९०६
उपदेशरत्न कथाकोश	६६५६६
दीर्घसिद्धान्त सार	४१७९१
भ्रम विध्वंसन	१००७५

जयाचार्य का साहित्य राजस्थानी भापा मे हैं। उन्होने गद्य और पद्य—दोनो विधाओ मे अपनी लेखनी चलाई। फिर भी उनके गद्य साहित्य की अपेक्षा पद्य–साहित्य अधिक समृद्ध है। सभी ग्रथ उनकी वहुश्रुतता के जीवन्त साक्ष्य है। किसी भी तथ्य को प्रमाणित करने के लिए उन्होने कल्पना का सहारा नही लिया। मूल आगम, उनकी वृत्ति, अन्य ग्रथ कही भी विपय से सम्वद्ध वर्णन हो, उसे एकत्र सकलित करने मे उन्होने अपनी विलक्षण मेधा और अनूठी स्मरण शक्ति का उपयोग किया है। उनकी कुछ कृतिया तो ऐसी है, जिनके वारे मे श्रद्धेय आचार्यवर कहा करते हैं कि एक-एक कृति पर कई डाक्टरेट की जा सकती हैं। उन कृतियो को पढ़ते-पढते कई वार ऐसा विचार आता है कि जयाचार्य को किसी दिव्य शक्ति का सहयोग प्राप्त होना चाहिए, अन्यथा एक व्यक्ति इतने काम करते हुए इस प्रकार साहित्य का विशाल भाडार भर नही सकता। उनकी प्रज्ञा मे इतनी स्फुरणा थी कि सामने आए हुए किसी भी प्रसग पर उनकी लेखनी चले विना नही रहती थी।

जयाचार्य की कृतियो मे एक ओर आगम के गूढ़ रहस्यो का अनावरण हुआ है, तो दूसरी ओर जीवनी लेखन की शृ खला काफी लवी चली गई हैं। तत्व की गहराई तक पहुँचने के लिए उन्होने तात्विक विपयो की समीक्षा जिस सूक्ष्मता से की है, वह अपने आप मे महान् आश्चर्य का विपय है। उनके द्वारा लिखे गए आख्यानो की रोचकता भी मन को बाँधने वाली है। सस्मरण विद्या मे उन्होने इतने मधुर और वेधक सस्मरण एकत्रित किए है, जो तत्त्व वोध और मनस्तोप, दोनो को एक साथ सवलित करने वाले हैं।

जयाचार्य की साहित्य साधना किसी विषय या विधा मे वँधी हुई नही रही। जो कोई प्रसग उनके ध्यान मे आया, उनके सामने घटित हुआ अथवा स्वाध्याय काल मे मन को लुभाने वाला लगा, उन्होने उसी विपय पर लिखना शुरू कर दिया। जब कभी आत्मालोचन की मनोदशा उन्हे अन्तर्मुखी बनाती, वे स्वय को सम्वोधित कर लिखने लगते—

> जीता ! जनम सुधार, तप जप कर तन ताइयै।
> खिण मे ह्वै तन छार, दिन थोडा मे देखजे ।।
> जीता ! निज दुख जोय, कुण-कुणं कष्टज भोगव्या।
> अब दिल मे अवलोय, ज्यू सुख लहिए सासता ।।

कोई भी साहित्यकार सृजन के क्षणो मे नितात अकेला होता है, पर उसके सृजन मे विश्व की धड़कने सुनी जा सकती हैं। वास्तव मे वही साहित्कार सफल होता है, जो विश्वात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसकी रचनाधर्मिता देश और समाज मे नए प्राणों का संचार करती है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि जिस साहित्यकार की आस्थाएं और सवेदनाएं आहत नही होती, जिसका दृष्टिकोण नकारात्मक नही होता और जो अपनी पहचान खोते हुए जीवन मूल्यो का आह्वान सुनता रहता है, वह कुछ ऐसा लिख जाता है, जो शताब्दियो, सहस्राब्दियों तक आलोक वाहक वना रहता है।

जयाचार्य की रचनाधर्मिता इतनी जागरूक थी कि उन्होने आचार्य भिक्षु द्वारा लिखी गई मर्यादाओ को पद्यो मे बांधकर सघीय चेतना मे प्राण भर दिया। आचार्य भिक्षु की वाणी का पद्यो मे अनुवाद करते समय उन्होने मर्यादाओ को जो सजीवता दी है, उसका एक उदाहरण—

सर्व साधु नैं साधवी, भारमलजी री भाण।
विहार चौमासो करणोतिको, करणो आण प्रमाण ।।
दिख्या देणी ते इण विधे, भारमलजी रै नाम।
सर्व साधु साधवियां तणी, मरजादा अभिराम ।।
चेला नैं कपडा तणी, साता करिया क्षेत्र नी ताहि।
आदि देई बहु वस्तुनी, ममता करी मन मांहि ।।
जीव अनन्त मूर्छा थकी, चारित्र ज्ञान गमाय।
नरक निगोद माहे गया, इम भाख्यो जिन राय ।।
तिण स्यू ममत शिष्यादिक तणी, मिटावण से उपाय।
चारित्र चोखो पालण तणो, उपाय किया सुखदाय ।।

इस प्रकार एक-एक मर्यादा को सीधी और सरल भाषा मे बांधकर जयाचार्य ने सब साधु साध्वियो को नया दृष्टि बोध दिया।

जयाचार्य के आराध्य थे आचार्य भिक्षु। सोते-जागते, भीड मे, एकान्त मे, वे कभी उन्हे भूलते ही नही थे। भगवती जोड जैसा विशालकाय ग्रन्थ, जिसमे पांच सौ गीत है, प्रत्येक गीत के अन्तिम पद मे आचार्य भिक्षु उनकी स्मृतियो मे सजीव होकर उतर आते हैं। कैसी भी रागिनी और कोई भी प्रसग, आचार्य भिक्षु की स्मृति बिना कोई गीत पूरा ही नही होता। उनकी अनेक स्फुट रचनाओ मे आचार्य भिक्षु की गौरव गाथा सहज उद्गीत हुई है। कुछ रचनाएं तो अत्यन्त चमत्कारिक प्रमाणित हुई हैं। उनमे विघ्न हरण' 'मुणिद मोरा', 'भिक्षु म्हारे प्रगट्याजी' आदि गीत अत्यन्त लोकप्रिय और जन आस्था के केंद्र बने हुए हैं।

जयाचार्य मनोविज्ञान के विद्यार्थी नही थे, फिर भी उन्होने उसको जितनी सूक्ष्मता से पकडा है, गहरी सवेदना के बिना वैसी पकड सम्भव नही है। उनके मस्तिष्क मे साधुता के कुछ आदर्श थे। उनके आधार पर उन्होने साधु के श्रेष्ठ स्वभाव का सांगोपाग वर्णन किया। इसी प्रकार उन बुने हुए आदर्शो को उधेडने वाले साधु भी उनकी कल्पना से बाहर नही थे। ओछे (तुच्छ) स्वभाव का विश्लेषण करते हुए उन्होने कितना साफ-साफ लिख दिया—

करे चालंता बात, कहै कोई ते भणी।
ठीक न कहै, बोलै और, खोडीली प्रकृति रो धणी ।।
आहार करता पूरी जयणानाय, करै को जतावणी।
तो पाछो ओडो दे जाण, खोडीली प्रकृति नो धणी ।।
चूकै पडिलेहण करत दीये सीख ते भणी।
फेरै मूढा नो नूर, खोडीली प्रकृति नो धणी ।।
एक दिन मे बहु वार, करै को जतावणी।
कहै लागो म्हारै लार खोडीली प्रकृति नो धणी ।।

जयाचार्य की एक कृति है 'झीणी चरचा'। कृति के नाम से ही यह बात स्पष्ट होती है कि इसमे झीने अर्थात् सूक्ष्म तात्त्विक रहस्यो की चर्चा है। इसके बाईस गीतो मे नौ तत्त्वो और

छह द्रव्यों के आधार पर अनेक तथ्यो का विश्लेषण हुआ है, जो हृदयग्राही होने के साथ-साथ मानसिक एकाग्रता का भी साधन है। कुछ गीत आचार्य भिक्षु द्वारा लिखित यन्त्रो और 'थोकड़ो' को आधार बनाकर लिखे गये हैं।

इस कृति का बीसवाँ और इक्कीसवाँ गीत चारित्रिक स्थिरता की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। साधु जब तक छद्मस्थ अवस्था मे रहता है, राग और द्वेष की चेतना जागृत रहती है। राग-द्वेष का जनक मोह है। मोह के कारण चेतना विकृत रहती है। जब विकृति का वेग बढता है तो साधु अपनी सीमा और स्वीकृत व्रतो का अतिक्रमण भी कर लेता है। उस स्थिति से स्वय साधु अधीर हो सकता है और श्रावक के मन मे भी उसके प्रति सदेह पैदा हो सकता है। जयाचार्य ने साधुता और असाधुता की स्थिति को पूरे विस्तार के साथ स्पष्ट किया है। इससे मन के सारे सशय दूर हो जाते है। छठे गुणस्थान से साधु जीवन की यात्रा शुरू होती है। छठे से चौदहवे गुणस्थान तक नौ भूमिकाओ मे साधु रहता है। बारहवे गुणस्थान मे पहुँचने के लिए 'मोह' का क्षय जरूरी है।

मोह क्षीण होने के बाद निश्चित रूप से ऊर्ध्वारोहण होता है, मोक्ष उपलब्ध हो जाता है। बारहवे गुणस्थान की स्थिति उत्कृष्ट साधुत्व की स्थिति है। छठे गुणस्थान मे चारित्र के पर्यवो की उज्ज्वलता मे तारतम्य रहता है। फिर भी जब तक छठा गुणस्थान विद्यमान है, छोटी बडी गलती से साधुता का लोप नही हो सकता। छठा गुणस्थान बदलने के कारणो का स्पष्ट उल्लेख करते हुए जयाचार्य ने लिखा है—

नवी दिख्या आवै जिसो रे, दोषण सेवै कोय।
अथवा थाप करै दोष री रे, तो फिरै छठो गुणठाणो सोय॥
मासी चौमासी दण्ड थी रे, छठो गुणठाणो न फिरै सोय।
फिरे ऊंधी सरधा तथा थाप सूँ रे, वलिजवर दोष थी जोय॥

इस प्रकार की गम्भीर कृतियो को पढने से सम्यक्त्व दृढ होता है और चरित्र को निर्मल रखने का लक्ष्य बनता है।

जयाचार्य के साहित्य का एक बडा हिस्सा है जैन आगमो पर उनके द्वारा लिखे गए पद्यात्मक भाष्य। उनमे सबसे बडा भाष्य है 'भगवती की जोड'। भगवती सूत्र जैन आगमो मे सबसे बडा आगम है। इसमे हजारो विषय वर्णित है। 'भगवती की जोड' मे इस पूरे आगम का गहरा मथन हुआ है। मूल आगम, उसकी वृत्ति, टब्बा और धर्मसिंह मुनिकृत यन्त्र को प्रमुख रूप से आधार बनाकर जयाचार्य ने भगवती की जोड लिखी है। पर प्रसग वश आलोच्य विषयों की समीक्षा मे उन्होने अन्य आगमो तथा ग्रन्थो का मुक्तभाव का प्रयोग किया है। एक-एक विषय की स्पष्टता के लिए दस-पन्द्रह ग्रन्थो के प्रमाण, जहाँ एक ओर जयाचार्य की बहुश्रुतता, एकाग्रता और स्मृति-पटुता के जीवत साक्ष्य है तो दूसरी ओर सुखद आश्चर्य होता है कि उस समय मे, जब कि अध्ययन की इतनी विधाएँ आविर्भूत नही थी, आपने रिसर्च की यह नई दृष्टि कहाँ से पाई?

जयाचार्य मे स्वाध्याय और सृजन की सहज रुचि थी। पर पारम्परिक धारणा के आधार पर साहित्य लिखना उन्हे कभी पसन्द नही था। उन्होने अपनी कृतियो मे स्थान-स्थान पर परम्परा से हटकर तथ्यो की स्वतन्त्र समीक्षा की है। यद्यपि उनका दृष्टिकोण बहुत ऋजु था, जैन आगम उनकी आस्था के सबसे पहले आधार थे। पूर्ववर्ती विद्वान् आचार्यो के प्रति भी उनके

मन मे सम्मान के भाव थे। फिर भी उन्होंने किसी भी समीक्षणीय बिन्दु को स्वतन्त्र एवं निर्भीक समीक्षा किए बिना नही छोड़ा। अपनी बात दृढता से कहने के बाद उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया कि उनको यह मन्तव्य उचित या अनुचित लगा, इस दृष्टि से इसका ऐसा निरूपण किया गया है। पाठको मे से किसी को यह निरूपण युक्तिसगत न लगे तो उसे मनवाने का कोई आग्रह नही है। ऐसी स्थिति मे उस प्रसग को केवलिगम्य मानकर छोड़ देना चाहिये।

ज्ञानविज्ञान की इतनी समृद्धि के बाद विचारो का यह अनाग्रह, दृष्टिकोण की यह ऋजुता एक सत्यान्वेषी व्यक्ति मे ही देखी जा सकती है। जयाचार्य उच्च कोटि के साहित्यकार थे, पर उससे पहले वे सत्य के साधक थे। दीपक सोने का हो या मिट्टी का, मूल्य उसकी लौ का होता है। साहित्यकार की चेतना धार्मिक हो या सामाजिक, मूल्य उसकी सत्योन्मुखी निष्ठा का होता है। जिस साहित्यकार की रचनाएँ अपने पाठको को सत्य से दूर ले जाती है, उनके मन मे सन्देह उत्पन्न करती है या उन्हे भटका देती हैं, वे साहित्यकार कभी शाश्वत के सगायक नही बन सकते।

जयाचार्य की चेतना सत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित थी। उन्होने जो कुछ लिखा, नाम, यश और अर्थ प्राप्ति की प्रेरणा से नही लिखा। वे सत्य के यात्री थे। सत्य उनकी मंजिल थी। उन्होने जो कुछ लिखा सत्य के लिए लिखा। यही कारण है कि ज्यो-ज्यों समय बीतता है, उनका साहित्य अधिक प्रासगिक बनता जा रहा है। सन् १९८१ मे उनके स्वर्गारोहण की एक शताब्दी पूरी हुई। उस उपलक्ष्य मे आचार्य श्री तुलसी की प्रेरणा से उनके साहित्य को जनता तक पहुँचाने का एक अभियान चला। प्रारम्भ मे उस अभियान की गति काफी तेज थी। इसी-लिए एक के बाद एक कई अमूल्य ग्रन्थ सामने आ गए। समय के अन्तराल से जय साहित्य के सम्पादन की गति कुछ शिथिल सी हुई है। उसे फिर से वेग देने की अपेक्षा है। जिस दिन आपका समग्र साहित्य सुसम्पादित होकर जनता के हाथो मे पहुँचेगा, संसार के सामने एक सत्यनिष्ठ साहित्य पुरुष पूरी तरह से उजागर हो सकेगा। □

●

जयाचार्य के साहित्य में इतनी विविधता है, उसमे इतना कथातत्व है, संस्मरण के इतने रस है और उनका सारा लेखन और चिन्तन, ऐसे मानवीय धरातल पर है, कि वस्तुतः वह रससिक्त है। उनकी रचनाओं में जहाँ धर्म, अध्यात्म, इतिहास और विभिन्न विषयो का प्रतिपादन हुआ है, वहाँ गद्य, संस्मरण, काव्य, कथा, आख्यान, पद्यानुवाद आदि विविध विधाओ का प्रयोग भी हुआ है। उनकी रचनाएँ राजस्थानी साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। राजस्थानी भाषा की साहित्यिकता को जहां इन रचनाओं में शृंगार मिला है, वहाँ राजस्थानी शब्द-भडार को अक्षुण्ण निधि के रूप में सँजोये रखने का श्रेय भी इन्हे प्राप्त है। राजस्थानी संस्कृति के कुछ मौलिक तत्वो को उजागर करने का कला-मय कार्य भी इन कृतियों द्वारा हुआ है।

—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

(धर्मयुग-२० सितम्बर, १९८१)

अमृत पुत्र विवेकानन्द

डॉ० रामजी सिंह

१. आत्मा वै जायते शिष्य :

अपनी महासमाधि के तीन-चार दिन पूर्व रामकृष्ण देव ने अपने परम शिष्य नरेन्द्र को बुलाकर उसके साथ एकान्त में रहने की इच्छा प्रकट की थी। उन्होने वात्सल्यभाव से शिष्य की ओर देखा और स्वय तो समाधिस्थ हुए ही, शिष्य को भी उस प्रभाव से आच्छन्न कर दिया। फिर जब समाधि टूटी तो श्री रामकृष्ण ने कहा– "आज तुम्हे मैंने अपना सब कुछ दे दिया है और अब मैं सर्वस्वहीन एक गरीब फकीर मात्र हूँ। इस शक्ति से तुम संसार का महान् कल्याण कर सकते हो और जब तुम इसका सम्पादन कर लोगे तो तुम फिर ससार मे न लौटोगे।" कहा जाता है कि उसी क्षण उनकी सारी शक्तियाँ नरेन्द्र के अन्दर सक्रान्त हो गयी, गुरु और शिष्य एक हो गये। मृत्यु की रात जब नरेन्द्र अपनी गोद मे गुरु के चरणो को रखकर दबा रहे थे तो मानो अपना अतिम प्रभार सौपने की दृष्टि से शिष्य-मण्डली की ओर संकेत करते हुए रामकृष्ण देव बोल उठे—"इन लड़को की ठीक से देखभाल करना।" इस वाक्य की उन्होंने रात्रिभर मे तीन बार पुनरावृत्ति की और फिर "ॐ ॐ" के उच्चारण के साथ महासमाधि में प्रवेश किया।

जिस प्रकार सुकरात को अफलातूँ, भगवान बुद्ध को आनन्द, प्रभु ईसामसीह को सत पाल मिले, उसी प्रकार श्री रामकृष्ण देव ने अपनी साधना और तपस्या से स्वामी विवेकानन्द को प्राप्त किया। शास्त्र का वचन है—"आत्मा ही पुत्र के रूप मे जन्म लेता है"—**आत्मा वै जायते पुत्रः।** मेरी विनम्र राय मे सच्चा शिष्य भी गुरु की आत्मा के ही रूप मे अवतरित होता है एवं गुरु की सम्पूर्ण दिव्य शक्तियाँ उसमे सक्रान्त करती है—

"श्रुणवन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा।
आ वे धामानि दिव्यानि तस्थु.॥

यही कारण है कि पिता पुत्र से पराजय चाहता है, और गुरु शिष्य से पराजय चाहता है—

"पुत्रात् इच्छेत् पराजयम्। शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्॥"

आरम्भ मे जब युवक नरेन्द्र ने अपने उद्दण्ड एवं छिछोरे मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर मे रामकृष्ण के आग्रह पर गाना सुनाया, तो रामकृष्ण भावाविष्ट हो गये एव गान समाप्ति पर उसका हाथ पकड कर एकान्त मे जाकर विह्वल होकर कहने लगे—"ओह! तू इतनी देर करके आया है! तू इतना निर्दय क्यो था, जो मुझे इतने दिनो तक प्रतीक्षा करनी पड़ी? मेरे कान मनुष्यो की निरर्थक बातें सुनते-सुनते पक गये हैं। ओह, मेरी कितनी साध है कि मैं अपने मन की कथा किसी ऐसे योग्य व्यक्ति के हृदय मे डाल सकूँ, जो कि मेरे आन्तरिक अनुभवो को ग्रहण कर

सके।" ....स्वामी विवेकानन्द के ही शब्दो मे हम सुने ......"कुछ देर सुबकियाँ लेने के बाद वे फिर मेरे सम्मुख हाथ जोडकर खड़े हो गये और फिर कहने लगे, "प्रभु", मैं जानता हूँ कि तुम वही नारायण के अवतार प्राचीन ऋषि "नर" हो, और मनुष्यो के दुःखो को दूर करने के लिये फिर पृथ्वी पर आए हो।" रामकृष्ण तो उन्हे इतना प्यार करने लगे कि पागल की भाँति कलकत्ते की गलियो एव ब्राह्म-समाज की सभा मे जब-तब कीर्त्तिहीन तरुण नरेन्द्र को खोजते रहते थे और जब-तब कीर्त्तिहीन तरुण नरेन्द्र को केशवचन्द्र ऐसे प्रख्यात व्यक्ति से भी ऊँचा कह देते थे। ऐसे अनेको प्रसग है, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि श्री रामकृष्ण की आध्यात्मिक चेतना का अवतरण स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व मे हुआ।

२. आत्मनो मोक्षार्थम् जगत् हिताय च ·

मध्य युग के अन्धकार मे जिस प्रकार शकराचार्य ने वैदिक धर्म को उसकी जीर्ण शीर्ण मान्यताओ से मुक्त कर अद्वैत का भास्वर प्रकाश फैलाया था, उसी प्रकार विज्ञान और तर्क के चकाचौध युक्त आधुनिक युग मे स्वामी विवेकानन्द ने वेद और वेदान्त को, जिस आत्मविश्वास और शक्ति के साथ प्रतिष्ठित किया है, उससे हमारी राष्ट्रीय अस्मिता और सांस्कृतिक गौरव को विश्व भर मे प्रतिष्ठा मिली। आज के हिन्दुत्व पर वास्तव मे वेदान्त की असाधारण छाया है, जिसे स्वामी विवेकानन्द ने शक्ति के साथ पुनर्भाषित किया था। यही कारण है कि गुरुदेव ने नोबुल पुरस्कार विजेता रोम्याँ रोलाँ को कहा था—"यदि आप भारत को समझना चाहते हैं तो विवेकानन्द-साहित्य पढे।" रोम्याँ रोलाँ ने रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का न केवल निष्ठापूर्वक अध्ययन किया, बल्कि श्री रामकृष्ण एव विवेकानन्द के विश्व-प्रसिद्ध जीवन-चरित की भी रचना की। रोम्याँ रोलाँ ने स्वय लिखा है—' विवेकानन्द साहित्य को आज ३० वर्षों के बाद भी पढने पर मेरे स्नायुओ मे विद्युत् स्पर्शाघात जैसा होता है।"

शकराचार्य के साथ स्वामी विवेकानन्द पर भगवान बुद्ध का भी अमिट प्रभाव था, यद्यपि बुद्ध ने वेद को प्रमाण नही माना था। इस प्रकार यदि बुद्ध को हम ' हिन्दुत्व का विद्रोही बालक" (The rebel child of Hinduism) माने, तो शकराचार्य एव विवेकानन्द को उसकी अत्यन्त निष्ठावान सतान मानना होगा। किन्तु यह विवेकानन्द की असाधारण प्रतिभा है कि उन्होने शकर एव बुद्ध दोनो की आध्यात्मिक विरासत का समन्वय किया। अतः उनके व्यक्तित्व मे शकर के आध्यात्मिक आदर्शवाद के साथ बुद्ध की सवेदनशीलता एव गतिशीलता, शकर की मेधा के साथ बुद्ध के अन्तरतल की करुणा, दोनो का अपूर्व सयोग है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के अन्दर आत्मसमर्पण एव मानव सेवा का भाव भरकर इसे धार्मिक सग्रहालय से उठाकर जागतिक फलक पर रखकर चमत्कृत कर दिया। वस्तुतः देखा जाय तो भगवान बुद्ध के २५०० वर्षों के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द ही विश्व मे भारत के आध्यात्मिक सदेशवाहक के रूप मे प्रस्तुत हुए। जिस प्रकार भगवान बुद्ध के हृदय मे प्राणियो के दुखो को दूर करने के लिये अगाध करुणा निःसृत होती थी, उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द के हृदय मे भी दुखी–दरिद्र लोगो के लिये अपार करुणा थी। उन्होने कहा—"जो शिव को दीन-हीन मे, दुर्बल मे और रोगी मे देखता है, वही वास्तव मे शिव की उपासना करता है और जो शिव को मूर्ति मे देखता है, उसकी उपासना तो केवल प्रारम्भिक है।" उन्होने स्पष्ट कहा था कि "परमात्मा को खोजना है तो मनुष्य की सेवा करो।" "पहले रोटी,

एव अभेद का दर्शन होगा। एक सुन्दर उपमा द्वारा डॉ० राधाकृष्णन् ने समझाते हुए कहा है कि—'जिस प्रकार जब पक्षी आकाश मे उड़ता है, या मछली जल मे तैरती है, तो उसे विकृत नही करती, उसी प्रकार अध्यात्म के पथ का साधक कही कोई सकीर्णता पैदा नहीं करता।' इसलिये श्री रामकृष्ण ने ठीक ही कहा था—'धर्म और मतवाद की चर्चा मत करो। सब एक ही है। सभी नदियाँ आखिर समुद्र मे ही मिलती है। इसलिये विभिन्न नदियो के समान विभिन्न धर्मो को फलने और फूलने दो।' जिस प्रकार प्रत्येक नदी अपनी यात्रा मे अपने भूगोल, ढलाव आदि के अनुसार अपनी धाराओ को मोडती हुई बढ़ती जाती है, उसी प्रकार विभिन्न धर्म अपने-अपने इतिहास, परम्परा, कालचक्र, भावनाओ के अनुरूप अपना स्वरूप निर्धारित करते है। लेकिन आखिर सब जल की ही धारा है, जो समुद्र की ओर प्रवहमान है।

विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित 'विश्व-धर्म' अकबर के द्वारा चलाये गये 'दीन-इलाही' या हीगेल एव उसके दक्षिणपंथी अनुयायियो द्वारा प्रतिपादित एक पृथक 'विश्वधर्म' की भाँति अव्यावहारिक नही है। अकबर ने विभिन्न धर्मों के बीच आधारभूत एकता को समझने मे भूल की थी। इसीलिये विन्सेट स्मिथ ने ठीक ही कहा कि दीन-इलाही अकबर की बुद्धिमत्ता नही, बल्कि बुद्धिहीनता का स्मारक है। हीगेल ने 'विश्व-धर्म' की कल्पना को इतना अधिक बौद्धिक बना दिया कि उसमे भावसवेग एवं सकल्प की पूर्ण अवहेलना हो गयी और वह निरर्थक कर्मकाण्ड जैसा हो गया। विश्व-धर्म की साधना मे सर्वाधिक दुष्कर वह पक्ष है, जो धर्मो के बीच उनके धर्म-दर्शन, पौराणिक आख्यान एवं कर्मकाड के क्षेत्र मे अत्यन्त तीव्र मौलिक तत्व को लेकर सामने आता है। यह ठीक है कि प्रत्येक धर्म की अपनी परम्पराएँ, अपना जीवन–दर्शन, आख्यान एव कर्मकांड होते हैं, फिर भी उनके आधारभूत व्यापक सिद्धान्तो को ढूढना मुश्किल नही है। उदाहरण स्वरूप सभी प्रधान धर्म चाहे वह हिन्दू धर्म हो या इस्लाम, ईसाई धर्म हो या बौद्ध, जरथ्रुश्ती आदि, सभी यह तो स्वीकार करते हैं कि सत्य और आभास, शाश्वत और क्षणभगुर, परमार्थ और व्यवहार मे भेद होता है, लेकिन इसका यह अर्थ नही कि धर्मों के बीच कुछ समान विशेषताओ के आधार पर ही हम **विश्व-धर्म** की स्थापना कर सकते है। स्वामी विवेकानन्द इस बात को स्वय स्वीकार करते थे कि चूँकि विविधता मे एकता प्रकृति का नियम है, अतः कोई स्वतन्त्र और पृथक 'विश्व-धर्म" सम्भव नही। उन्होने कभी भी किसी हिन्दू को ईसाई या मुसलमान या बौद्ध धर्म मे परिवर्तन की बात नही रक्खी। हर व्यक्ति अपने धर्म पर आरूढ रहकर भी अन्य धर्मों के प्रति एकात्मता का भाव अनुभव कर सकता है। आध्यात्मिकता ही एकात्मता की यह भावना है, जो कालातीत एव शाश्वत है। धर्म के बाह्य प्रतीक, उपासना-पद्धति एव कर्मकाण्ड, तथा धर्मस्थान आदि किसी आध्यात्मिक भाव और विचार को व्यक्त करते है। विश्व-धर्म की हमारी साधना तभी पूर्ण होगी, जब हम यह समझ सकेंगे कि विभिन्न धर्म एक आधारभूत सत्य की ही अभिव्यक्ति हैं। धर्म वस्तुतः कोई सिद्धान्त या प्रवचन नही है, यह तो जीवन की साधना है। इसीलिये विश्वधर्म को न कोई भौगोलिक सीमा है, न कालिक परिवेश। वह तो ब्रह्म की तरह सर्वानुगत एव अनन्त है। इसमे कोई साप्रदायिक भेदभाव, कटुता एव विग्रह नही होगे। इसमे उत्पीड़न या असहिष्णुता के लिये कोई स्थान नही होगा। यह प्रत्येक मत का वैशिष्ट्य स्वीकार करते हुए उसे मानवता की सच्ची साधना के लिये प्रेरित करेगा। इस तरह विश्व-धर्म विभिन्न धर्मो का कोई अव्यवस्थित समागम नही, बल्कि सबो के आधारभूत सत्य की ग्रहणशीलता का व्यवस्थित समागम होगा।

६ उपसंहार :—

स्वामी विवेकानन्द भगवान् रामकृष्ण के शिष्य के रूप मे अवतीर्ण हुए, लेकिन अन्त मे वे स्वय रामकृष्ण के मूर्तिमन्त रूप ही गये। उन्होने व्यक्ति के रूप मे अपना जीवन प्रारम्भ किया और अन्त मे सस्था स्वरूप बन गये। यह ठीक है कि उन्होने राजनीति मे प्रत्यक्ष भाग नही लिया, किन्तु उनके विचारो ने कितने ही क्रान्तिकारियो एव देशभक्त अराजवादियो को हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ जाने का साहस एव प्रेरणा दी। फिर उनका पारदर्शी एव जुझारू राष्ट्र-प्रेम इतना प्रगल्भ था कि आज भी उन्हे भारत का लौह रक्षा कवच माना जाता है, जिसने विदेशी सभ्यता के आक्रमण का वीरता पूर्वक मुकावला किया। वे एक साथ भारत की कामधेनु और भारत की तलवार भी थे। उनमे नये भारत के लिये एक साथ बुद्ध और शंकराचार्य का समन्वय था। लगता था कि उनके स्वरूप मे भगवान बुद्ध एव प्रभु ईसा मसीह का सयुक्त अवतार हुआ है और अध्यात्म दो छोर पर अलग-अलग नही रह सकेंगे, उनका समन्वय होगा। अतः विश्व-धर्म की साधना-यात्रा किसी ऐसे समुद्र मे नही है, जिसका ओर-छोर नही है, यह तो एक आदर्शोन्मुख यथार्थ की ओर हमारा प्रवर्त्तन हैं। हाँ, मात्र बौद्धिक साधना से हम इसे प्राप्त नही कर सकते। इसके लिये हमे भावनात्मक एव सवेगात्मक अनुकूलता के साथ-साथ दृढ सकल्प–शक्ति का परिचय देना होगा।

धर्म की आन्तरिकता और उसकी सिद्धि सम्बन्धी एकता पर वल देते हुए स्वामीजी ने कहा था—"सभी धर्मो का चरम लक्ष्य है आत्मा मे परमात्मा की अनुभूति। यही एक सार्वभौम धर्म है। समस्त धर्मो मे यदि कोई सार्वभौमिक सत्य है तो वह है ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना।" कोई व्यक्ति ससार के समस्त गिर्जाघरो मे भले ही आस्था रखता हो, अपने सिर पर समस्त धर्म ग्रन्थो का बोझ लिये घूमता हो, इस पृथ्वी की समस्त नदियो में उसने भले ही स्नान कर बपतिस्मा लिया हो, फिर भी यदि ईश्वर का दर्शन न हुआ तो स्वामीजी उसे नास्तिक एव निरर्थक ही मानेगे। साम्प्रदायिकता, सकीर्णता और इनसे उत्पन्न भयकर धर्म विषयक उन्मत्तता ने इस सुन्दर पृथ्वी को नरक से वदतर वना दिया है। इसने अनेक बार मानव-रक्त से धरती को सीचा, सभ्यता नष्ट कर डाली तथा समस्त जातियो को हताश कर डाला। इसी सन्दर्भ में उन्होने अपने सनातन हिन्दू धर्म का गौरव करते हुए कहा—"मुझको ऐसे धर्म का अवलम्बी होने का गौरव है, जिसने ससार को न केवल सहिष्णुता की शिक्षा दी, वल्कि सब धर्मो को मानने का पाठ भी सिखाया। हम केवल सबके प्रति सहिष्णुता मे ही विश्वास नही करते, वल्कि यह भी दृढ विश्वास करते हैं कि सब धर्म सत्य हैं। हमारी परम्परा अस्वीकार एव वहिष्कार की नही, वल्कि समन्वय और आत्मसात् करने की रही है। उनका व्यक्तित्व विदेशो मे इतना महत्वपूर्ण वन गया था कि भले ही उनकी तीव्र निन्दा की जाती हो या उनको अवतार माना जाता हो, लेकिन उनकी उपेक्षा करने का साहस किसी मे नही था। शिकागो के विश्वधर्म-ससद मे जव उनकी सिंह-गर्जना हुई, तो **विसकोन्सिन स्टेट जर्नल** को इनके विषय मे स्वीकार करना पड़ा कि "भले ही वे प्रकृति पूजक या मूर्ति-पूजक हो, लेकिन ईसाईयन को उनकी वहुत सी शिक्षाओ का अनुसरण करना होगा। उनका सिद्धान्त सार्वभौमिक है, सभी धर्मो का उसमे समन्वय है और चाहे जहाँ से भी सत्य मिले, उसे ग्रहण करने की उनकी वृत्ति है। रूढिवादिता अधविश्वास और निरर्थक कर्मकाण्डो के लिये तो मानो कोई स्थान ही नही है।" प्रसिद्ध समाचार पत्र **"न्यूयार्क हेरल्ड"** ने स्वीकार किया था

कि "सम्पूर्ण धर्म-संसद् मे स्वामीजी का व्यक्तित्व सर्वोपरि था। उनके प्रवचन सुनने के पश्चात् यह प्रतीत होता है कि उनके देश मे अपने धर्म-प्रचारको को भेजना कितना हास्यापद है।" "बोस्टन सांध्य पत्रिका" ने लिखा कि "स्वामी जी का प्रवचन आकोश के समान व्यापक एव उदात्त था, जिसमे सभी धर्मों के श्रेष्ठतम शिक्षाओ का समन्वय ही उनके द्वारा "सार्वभौम धर्म" के रूप मे किया गया, जिसमे सम्पूर्ण मानवता के लिये दान एव बिना लोभ या लाभ तथा भय से ईश्वर-प्रेम के स्वरूप सुकृत्य का आचरण करना मूलमन्त्र था। "बोस्टन हेरल्ड" ने स्पष्ट कहा कि "धर्म-ससद् मे अपने प्रथम प्रवचन से ही उस महासभा के मुकुटमणि बना दिया गया। वे विचारो के महान कलाकार, आस्थायुक्त आदर्शवादी एव प्रखर मच-वक्ता थे। "मिनेपोलिश स्टार" ने उनके भाषण की प्रशंसा मे कहा—"उन्होने हिन्दू धर्म की साधारण सी साधारण शिक्षा को पूरी निष्ठा एवं शान्त भाव से उपस्थित किया। उन्होने ईसाइयत के विषय मे कभी कठोर बातें नही कही, किन्तु ब्रह्म-विचार को उन्होने इस प्रकार उपस्थित किया कि उसका स्थान सर्वेपरि था।" असल मे जैसा "मेमफिस कमर्सियल" ले लिखा कि उनका प्रवचन सार्वभौम सहिष्णुता और प्रेम का दिव्य सन्देश है। रोम्या रोलां तो इनके व्यक्तित्व से अभिभूत थे। उन्होने लिखा कि—"उनका स्वर वायलिन की तरह समधुर था, जिससे बाहर का प्रसार और श्रोताओ का अन्तःकरण गुंजायमान होता रहता था। एक बार जब वे वक्तृता के लिये उपस्थित होते थे तो फिर श्रोता अपनी आत्मा की अन्तर्ध्वनि सुनकर अपने को खो बैठते थे।" इसीलिये तो भगिनी क्रिष्टियाना ने प्रभावित होकर कहा था— 'स्वामी विवेकानन्द सचमुच ईश्वर-पुत्र हैं। वह देश धन्य है, जहाँ इनका जन्म हुआ, वे लोग धन्य है जो इस पृथ्वी पर उस समय निवास करते थे और सबसे धन्य वे हैं, जिन्होने उनके चरणो मे बैठने का सौभाग्य प्राप्त किया।" असल मे वे एक साथ स्वराट भी थे, विराट भी थे। उनमे एक साथ सिंह की गर्जना भी थी और वंसी की तान भी थी। वे रुद्र रूप धारण करने वाले व्याघ्र रूप भी बन सकते थे, तो कोयल एवं तोते के समान सुकोमल वाणी से भी लोगों को शान्ति प्रदान करते थे। उनमे एक साथ साक्षात् सरस्वती और दुर्गा, विष्णु और शिव दोनो के गुणो का अपूर्व समन्वय था। □

●

अगर आप भारत को समझना चाहते हैं तो
विवेकानन्द का अध्ययन कीजिए। उनमें सब
सकारात्मक है, नकारात्मक कुछ भी नहीं है…

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

गाँधीजी के स्वानुभूत सत्यान्वेषण प्रयोग

—डॉ० प्रभाकर माचवे

"गांधी एक प्रकार से टालस्टाय ही हैं। कुछ अधिक ही अहिंसक।"—रोम्यां रोलां

गांधीजी पर इतना अधिक लिखा गया है कि नया कुछ लिखना प्राय: असभव है, परन्तु हिमालय, गगा या महासागर पर भी इतना अधिक लिखा गया है, फिर भी, बार-बार लोग वहाँ जाते हैं, नई प्रेरणा पाते हैं। उन विषयो पर रचना करते हैं। गांधी भी ऐसा ही "क्षणे-क्षणे य नवतामुपैति" विषय है। यास्क ने कहा था—"सनातन वही है जो नित्य नूतन है"। गांधी उतने ही पुराने हैं जितने वे नये हैं क्योकि वे मानते थे कि हर मानव अधूरा है, अपूर्ण है, परन्तु "पूर्ण" की तलाश मे है इसलिए अपनी आत्म-कथा को उन्होने "सत्य के प्रयोग" कहा। सत्य यदि नित्य, शाश्वत, अजन्मा और अमर है तो उसके साथ प्रयोग क्या? और दूसरी दृष्टि से देखें तो जो प्रयोग द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता, वह "सत्य" कैसा? अन्यथा वह तो एक पूर्वग्रह, मूढग्राह, या "डोग्मा" हो जायेगा। गांधी सबकुछ थे या नही थे, पर वे अधविश्वासी नही थे। वे "वाद" दुराग्रही नही थे। अत: वे स्वयं कहते थे कि "गांधी-वाद" जैसी कोई चीज़ नही है। वे व्यक्ति-पूजा विरोधी थे। एक बार उनके जीवन काल मे एस० के० पाटील ने बम्बई के समुद्र किनारे बापू की एक विशाल प्रतिमा स्थापित करने का प्रस्ताव किया था, तो उन्होने जमकर उसका विरोध किया था। "हरिजन" मे लेख लिखकर "ऐसे काम को कोई एक पाई न दे" यह स्पष्ट आदेश दिया था।

"सत्य" एक दार्शनिक-आध्यात्मिक शब्द है। "प्रयोग" योग मे "प्र" प्रत्यय लगाकर विज्ञान-सम्मत शब्द है। गांधी अध्यात्म और विज्ञान का सगम करना चाहते थे। उनके लेखे निरी "सत्य-नारायण" की कथा वांचना और सिर्फ "सत् श्री अकाल" कहकर चाहे जो काम करना, सत्य का अपलाप था। सत्य किसी का मुंहताज नही। न वह यह कहता है कि "आ", मुझे पूज"। सत्य सूर्य की तरह अपनी जगह है। वह नही घूमता, हम उसके आसपास घूमते हैं। हमारी अपेक्षा से वह "अर्द्ध सत्य" या आंशिक सत्य बनता है। सत्य के लिए ईशावास्योपनिषद मे लिखा था—

"हिरण्मये न पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्
तत त्वं पूषन्नप्रावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।"

गाँधीजी द्वारा सपादित "आश्रम भजनावली" मे इस ईशावास्य के पन्द्रहवें मन्त्र का अर्थ दिया है—"सोने की तरह चमकीले ढक्कन से सत्य का मुंह ढँका हुआ है। हे पूषन् (जगत् का पोषण करनेवाले भगवान!) सत्य की खोज करनेवाले—मुझको सत्य का मुह दिखाई पड़े, इसके लिए तुम वह ढक्कन हटा दो। सारे प्रलोभनो को दूर करो।"

वे यह भी अनुभव करने लगे थे कि "देश मे जिन समाज-सुधारों का प्रचार किया जा रहा है, वे केवल यांत्रिक परिवर्तन हैं। जब तक आत्मा मे परिवर्तन नही होगा, मुसीबत और पतनशीलता खत्म नही होगी। "परित्राण तो केवल आत्मा करती है। जब तक हमारा हृदय मुक्त और महान नही होगा, हम सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी मुक्त नही होगे।"

यह उक्ति उस स्वप्न की दूरस्थ भूमिका-जैसी लगती है, जिसका आख्यान श्री अरविन्द, आगे चलकर, अतिमानस के प्रसंग मे करने वाले थे।

१९०९ ई० के जुलाई महीने मे कलकत्ते मे गर्म अफवाह फैलने लगी कि सरकार श्री अरविन्द से बिलकुल ही तग आ गयी है और उसने निश्चय कर लिया है कि श्री अरविन्द को देश से निकाल दिया जाय। इससे श्री अरविन्द को कुछ भी घबराहट नही हुई, लेकिन अफवाह का विश्वास करके उन्होने आनेवाली विपत्ति से जूझने की तैयारी शुरू कर दी। इसी मनोदशा मे उन्होने 'अपने देशवासियो के नाम खुला पत्र" लिखा, जिसमे उन्होने "अगर मुझे देश निकाला दिया जाय" तथा "अगर मैं वापस न आ सकूँ" आदि कई अर्थ-पूर्ण वाक्याशो का प्रयोग किया। इस पत्र को श्री अरविन्द ने "देशवासियो के नाम मेरी अन्तिम राजनैतिक वसीयत" की संज्ञा दी और जनता से उन्होने कहा :—

"सभी महान् आन्दोलन ईश्वर के द्वारा भेजे जाने वाले अपने नेता की प्रतीक्षा करते हैं। वह नेता भगवान की शक्ति का तत्पर स्रोत होता है। जब ऐसे नेता पहुँच जाते है. तभी आन्दोलनो को सफलता मिलती है। चूँकि राष्ट्रवादी दल देश के भविष्यत् का थातीदार है, इसलिये उसे उस नेता की राह देखनी चाहिये, जो आने वाला है।"

इतिहास ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि जिस नेता के आगमन की श्री अरविंद ने भविष्यवाणी की थी, वह नेता स्वय महात्मा गाँधी थे। यह दु:ख की बात है कि इन दो महान् नेताओ की कभी भेट भी नही हो सकी।

फरवरी १९१० मे श्री अरविन्द ने कलकत्ता छोड दिया और वे पास के ही फ्रांसीसी उपनिवेश चन्दननगर चले गये। समझा यह जाता है कि श्री अरविन्द ने ऐसा इसलिए किया कि भगिनी निवेदिता से उन्हे यह पता चल गया था कि सरकार इस बार श्री अरविन्द को पकड़ कर देश से बाहर कर देना चाहती है। और श्री अरविन्द सरकार की कुत्सित योजना को विफल कर देने को कटिबद्ध थे। और सचमुच ही जब श्री अरविन्द कलकत्ते से बाहर निकल गये, सरकार ने उनके खिलाफ मुकद्दमा दायर कर दिया। श्री अरविन्द के खिलाफ दायर किया जाने वाला यह तीसरा मुकद्दमा था, लेकिन सबूत के अभाव मे वह भी खारिज हो गया।

अन्त मे अन्तर्ध्वनि से या ऊपर से "आदेश" पाकर श्री अरविन्द ने चन्दरनगर को भी छोड़ दिया और वे पाण्डिचेरी के लिए रवाना हो गये, जो उस समय फ्रांस के ही अधिकार मे था। पाण्डिचेरी में श्री अरविन्द ५ अप्रेल, १९१० को पहुँचे और फिर मृत्यु-पर्यन्त वही रह गये। पाडिण्चेरी मे उन्होने योग साधना की, कविताएँ लिखी, दर्शन और बड़े-बड़े निबन्ध लिखे तथा मानवता के इतिहास मे उन्होने अपने को अमर कर दिया।

जब श्री भास्कर लेले ने श्री अरविन्द से योग धारण करने को कहा था, उस समय श्री अरविन्द ने जवाब दिया था कि कविता और राजनीति से मुझे बेहद प्यार है। योग मैं तभी कर सकता हूँ, जब कविता और राजनीति के साथ वह कोई हस्तक्षेप नही करे। किन्तु अन्त

मे श्री अरविन्द ने योग के लिए राजनीति का त्याग कर दिया, यद्यपि कविता वे तब भी करते रहे।

अनेक बार यह शंका उठायी जाती है कि श्री अरविन्द ने अचानक राजनीति को क्यों त्याग दिया? राजनीति का त्याग कही उन्होंने यह सोचकर तो नहीं किया कि अण्डमान की कालकोठरी मे आजीवन सडने के बजाय यह कही श्रेष्ठ है कि एकान्त मे बैठकर कविता लिखी जाय, योग साधना की जाय और मानवता के उद्धार का कोई आध्यात्मिक मार्ग ढूढा जाय।

इस अनुमान मे कुछ ताकत जरूर दिखायी देती है। किन्तु श्री अरविन्द की कठोर तपस्या, उनकी विराट उपलब्धि और उनके जीवनव्यापी अध्यवसाय के सामने यह अनुमान हास्यास्पद मालूम होता है। श्री अरविन्द जीवन से भागने वाले पुरुष नही थे, न वे जिन्दगी से हार कर पाण्डिचेरी मे शरण खोजने गये थे। उनका योग नकारात्मक नही, स्वीकारात्मक था। भगवान ने श्री अरविन्द का उपयोग पहले भारतीय जीवन की जडता को तोड़ने के लिए किया और जब यह कार्य सपन्न हो गया, उन्होने किसी और बडी साधना के लिए श्री अरविन्द को एकान्त मे खीच लिया। अलीपुर जेल मे कोई न कोई चमत्कार अवश्य घटित हुआ होगा, जिससे श्री अरविन्द इस निष्कर्ष पर आ गये कि राजनीति को साथ लेकर योग-साधना नही की जा सकती। अतएव योग के लिए अब राजनीति का त्याग ही उचित है।

सन् १९२० ई० मे जब कांग्रेस ने असहयोग करने का निश्चय किया, श्री अरविन्द के एक शिष्य श्री दोराई स्वामी ऐयर ने श्री अरविन्द से पूछा कि आपके बिना भारत का स्वाधीनता-सग्राम कैसे चलेगा। श्री अरविन्द का उत्तर था, "मैंने भगवान से यह आश्वासन पा लिया है कि भारत स्वतन्त्र हो जायगा। अगर यह आश्वासन मुझे नही मिला होता, मैं राजनीति को हरगिज नही छोडता। योग मैंने परमेश्वर के आदेश से धारण किया है।"

दिसम्बर सन् १९१८ ई० मे श्री अम्बालाल पुराणी श्री अरविन्द से मिलने को पाण्डिचेरी गये थे। उन्होने श्री अरविन्द से कहा कि हमारी क्रान्ति की तैयारी पूरी हो चुकी है। अब आपको चाहिए कि हमारा नेतृत्व करने को आप बाहर आवें। श्री अरविन्द ने उत्तर दिया, "भारत को स्वाधीन करने के लिए शायद रक्तपात की आवश्यकता नही पडेगी।"

एक बार श्री चित्तरजन दास श्री अरविन्द से मिलने को पाण्डिचेरी गये थे। इस मुलाकात का जिक्र करते हुए एक दिन श्री अरविन्द ने कहा, श्री सी० आर० दास मेरा शिष्य होना चाहते थे। मैंने उनसे कहा कि जब तक आप राजनैतिक आन्दोलन मे है, मेरा योग आप से नही चलेगा।

सन् १९२० ई० मे श्री अरविन्द के पुराने साथी श्री बी० एस० मुंजे श्री अरविन्द से मिलने को पाण्डिचेरी गये और उनसे उन्होने कहा कि नागपुर में होने वाली कांग्रेस का सभापतित्व आप स्वीकार कीजिये। श्री अरविन्द ने जवाब दिया "अब तो यह असंभव है कि राजनीति के साथ मैं योग को मिला सकूँ। बाकी जिन्दगी के लिए मैंने योग को मिशन के रूप में धारण कर लिया है।"

सन् १९३२ ई० मे उन्होने किसी साथी या मित्र को पत्र लिखा था कि "राजनीति से वापस मैं इसलिए नही आया कि अब मैं वहाँ कोई काम नही कर सकता था। राजनीति को मैं ने इसलिए छोडा कि इस आशय का ऊपर से मुझे स्पष्ट आदेश था। मैं नही चाहता था कि कोई चीज मेरे योग के साथ हस्तक्षेप करे।"

इतना होने पर भी श्री अरविन्द अपने देश या संसार की राजनीति से कटे हुए नही थे। जब हिटलर सभ्यता को रौंदने पर उतारू हो गया, श्री अरविन्द ने उसके खिलाफ वक्तव्य दिया था। जब सर स्टैफोर्ड क्रिप्स भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का प्रस्ताव लेकर भारत आये थे, तब भी श्री अरविन्द ने कांग्रेस की कार्य-समिति को सुझाव भेजा था कि यह प्रस्ताव कांग्रेस स्वीकार कर ले। ये बाते इसका प्रमाण हैं कि श्री अरविन्द का योग पलायनवाद का पर्याय नही था। योगी हो जाने के बाद भी वे, अपने धरातल से, देश और ससार की गतिविधि मे भाग ले रहे थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय श्री अरविन्द और श्री माँ ने युद्ध-कोष मे चन्दा दिया था और मित्र-राष्ट्रो के पक्ष मे सार्वजनिक वक्तव्य देते हुए कहा था :

"हम मानते है कि यह युद्ध केवल आत्मरक्षा का युद्ध नही है, केवल उन देशो की रक्षा का युद्ध नही है, जिन्हे जर्मनी और जीवन की नाजी पद्धति अपने प्रभुत्व मे लाना चाहती है, बल्कि यह युद्ध सभ्यता की रक्षा का युद्ध है, उन सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यो की रक्षा का युद्ध है, जिन्हे इस सभ्यता ने उत्पन्न किया है। यह युद्ध मानवता के समग्र भविष्य की रक्षा का युद्ध है।"

१६ अक्तूबर, १९३९ के दिन श्री अरविन्द ने हिटलर के ऊपर "बौना नेपोलियन" शीर्षक से एक कविता लिखी थी, जिसके अन्त मे उन्होने कहा था, "यह राक्षस तूफानो से बुहारे हुए रास्ते पर दौड रहा है। इस रास्ते पर उसे या तो अपने से भी बडा राक्षस मिलेगा या उस पर भगवान का वज्र गिरेगा।" श्री अरविन्द का शाप हिटलर को लग गया।

जब सर स्टैफोर्ड क्रिप्स मार्च, १९४२ ई० मे भारत आये और उन्होने भारत मे अपने प्रस्ताव के विषय मे वक्तव्य दिया, तब इस वक्तव्य का स्वागत करते हुए श्री अरविन्द ने उन्हे लिखा था :

"यद्यपि अब मेरा कार्य-क्षेत्र राजनीति नही, अध्यात्म है, किन्तु मैं भी भारतीय स्वतन्त्रता का कार्यकर्त्ता और राष्ट्र का नेता रहा हूँ। उस हैसियत से मैं उस प्रस्ताव की प्रशंसा करता हूँ, जिसे तैयार करने मे आपने बडा प्रयास किया है। मुझे उम्मीद है कि यह प्रस्ताव स्वीकृत किया जायगा और देश उसका सही उपयोग करेगा।"

इतना ही नही, बल्कि उन्होने श्री राजगोपालाचारी और श्री बी० एस० मुंजे को अपनी राय भेजी और कार्य-समिति को अपना सुझाव श्री दोराई स्वामी ऐयर के मार्फत भेजा। किन्तु काग्रेस ने उस प्रस्ताव को ठुकरा दिया, क्योकि गाँधीजी ने कह दिया था कि यह प्रस्ताव उस बैंक का पोस्टडेटेड चेक है, जिसका दिवाला निकलने वाला है।

जिस समय क्रिप्स भारत आये थे, लडाई मे अगरेजो का बुरा हाल था और कांग्रेस के नेता इस भाव से भरे हुए थे कि इग्लैण्ड अवश्य हार जायगा। इसलिए सरकार मे सम्मिलित होने मे वे घबरा गये। किन्तु श्री अरविन्द जानते थे कि जीत मित्र-राष्ट्रो की होगी, अतएव देश इस मौके को हाथ से न जाने दे, इसी मे उसका कल्याण है। लेकिन, जैसा कि श्री आयगार ने लिखा है, "दैवी बुद्धिमत्ता को अदूरदर्शी राजनैतिक हिसाब-किताब ने वीटो कर दिया।"

इस स्थिति को श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने १३ अगस्त, १९५१ के वक्तव्य मे स्वीकार किया था।

"श्री अरविन्द वस्तुओ के भीतर छिपी आत्मा को देख लेते थे। भारत की राजनैतिक स्थिति के बारे मे उनकी दृष्टि अमोघ थी, वह कभी भी गलती नही करती थी। जब सन् १९३९ ई० मे युद्ध आरम्भ हुआ, श्री अरविन्द ने कहा था, इंग्लैण्ड और फ्रांस की विजय आसुरी शक्ति पर दैवी शक्ति की विजय का प्रमाण होगी।" जब स्टैफोर्ड क्रिप्स अपने पहले प्रस्ताव के साथ भारत आये थे, श्री अरविन्द उस समय भी बोले थे। उन्होने कहा था, "भारत को इसे स्वीकार कर लेना चाहिए।" लेकिन उनके परामर्श को हमने स्वीकार नही किया। अब हम अनुभव करते हैं कि अगर हमने क्रिप्स के पहले प्रस्ताव को मान लिया होता, तो देश का विभाजन नही होता, शरणार्थी समस्या नही उत्पन्न होती, न काश्मीर का प्रश्न खडा हुआ होता।"

यहाँ हम अब यह भी जोड सकते हैं कि तब बगला देश की ट्रेजडी भी नही हुई होती।

श्री अरविन्द की राष्ट्रीय भावना अगरेजो के प्रति घृणा से उत्पन्न नही हुई थी। घृणा तो उन्हे न किसी देश से थी, न सम्प्रदाय से। उनकी राष्ट्रीय भावना के भीतर मनुष्य मात्र का उत्थान और कल्याण समाहित था। सन् १९०७ ई० के वन्देमातरम् के किसी अक मे उन्होने लिखा था:—

"हम स्वराज्य की लडाई का समर्थन इसलिए करते है कि स्वतन्त्रता राष्ट्रीय जीवन की पहली शर्त है। दूसरा कारण यह है कि स्वराज्य के बिना राष्ट्रीय जीवन का विकास नही किया जा सकता। तीसरा कारण यह है कि मनुष्यता की उन्नति का जो अगला सोपान है, वह आधिभौतिक नही, आध्यात्मिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक उन्नति का सोपान होगा और इस सोपान पर नेतृत्व एशिया, विशेषत., स्वतत्र भारतवर्ष को देना होगा। अतएव सारे ससार के हित में भारत की स्वाधीनता परमावश्यक है। भारत को स्वराज्य इसलिए चाहिए कि उसे जीना है। स्वराज्य भारत को इसलिए भी चाहिए कि उसे सारे संसार के लिए जीना है। लेकिन भारत धनाभिमानी स्वार्थी राष्ट्र बन कर नही जियेगा, राजनैतिक और भौतिक समृद्धि का दास बन कर नही जियेगा। वह मनुष्य-जाति के आध्यात्मिक और बौद्धिक हित के लिए स्वतन्त्र हो कर जीवन यापन करेगा।"

श्री अरविन्द ने देश को जगाने के लिए कुछ भी उठा नही रखा। लेकिन देश जब पूर्णरूप से जाग्रत हो गया और श्री अरविन्द को यह विश्वास हो गया कि अब भारत स्वतन्त्र हो जाएगा, वे राजनीति को छोड कर इस उद्देश्य से एकान्त मे चले गये कि राजनीति से ऊपर उठ कर वे किसी बडे ध्येय के लिए काम कर सकें। जासेफ बैपटिस्टा को उत्तर देते हुए उन्होने लिखा था कि "अब मेरी चिन्ता का विषय यह है कि भारत अपने आत्मनिर्णय के अधिकार को लेकर क्या करेगा, वह अपनी स्वतन्त्रता का कैसा उपयोग करेगा और अपना भविष्य वह किस दिशा मे निर्धारित करेगा।"

हमे आशा है कि भारत समस्त मानव-जाति के लिए वह आध्यात्मिक भूमिका अदा करने मे समर्थ होगा, जिसकी कल्पना श्री अरविन्द ने की थी।□

ध्यान की परम्परा

—युवाचार्य महाप्रज्ञ

ध्यान की परम्परा वहुत प्राचीन है। उसका आदिस्रोत खोजना बहुत कठिन है। वह प्राग्-ऐतिहासिक है। उपलब्ध ग्रन्थो के आधार पर योग के विन्दु की कल्पना की जा सकती है। आदिनाथ को योग का प्रवर्तक बतलाया गया है।[1] "आदिनाथ" यह नाम जैन और शैव दोनो परम्पराओ मे प्रसिद्ध है। जैन परम्परा मे आदिनाथ भगवान ऋषभ् का नाम है और शैव परम्परा मे आदिनाथ शिव का नाम है। आधुनिक विद्वानो का अभिमत है कि ऋषभ और शिव दोनो एक ही व्यक्ति हैं। वह दो भिन्न परम्पराओ मे दो नामों से प्रतिष्ठित है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के प्रारम्भ मे भगवान ऋषभ की एक योगी के रूप मे वन्दना की है।[2] महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ योग का वेत्ता है। उससे पुराना कोई योग वेत्ता नही है।[3] साख्य योग परम्परा में हिरण्यगर्भ सगुण ईश्वर के रूप मे मान्य रहा है। श्रीमद् भागवत मे भगवान ऋषभ को योगेश्वर कहा गया है।[4] उन्होने नाना योग चर्चाओ का चरण किया था।[5] सम्भव है उनके ऋषभ, आदिनाथ, हिरण्यगर्भ और व्रह्मा ये नाम प्रचलित थे।

ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत–जगत का एक मात्र पति है।[6] किन्तु उससे यह स्पष्ट नही होता कि वह "परमात्मा" है या "देहधारी" ? शकराचार्य ने वृहदारण्यकोपनिषद् मे ऐसी

---

१. हठयोग प्रदीपिका : १/१७

श्री आदिनाथ नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग विद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोदुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥

२. ज्ञानार्णव १/२

योगि कल्पतरूँ नौमि, देवदेवं वृषभध्वजं।

३. महाभारत शान्तिपर्व···अ० ३४९/६५

हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः।

४. श्रीमद् भागवत् : ५/४/३

भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः

५. श्रीमद् भागवत् ५/५/२५

नानायोग चर्याचरणो भगवान् केवल्यपति ऋषभ।

६. ऋग्वेद, १०/१०/१२१/१

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स सदाधारपृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है। किन्ही विद्वानो का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वानो का कहना है कि वह संसारी हैं।[1] यह संदेह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव मे प्रचलित था। भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।[2] आत्म-विद्या सन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण मे हिरण्यगर्भ का अर्थ "ऋषभ" ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ मे थे, तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें "हिरण्यगर्भ" भी कहा गया।[3]

हिरण्यगर्भ सांख्य दर्शन मे मान्य सगुण ईश्वर या पुरुष विशेष है। इसलिए प्राग्-ऐतिहासिक काल मे ध्यान परम्परा का आदि बिन्दु भगवान ऋषभ, शैव और सांख्य साधना पद्धति मे खोजा जा सकता है।

ऐतिहासिक काल मे ध्यान परम्परा के स्रोत साख्य, शैव, तंत्र, बौद्ध, जैन और नाथ सम्प्रदाय मे उपलब्ध हैं। साख्य-दर्शन की साधना-पद्धति का अविकल रूप महर्षि पतजलि के योगदर्शन मे मिलता है। वह ई० पू० दूसरी शताब्दी की रचना है। पाणिनि के भाष्यकार, चरक के प्रति-सस्कर्ता और योग-दर्शन के कर्ता महर्षि पतजलि एक ही व्यक्ति है। अतः उनका अस्तित्वकाल पाणिनी के बाद का है। मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई० पू० ३२२ से १८६ तक माना जाता है। मौर्य-वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। वह ई० पू० १८५ मे अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया था। महर्षि पतजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्व काल ई० पू० दूसरी शताब्दी है। बौद्ध-दर्शन का साधनामार्ग, अभिधम्मकोष" (ई० सन् पांचवी शताब्दी) और "विसुद्धिमग्ग" (ई० सन् पांचवी शताब्दी) मे उपलब्ध है। आचारांग ई० पू० पाचवी शताब्दी की रचना है।

पातजल योग दर्शन साख्य-सम्मति ध्यान पद्धति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। अभिधम्म कोश और विशुद्ध मग्ग बौद्ध सम्मत ध्यानपद्धति के आधारभूत ग्रन्थ हैं। आचारांग जैन साधना पद्धति और ध्यान पद्धति का मौलिक ग्रन्थ है। भगवान पार्श्व ध्यान पद्धति के उन्नायक थे। उनकी ध्यानपद्धति जैन शासन और बौद्ध-शासन-दोनो मे सक्रान्त हुई है। विपश्यना ध्यान आचारांग और विशुद्धि मग्ग दोनो मे उपलब्ध है।

महर्षि पतजलि के योग दर्शन मे योग की व्यवस्थित पद्धति भी निरूपित है। उसकी अष्टाग योग प्रणाली मे योग बहिरग और अन्तरंग इन दो भागो मे विभक्त किया गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये बहिरंग योग है। धारणा, ध्यान और सामाधि ये तीन अन्तरग योग हैं।[4] यह स्वीकार करने मे कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उपलब्ध ध्यान

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद, १/४/६, भाष्य पृ० १८५

अत्र विप्रतिपद्यन्ते—पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे।

२. तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक ६२, सायण भाष्य।

३. महापुराण, १२/९५

सैषा हिरण्यमयी वृष्टिः धनेशेन निपातिती।
विभो हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितु जगत्॥

४. पातंजल योग दर्शन ३/७ त्रयमतरगे पूर्वेभ्य.।

ग्रन्थो मे पातंजल योग दर्शन सर्वांगीण और सुव्यवस्थित ग्रन्थ है। इसमे कुण्डलिनी, योग और षट् चक्र का निरूपण नही है। बौद्ध ध्यान पद्धति मे भी उनका वर्णन नही है। तन्त्रशास्त्र, नाथ साधना पद्धति और हठ योग मे उनका निरूपण हुआ है। भारत मे तन्त्र की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। ईसा से पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व तंत्र विद्या भारत से बाहर जा चुकी थी। उत्तरकालीन बौद्धो ने तंत्र को बहुत महत्व दिया। बौद्धतन्त्र ने विपश्यना का स्थान ले लिया। तन्त्र प्रधान बन गया। तत्र के प्रभाव से जैन परम्परा भी अस्पृष्ट नही रह सकी। जैन आचार्यों ने भी तत्र पर विशाल साहित्य रचा।

चक्र और कुण्डलिनी—ये ध्यान के बहुत महत्वपूर्ण प्रयोग है। जैन ध्यान पद्धति मे इनका समावेश प्राचीन काल से रहा है। नाम भेद के कारण उसका आकलन नही किया जा सका। आगम साहित्य तथा उत्तरवर्ती प्राचीन साहित्य मे चक्र पद्धति का विशद वर्णन मिलता है।[१] जैन साहित्य मे तेजोलब्धि का अनेक स्थलो मे निरूपण हुआ है। यह तत्रशास्त्र और हठयोग के ग्रन्थो मे निरूपित कुण्डलिनी है।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य मे कुण्डलिनी शब्द का प्रयोग नही मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य मे इसका प्रयोग मिलता है। वह तत्र-शास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य मे कुण्डलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग मे कुण्डलिनी का जो वर्णन है, उसकी तुलना तेजोलेश्या से की जा सकती है। अग्नि-ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलो के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है। यह तप की विभूति से होने वाली तेजस्विता है।[२]

शैव परम्परा मे विज्ञान भैरव बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमे ध्यान की सौ से अधिक पद्धतियाँ बतलाई गई। उसके अनुभवी साधक कम मिलते है, पर सकलन की दृष्टि से निश्चित ही वह विशिष्ट ग्रन्थ है।

बौद्ध ध्यान प्रणाली

भगवान बुद्ध ध्यान प्रधान साधक थे। उन्होंने ध्यान पर अत्यधिक बल दिया। उन्होने आनापान सती और विपश्यना के विशेष प्रयोग किये। ईसा की छठी शताब्दी मे बोधि-धर्म नाम के एक भिक्षु हुए। उन्होने ध्यान सम्प्रदाय की स्थापना की। वह ध्यान सम्प्रदाय कोरिया और जापान मे भी फैला। भगवान बुद्ध ने अपने अगोचर सत्य और परम शुद्ध ज्ञान को महाकाश्यप के मन मे सम्प्रेषित किया। महाकाश्यप ने वह ज्ञान आनन्द के मन मे सम्प्रेषित किया। बुद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध के उद्गम से निकलकर ध्यान-सम्प्रदाय के ज्ञान की यह धारा क्रमश: महाकाश्यप और आनन्द मे होकर गुरू-शिष्य क्रम से निरन्तर बहती चली गई और भारत मे बोधिधर्म इसके अट्ठाइसवें और अन्तिम गुरू हुए। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास-ग्रन्थो मे इन अठ्ठाईस धर्माचार्यों के नाम सुरक्षित हैं, जो महाकाश्यप से आरम्भ कर इस प्रकार है।

---

१. मनन और मूल्यांकन (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृष्ट-७८-८४
२. जैन योग (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृष्ट—१५३।

१. महाकाश्यप २. आनन्द ३. शाणवास ४. उपगुप्त ५. घृतक ६. मिश्छक ७. वसुमित्र ८. बुद्धनन्दी ९. बुद्धमित्र १०. भिक्षु पार्श्व ११. पुण्ययशस् १२. अश्वघोष १३. भिक्षु कपिमाल १४. नागार्जुन १५. काणदेव १६. आर्यराहुल १७. संघनन्दी १८. सघयशस् १९. कुमारत २०. जयंत २१. वसुवन्धु २२. मनुर २३. हक्लेनयशस् (या केवल हकलेन) २४. भिक्षु सिंह २५. वाशसित २६. प्रज्ञातर २७. पुण्यमित्र २८ वोधिधर्म।

इस धारा के अनुसार वोधि धर्म अट्ठाईसवें और अन्तिम धर्मनायक हैं और वे चीन में ध्यान सम्प्रदाय के प्रथम धर्म नायक हुए हैं।[1]

ईसा की छठी शताब्दी में ही बौद्ध धर्म की तत्र शाखा का विकास हुआ। यह धीमें-धीमें बुद्ध के मार्ग से दूर हटती गई। उसने इन्द्रिय भोग का समर्थन शुरू कर दिया। ध्यान के स्थान पर मत्र का जप प्रधान वन गया।

हठयोग तत्रशास्त्र, शैव साधना पद्धति और पातजल योग-दर्शन से प्रभावित है। गोरक्ष पद्धति मे योग के छः अग वतलाए गए—आसन, प्राण-सरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[2] हठयोग प्रदीपिका मे राजयोग के लिए हठविद्या की आवश्यकता वतलाई गई है।[3] हठविद्या का मूल नाथ-साधना पद्धति है।[4] उसमे नाथ सम्प्रदाय की परम्परा दी गई है। उस परम्परा मे आदिनाथ प्रथम हैं। दूसरा स्थान मत्स्येन्द्रनाथ का है।[5] हठयोग प्रदीपिका मे आसन को प्रथम स्थान दिया गया है।[6] हठयोग मे पट्कर्म, वध, मुद्रा, आदि का विकास हुआ है।

---

१. ध्यान सम्प्रदाय डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ट-१३–१४।

२ गोरक्ष पद्धति १/७ आसन प्राण-सरोधः प्रत्याहारश्च धारणा
ध्यान समाधि ते तानि भोगांशानि वदन्ति पट्॥

३. हठयोग प्रदीपिका १/२ प्रणम्य श्री गुरू नाथ, स्वात्मारामेण योगिना।
केवल राजयोगाय, हठविद्योपदिश्यते॥

४. हठयोग प्रदीपिका १/४ हठविद्या हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादत.॥

५. हठयोग प्रदीपिका १/५-९ श्री आदिनाथ मत्स्येन्द्रशावरानदभैरव.।
चौरगीमीन्मोरक्षविरूपाक्षविलेशया:॥
मथानो भेरवो योगी, सिद्धिर्वुद्धश्च कथडि।
कोरटक. सुरानदः सिद्धिपादश्च चर्पटि.॥
कानेरी पूज्यपादश्च; नित्यनाथोनिरजनः।
कपाली विदुनाथश्च, काकचडीश्वराह्वः॥
अल्लम. प्रभुदेवश्च, घोडा चोली च टिंटिणिः।
भानुकी नारदेवश्च, खड. कापालिकस्तथा॥
इत्यादयो महासिद्धा, हठयोग प्रभावतः।
खंडयित्वा कालदड, व्रह्माडे विचरंति ते॥

६. हठयोग प्रदीपिका १/१७ हठस्य प्रथमांगत्वादासन पूर्वमुच्यते।
कुर्यान्तिदासन स्थैर्यमारोग्य चागलाघवम्॥

नाथ संप्रदाय को कुछ विद्वान बौद्ध परम्परा से अनुस्यूत मानते है। कुछ विद्वान नाथ सम्प्रदाय का सम्वन्ध जैन परम्परा से जोड़ते है।

अब यह सिद्ध हो गया है कि नेमिनाथ की भारतीय लोक जीवन मे गहरी पैठ थी, यह तथ्य गोरखपंथियो मे अन्तर्भुक्त "नीमनाथी" सम्प्रदाय से भी सिद्ध होता है। इस सदर्भ मे सन्त परम्परा में प्रचलित "सद्गुरु" शव्द है, यह जैनियो का शव्द है। इसका उन्तो के अलावा और कही प्रयोग नही मिलता। जैन कवियो ने इसका प्रयोग किया है। हरिवश-पुराण" मे भीलों के श्रावक व्रत ग्रहण करने के वर्णन भी आये हैं।

नेपाल के "पैन-पी" सम्प्रदाय पर अनुसधान होने से भी पार्श्वनाथ के जीवन पर नया प्रकाश पड़ सकता है। "पैन-पी" पश्चिम नेपाल का एक दिगम्वर सम्प्रदाय है। इसके मानने वाले ठाकुर कहलाते है। यह नग्न खड्गासनी मूर्तियां पूजते हैं। इनकी मान्यताएँ जैनियो से मेल खाती है। ईश्वर के कर्तव्य पर इनकी आस्था नही है। और ये विशुद्ध शाकाहारी हैं।[१]

"चादनाथ सम्भवतः वह प्रथम सिद्ध थे, जिन्होने गोरक्ष मार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थङ्करो के अनुयायी जान पडते हैं। जैन साधना में योग का महत्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।"[२]

जैन साधना पद्धति में यम-नियम प्रारम्भ से ही मान्य हैं। आसन भी मान्य रहे हैं। बौद्ध साधना पद्धति मे आसनो के लिए कोई स्थान नही है, किन्तु जैन साधना पद्धति में उन्हे वहुत मूल्य दिया गया। भगवान महावीर स्वय अनेक आसनो का प्रयोग करते थे। उन्हे केवल ज्ञान आसन की विशेष मुद्रा मे उपलव्ध हुआ था।[३] स्थानांग सूत्र मे निषद्या के अनेक प्रकार वतलाए गए हैं[४]

१. उत्कटुका—पुतो को भूमि से घुमाए विना पैरो के वल पर वैठना।
२. गोदोहिका—गाय की तरह वैठना या गाय दुहने की मुद्रा में वैठना।
३. समपादुपुता—दोनो पैरो और पुतों को छुआ कर वैठना।
४. पयका—पद्मासन।
५. अर्धपर्यंका—अर्ध पद्मासन।

जैन आचार्यो ने कुछ शर्तों के साथ प्राणायाम को भी मान्य किया है।[५] ध्यान की तीन परम्पराएँ मिलती है। प्राचीनतम ध्यान पद्धति का नाम हैं—विपश्यना, पश्यना[६], या

---

१. तीर्थङ्कर नवम्बर १९७१, पृष्ट-४-६।
२. नाथ सप्रदाय (हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ० १९०३।
३, आयार चूला १५/३८
४. ठाण ५/५०
५. महावीर की साधना का रहस्य (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृ० २७०-२७६
६. पन्नवणा ३०/१५

प्रासणिया[1] । दूसरी श्रेणी की ध्यान पद्धति है—धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान । जिसका वर्णन स्थानाग मे विस्तार के साथ उपलब्ध है । श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य मे दीर्घ काल तक इसी पद्धति का अनुसरण किया गया । भगवान महावीर के निर्वाण के बाद इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा और जबू –ये केवली हुए । केवली परपरा के विच्छिन्न होने के पश्चात् श्रुतकेवली की परपरा चली । चतुर्दश पूर्वी श्रुत केवली कहलाते है । छः श्रुतकेवली हुए प्रभव, शयभव, यशोभद्र, सभूतविजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र । भद्रबाहु ने महाप्राण ध्यान की साधना की थी । और यह माना जाता है कि चतुर्दश पूर्वी ही महाप्राण ध्यान की साधना कर सकता है। महाप्राण ध्यान के विषय मे यत्र-तत्र कुछ जानकारी है । पर इसकी विशेष विधि का व्यवस्थित वर्णन उपलब्ध नही है ।

आचार्य कुन्दकुन्द की ध्यान पद्धति ज्ञाता-द्रष्टा शुद्धोपयोग प्रधान थी । वह भी प्राचीन परपरा से अनुस्यूत है । पूज्य पाद का समाधि तत्र भी उसी कोटि का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । हरिभद्र सूरि ने ध्यान की पद्धति को एक नया आयाम दिया । इस विषय मे योगविंशिका और योग दृष्टिसमुच्चय दोनो ग्रन्थ द्रष्टव्य है । अन्य प्रचलित ध्यान पद्धतियो का तुलनात्मक अध्ययन तथा जैन परिभाषा के साथ उसका सामञ्जस्य बिठाने मे उनका योगदान महत्वपूर्ण है । आचार्य शुभचद्र के ज्ञानार्णव तथा आचार्य हेमचद्र के योगशास्त्र मे तत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है । उसमे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत ध्यान का वर्णन तथा पार्थिव, वारुणी, आग्नेयी, वायवी और तत्वरूपा—इन पाँच धारणाओ का उल्लेख जैन ध्यान पद्धति के क्षेत्र मे नया सग्रहण है । पिछली आठ-दस शताब्दियो मे इन्ही का प्रयोग होता रहा । उपाध्याय यशोविजयजी ने हरिभद्रसूरि का अनुकरण किया है ।

ध्यान विचार एक अज्ञात कर्तृक कृति है । उसमे ध्यान के चौवीस मार्ग बतलाए गए है—ध्यान, परमध्यान, शून्य, परमशून्य, कला, परमकला, ज्योति, परमज्योति, बिन्दु, परमबिन्दु, नाद, परमनाद, तारा, परमतारा, लय, परमलय, लव, परमलव, मात्रा, परममात्रा, पद, परमपद, सिद्धि, परमसिद्धि । प्रस्तुत ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे निबद्ध है । उसमे एतद्विषयक प्राकृत गाथा भी उद्धृत है ।[2] उससे पता चलता है कि यह चौबीस ध्यान की परपरा ग्रन्थकाल से प्राचीनकाल मे रही है । यह ग्रन्थ ध्यान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है । इसमे ध्यान के विविध मार्गो का समाहार है । ध्यान के इन चौबीस मार्गो का प्रयोग जैन परपरा मे कब से प्रारभ हुआ और कब तक होता रहा इसके बारे मे निश्चय पूर्वक अभी कुछ नही कहा जा सकता । यह विषय अन्वेषणीय है ।

आनदघन जी और चिदानद जी—जैसे कुछ योगी सत हुए हैं । उनकी साधना अध्यात्म-चिन्तन, जप, मत्र और स्वरोदय से प्रभावित रही है ।

---

१. पन्नवणा ३०/१

२. ध्यानविचार पृ० १ श्लोक

सुन्न कल जोइ बिन्दू नादो तारा लओ लवो मत्ता ।
पय सिद्धी परमजुया झाणाई हुति चउवीसा ॥

जैन परम्परा मे मंत्र साधना के साथ-साथ जपयोग का भी विकास हुआ है। उसका इतिहास लगभग दो हजार वर्ष पुराना है। ईसा की अठारहवी शताब्दी मे जयाचार्य ने ध्यान पर कुछ लघु ग्रन्थ लिखे। पद्धति की दृष्टि से वे महत्वपूर्ण है[१] —

एकान्त स्थान मे स्थिर आसन मे बैठे। प्राणायाम का साधना कर दृष्टि को मध्य मे स्थापित कर ध्यान और समाधि का अभ्यास किया जाए।

पद पर ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। "अधुवे" इत्यादि पदो पर ध्यान किया जाए अथवा समभाव मे स्थिर होकर अपने में बीती हुई दुखद घटनाओ का चिंतन किया जाए।

आवागमन से शून्य स्थान मे जो शरीर और मन को स्थिर बना ध्यान किया जाए। वह दिन या वेला कब आयेगी जब दुख पैदा करने वाले मानसिक द्वन्द्व समाप्त होगे।

प्रात.काल, मध्याह्न अथवा सध्या के समय ध्यान करने से निश्चित ही विपय की उपाधि मिट जाती है।

भोजन और वस्त्र आदि के ममत्व को छेद डाल, कठोर वचन सुनकर क्रोध मत कर, स्तुति मे हर्ष और निन्दा मे विषाद मत कर, चित्त को धृति मे स्थापित कर।

आचार्य श्री तुलसी की ध्यान के विषय मे एक कृति है—मनोनुशासनम्। उसमे पातजल योग दर्शन, आचार्य हेमचद्र के योग शास्त्र आदि का प्रभाव है, किन्तु उस ग्रन्थ मे एक नया प्रस्थान है। योग की परिभाषा प्राचीन परिभाषाओ से भिन्न है[२]। जैन साधना की दृष्टि से अधिक उपयोगी है। मनोनुशासनम् के बाद प्रेक्षाध्यान की पद्धति का विकास हुआ है। वह आचारग की प्राचीनतम ध्यान परंपरा से अधिक निकट है। इस पद्धति मे हठयोग, विज्ञान आदि का भी उपयोग किया गया है। किन्तु इसका प्राण तत्व आचारांग की प्रणाली है[३]। □

---

१. आराधना श्लोक (२-६)

२. मनोनुशासनम् १/११, १३

मनोवाक्–काय-आनापान-इन्द्रिय-आहाराणां निरोधोयोगः शोधनं च।

३. प्रेक्षाध्यान : आधार और स्वरूप – लेखक युवाचार्य महाप्रज्ञ

●

प्रभु ! म्हारै मन-मन्दिर में पधारो
मन चचल है और मलिन है, ओ है धीठ धुतारो।
सब कुछ है तब ही तो तेड़ूं, सकरुण दृष्टि निहारो॥
वीतराग हो, समदर्शी हो, समता-रस संचारो।
'तुलसी' तारण तरण तीर्थपति, अपणो विरुद विचारो॥

—आचार्य तुलसी

भक्ति साहित्य की झलक

—डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

वैष्णव भक्ति साहित्य :

भक्ति, मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियो मे से एक प्रमुख प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति, ईश्वर के अस्तित्व के साथ जुडी हुई है। मन के भीतर निहित पूज्यभाव या श्रद्धाभाव, जब अपने से अधिक शक्तिशाली व्यक्ति के प्रति व्यक्त होता है, तब वह 'लौकिक श्रद्धा' कहलाता है, किन्तु जब यह भाव किसी अलौकिक, अदृष्ट शक्ति के प्रति उदय होकर शाब्दिक रूप से प्रकट किया जाता है, 'भक्ति' कहलाता है। भारतीय तत्त्व-चिन्ता मे भक्ति को, ईश्वर की उपासना, आराधना, पूजा, सेवा आदि के मूल मे स्थित, मुख्य प्रेरक-भाव माना गया है। मनुष्य अपनी सीमित शक्ति से इस विश्व का निर्माण, पालन या विध्वस नही कर सकता। अतः उसका ध्यान एक ऐसी विराट् शक्ति की ओर जाता है, जो इस दृश्यमान जगत् और विश्व के जन्म, स्थिति एव सहार का कारण है। उस शक्ति को दार्शनिको ने "ब्रह्म" शब्द से व्यवहृत किया है। यह ब्रह्म नित्य, अपरिवर्तनीय, अमर्त्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव और अन्तिम सत्य है। इसकी भक्ति का विधान ही ईश्वर-भक्ति है। ईश्वर के नाम अनेक हैं, किन्तु, वास्तव मे वह एक है।

भक्ति-विषयक भ्रान्तियाँ :

ईश्वर-भक्ति का जो रूप हमें संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, उसे कुछ विद्वान् भक्ति का वह रूप नही मानते जो परवर्ती संस्कृत एवं मध्यकालीन हिन्दी तथा भारतीय कवियों की रचनाओ मे मिलता है। उनकी मान्यता है कि वैदिक युग मे रागात्मिका भक्ति का उद्भव नही हुआ था। तत्कालीन ऋषि-मुनि ज्ञान और कर्म का विवेचन करते हुए ससार के रहस्य को जानने का विधान करते थे। भक्ति का जो रूप परवर्ती भारतीय साहित्य मे है, वह मध्यकाल मे अभारतीय तत्त्वो के सम्मिश्रण से निर्मित हुआ है। दूसरे शब्दो मे स्पष्ट कहा जाय तो, यही कहना होगा कि भारत से बाहर के उन धर्मों की भक्ति-भावना का प्रभाव भारतीय भक्ति भाव और धर्म साधनाओ पर पड़ा, जो भक्ति के मूल मे 'प्रेम' को प्रमुख स्थान देते थे। इस्लाम, ईसाई, सूफी मत और अन्य सेमेटिक धर्मो मे भक्ति का जो रूप स्वीकृत था, वह भारतीय भक्ति भावना का उपास्य रूप बना। इस विचारधारा का प्रचार करने वाले विदेशी विद्वानो मे **विलियम्स** (इंडियन रिलीजस) **बार्थ** (दि रिलीजन आफ इंडिया) **जार्ज ग्रियर्सन** (जरनल आफ इंडिया) राय एशियाटिक सोसाइटी मे भक्ति मूवमेंट शीर्षक (विस्तृत लेख) **मैक्स वेबर** (दि रिलीजस आफ इंडिला) **हार्पकिंस** (इंडिया ओल्ड एंड न्यू) **कीथ** (माइथोलोजी आफ रिलीजस) आदि ने भक्ति-भाव को ईसाइयत की देन ठहराया है। भारतीय विद्वानो मे डॉ० ताराचन्द ने अपनी

पुस्तक—"इनफ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडियन कलचर" मे निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति पर इस्लाम का प्रभाव स्वीकार किया है। सिख पथ के प्रवर्तक नानकदेव को तो डॉ० ताराचन्द ने सूफी-धर्म के प्रभाव मे ही ग्रहण किया है। उनकी दृष्टि मे नानक को वैदिक या पौराणिक धर्म का सतही तथा साधारण ज्ञान था। उन्होने अपनी भक्ति-पद्धति का आधार 'सूफी इस्लाम-धर्म' को ही बनाया है।

भारतीय भक्ति-साधना को अभारतीय सिद्ध करने के जो प्रयास उपर्युक्त विद्वानो द्वारा किये गये, उनका सप्रमाण एव सतर्क खण्डन, अनेक भारतीय विद्वानो द्वारा किया जा चुका है। आज, यह भ्रान्त धारणा, सर्वथा निर्मूल होकर निरस्त कर दी गई है कि भक्ति का विकास किन्ही अभारतीय प्रभावो से हुआ। पाश्चात्य विद्वान् वेवर महाशय ने कृष्ण को ही क्राइस्ट का रूपातरण ठहरा दिया है। जार्ज ग्रियर्सन ने अपने लेख मे एक ऐसी अप्रमाणिक एवं अनर्गल बात लिखकर भक्ति को विदेशी-देन ठहराया है, जो नितान्त हास्यास्पद एव पक्षपातपूर्ण है। वे कहते है कि प्राचीनकाल मे (?) ईसाइयो की एक बस्ती मद्रास प्रान्त मे थी, उन्ही के प्रभाव से हिन्दुओ मे भक्ति-मार्ग आया और बाद में दक्षिण भारत से समस्त भारत मे फैल गया। इसी भ्रामक धारणा की पुष्टि प्रो० एच० एच० विलसन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू रिलीजस' मे की है। उनके मत मे भक्ति अर्वाचीन युग की उपज है और विभिन्न सम्प्रदायो के गुरुओ ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया। इस प्रकार की अनेकानेक भ्रान्त विचारधाराओ के पीछे ईसाई-धर्म की प्रतिष्ठा, अपनी भक्ति-विषयक प्राचीनता, और गौरव गरिमा का गान करना ही है।

वैदिक भक्ति :

भक्ति के उद्भव के सम्बन्ध मे सबसे अधिक प्रमाण हमे ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद मे उपलब्ध होते हैं। वेदो को सामान्यत: ज्ञान मार्ग का उपदेश देने वाला कहा जाता है। किन्तु वेद की ऋचाओ का गम्भीर अध्ययन हमे बताता है कि सभी वेदो मे ऐसी ऋचाएँ मिलती हैं, जो निर्गुण निराकार ईश्वर की स्तुति आराधना, उपासना और भक्ति के निमित्त रची गई हैं। जिन ऋचाओ मे निर्गुण-निराकार ईश्वर का वर्णन है, उनमे भी भक्ति-तत्त्व का पूर्णरूपेण समावेश है। डॉ० वेनीप्रसाद ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय का आदिस्रोत ऋग्वेद है। इसके कुछ मत्रो मे मनुष्य और देवताओं के बीच गाढ़े प्रेम और मैत्री-भाव की कल्पना की गई है। 'वैदिक काल मे उपास्य-देवो के नाम की इयत्ता नही है। अनेक नामो से एक ही ईश्वर की भक्ति का विधान है। एक ही ईश्वर को विद्वान् लोग, इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि नाम से पुकारते हैं। कीथ आदि विद्वानो ने वैदिक साहित्य का अध्ययन किये बिना भ्रान्त धारणाएँ बनाकर कहना शुरु कर दिया कि भक्ति-भाव का प्रचार-प्रसार, दार्शनिक चिन्तन के बाद हुआ। वेद मे दार्शनिक आध्यात्मिक और आधिभौतिक सभी प्रकार के चिन्तन की सामग्री उपस्थित है, इसे कीथ महोदय अनदेखा कर गये।

वैदिक साहित्य मे परवर्ती नवधा-भक्ति के बीज भी विद्यमान हैं, इसमे भी अब किसी विद्वान् को सशय नही रहा है। ईश्वर को माता, पिता, बन्धु, सखा आदि सभी रूपो मे उपास्य मानने के लिए अनेक मन्त्र लिखे गये और उनका स्तवन होता रहा। कीर्तन, स्मरण, गुण श्रवण तथा विष्णु की व्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्व-पोषण सामर्थ्य आदि के लिये अनेक मन्त्रो को

रचना हुई। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे उन्ही मन्त्रों के आधार पर कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ। यदि ऋग्वेद से ही भक्ति-परक मन्त्रो को एकत्र किया जाय तो उनकी संख्या शताधिक होगी जो निर्गुण-सगुण दोनो प्रकार की भक्ति के सन्दर्भ मे विनियुक्त किये जा सकते है। यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त मे भी पुरुष (ईश्वर) की अनन्त शक्तियो एवं विभूतियो का, भक्ति के संदर्भ मे ही, वर्णन हुआ है। अथर्ववेद मे स्पष्ट कहा गया है—"हे साधको! प्रत्येक यज्ञ-कर्म मे मिलकर, कामनाओ को पूर्ण करने वाले परमेश्वर की स्तुति करो, गुणगान करो, प्रभु के अतिरिक्त, किसी अन्य की प्रशसा मत करो।" यदि चारो वेदो से भक्तिपरक मन्त्रो को एक स्थान पर रखा जाय तो चार सौ से अधिक मन्त्र ऐसे हैं जो ईश्वर-भक्ति के विविध रूपो से जुडे है। इन मत्रो पर किसी विदेशी विद्वान् की दृष्टि नही गई तो भारतीय भक्ति का क्या दोष है?

उपनिषदों में भक्ति :

उपनिषदो मे तो इस प्रकार के भक्ति-विषयक सदर्भो का विस्तार से ग्रहण किया गया है। यहाँ तक कह दिया है कि—'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्मैते कथिताह्यर्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः।" इस मत्र मे भक्ति के लिये गुरु और देव को स्पष्ट कथन से प्रकट किया गया है। ऐतरेय तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् मे इस भक्ति को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। यह भक्ति भी विदेशी विद्वानो की दृष्टि से ओझल रही, यह एक रहस्यपूर्ण आश्चर्य की बात है।

महाभारत-काल में भक्ति :

उपनिषदो के बाद, भक्ति की धारा प्रखर वेग से प्रवाहित हुई और महाभारत काल मे उसने निर्गुण के साथ सगुण-साकार (अवतारवाद) का रूप भी ग्रहण किया। जिस प्रकार वेदो मे श्रद्धा-भक्ति की अनिवार्यता पर बल दिया है, उसी प्रकार उपनिषदो मे भी श्रद्धा का वर्णन है। मुण्डकोपनिषद् का ऋषि कहता है—"तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण ये शान्ता विद्वासो भैक्ष्यचर्याचरन्तः। सूर्य द्वारेणते विरजाः प्रायान्ति यत्रामृतः सपुरुषो ह्यव्ययात्मा।" जो विद्वान् शान्त स्वभाव वाले है, भिक्षा-वृत्ति पर अवलम्बित रहकर वन मे निवास करते हैं, तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे रजो गुण से शून्य हुए सूर्य द्वार से चलकल अमृत अव्ययोत्मा पुरुष को प्राप्त होते हैं। आगे अन्य मन्त्रो मे कहा गया है कि जो साधक (भक्त) कुछ कार्य विधा, श्रद्धा और समीपस्थ सेवा के द्वारा करता है, वही तेजस्वी होता है। श्रद्धा की भक्ति को ही उपनिषदो मे प्रधानता की गई है। यम-नचिकेता सवाद मे यम ने स्पष्ट कहा है—"नैषा तर्केण मतिरायनेया 'तर्क से बुद्धि प्राप्त नही होती।" गुरु का भी उपनिषदो मे स्थान है। छान्दोग्योपनिषद मे भक्ति के लिये गुरु की आवश्यकता बताई गई है। निर्गुणमार्गी कवियो ने जब गुरु को महत्वपूर्ण स्थान दिया तो उनकी दृष्टि परम्परागत औपनिषदिक गुरु-आचार्य पर ही केन्द्रित थी, जो परवर्तीकाल मे गुरुडम के रूप मे विकृत हो गई। भक्ति के क्षेत्र मे नाम, जप, व्रत, उपासना आदि का भी उपनिषदो मे प्रचुर मात्रा मे वर्णन है, जिसे भारतीय भक्ति के उद्भव और विकास के अनुसंधान मे अनदेखा नही किया जा सकता।

राममक्ति-काव्य : उद्भव और विकास

राम काव्य परम्परा के उद्भव और विकास का अनुशीलन करने वाले विद्वानों के मतानुसार राम उत्तर-वैदिकयुग के अलौकिक शक्तिसम्पन्न दिव्य महापुरुष है। वेदो मे कुछ स्थलों पर राम शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है, किन्तु उसका अर्थ दाशरथी राम नही है। वह राम शब्द अन्यान्य अभिप्रायों का द्योतक है, अतः भक्ति के क्षेत्र मे उस राम को ग्रहण नही किया गया। रामकथा के प्रवर्तक के रूप मे आदि कवि वाल्मीकि रचित रामायण को ही रामकथा का सबसे पुरातन रूप माना जाता है। प्रायः विद्वान् लोग इसकी रचना का काल ईसा पूर्व ग्यारहवी शताब्दी स्वीकार करते हैं।

वैष्णव भक्ति के क्षेत्र मे विधि-विधानपूर्वक रामभक्ति का प्रवर्तन करने वाले श्री रामानुजाचार्य हैं। तमिल प्रदेश मे इन्ही ने रामभक्ति को सगुणोपासना के रूप मे स्वीकार किया और दशरथ पुत्र राम को अवतार मानकर उनकी पूजा-अर्चा का विधान किया। दक्षिण के चारो प्रदेशो मे यह रामभक्ति किसी न किसी रूप मे फैलती रही। इसकी चर्चा हमने उन प्रदेशो की भक्ति भावना के सन्दर्भ मे यथा स्थान की है। उत्तर भारत मे रामभक्ति को प्रमुख स्थान देने का श्रेय रामानन्द स्वामी को है। स्वामी रामानन्द किस प्रदेश मे उत्पन्न हुए थे, यह निश्चित नही है। कुछ विद्वान इन्हे दक्षिण में उत्पन्न मानते हैं और उनका कहना है कि दक्षिण प्रदेश से रामभक्ति का सस्कार लेकर रामानन्द काशी मे आये थे। अध्यात्म रामायण और अगस्त्य सहिता को लेकर रामानन्द उत्तर भारत आये और काशी में उन्होने अपना केन्द्रीय मठ बनाया। दूसरे पक्ष के विद्वान् रामानन्द का जन्मस्थान प्रयाग को मानते हैं। प्रयाग के पक्ष मे भी कोई ठोस प्रमाण नही है। इतना सर्वस्वीकृत मत है कि रामानन्द युवावस्था मे ही उत्तर भारत में आकर काशी में स्थायी रूप से बस गये थे। स्वामी रामानन्द का समय चौदहवी शताब्दी है। इस शताब्दी में रामानन्द ने अपने अनेक शिष्य बनाये थे। अतः रामानन्द सम्प्रदाय मे स्वीकृत १३५६ वि० सं० को इनकी जन्मतिथि मानना ठीक ही है।

रामानन्द ने रामभक्ति के दार्शनिक पक्ष की स्थापना के लिए रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय में स्वीकृत विशिष्टाद्वैत मत को ही आधार बनाया है। श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर शीर्षक अपने ग्रन्थ मे तथा आनन्दभाष्य में इस दार्शनिक सिद्धांत की व्याख्या अपने चिन्तन के आधार पर की है। रामानुजाचार्य से भेद करने के लिए रामानन्द ने अपने पूज्य विग्रह का स्वरूप 'सीताराम' माना है, लक्ष्मीनारायण नहीं। रामानन्द सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थो में भी राम के साथ सीता को ही पूज्य माना गया है। रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में कई परिवर्तन किये। वर्णाश्रम के अनुसार भक्ति क्षेत्र को सीमित नही रखा, वरन् सभी जातियो, वर्गों, धर्मों के मतावलम्बियो के लिए भक्ति का मार्ग खोला। स्त्री जाति को भी भक्ति क्षेत्र में समानाधिकार प्रदान किया। उत्तर भारत में रामभक्ति की महिमा का जो रूप चौदहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक रहा, उसके पीछे स्वामी रामानन्दजी की प्रेरणा ही काम करती रही।

उत्तर भारत मे रामभक्ति का प्रचार रामानन्द द्वारा हुआ, यह सर्वस्वीकृत मत है, किन्तु निर्गुण-सगुण रूप की व्याख्या करते समय कुछ भेद लक्षित होता है। स्वामी जी के शिष्यो मे निर्गुण भावना से रामोपासको की सख्या अधिक है, अतः यह भ्रम हो सकता है कि रामानन्द निर्गुणोपासक रहे होगे। किन्तु रामानन्द अपने को परम वैष्णव कहते और मानते थे। अतः उनकी

उपासना सगुण साकार की ही है, निराकार-निर्गुण की नहीं। भक्ति की व्याख्या करते हुए रामानन्द ने भक्ति को अनुराग मूलक कहा है, भगवान् की सेवा का भी उन्होने विधान किया है। नवधाभक्ति को भी उन्होने स्वीकार किया है। भक्ति के दो प्रमुख अग लिखे है, प्रपत्ति और न्यास।

रामानन्द स्वामी के शिष्यो मे कबीर, पीपा, रैदास आदि को देखकर यह आश्चर्य होता है कि इन सबको वैष्णव भावना मे स्वामी जी ने किस प्रकार लीन किया। ये सभी शास्त्र-ज्ञान रहित साधक थे। राम नाम की दीक्षा देकर राम मे अविचल भक्ति भाव की स्थापना भी विस्मयजनक है।

सगुण-साकार अवतारी श्री रामचन्द्र को आराध्य बनाकर इष्टदेव के स्थान पर अवस्थित पूजने वाले भक्तो मे गोस्वामी तुलसीदास का नाम सर्वोपरि है। 'सियाराममय सब जग जानी' कहकर सीताराम की उपासना तुलसी ठीक उसी प्रकार करते है जैसे स्वामी रामानन्द करते थे। तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्त तो श्री रामानुजाचार्य के मेल में है, किन्तु लक्ष्मीनारायण के स्थान पर तुलसीदास ने भी सीताराम को उपास्य माना है। तुलसीदास की कालजयी कृति रामचरित-मानस अवधी भाषा की रचना है, जो हिन्दी की ही एक प्रादेशिक बोली है। किन्तु रामचरितमानस की प्रतिष्ठा, आज भारत के समस्त भूभाग मे तो है ही, यह कृति विदेशो में भी सम्मान प्राप्त कर रही है। अग्रेजी, रूसी, जापानी आदि भाषाओ मे इसका अनुवाद हो चुका है। तुलसीदास आज भारत के ही नही, समस्त विश्व के कवि बन गये हैं। तुलसी की अन्य रचनाएँ भी रामायण की कथा-वस्तु पर आश्रित हैं और राम कथा के मार्मिक प्रसगो को काव्यसौष्ठव के साथ उद्घाटित करती है। विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, जानकीमगल, आदि रचनाओ मे भी वैष्णव-भक्ति का प्रवाह व्याप्त है।

रामभक्ति को रामानन्द की शिष्य परम्परा में आगे बढाने वालो मे अग्रदास का नाम उल्ले-खनीय है। अग्रदास जी अपने को जानकी मानकर 'अग्रअलि' नाम से काव्य रचना किया करते थे। रामभक्ति मे रसिक भावना का जो प्रवाह आगे चलकर आया, उसके मूल में 'अग्रदास' की रसिक भावना ही है। ईश्वरदास नाम के एक और कवि हुए, जिन्होने सत्यवती कथा लिखी। इनकी एक रचना भरत मिलाप है। नाभादास की रामभक्ति परम्परा के भक्तमाल लेखक भक्त हैं। इनकी अष्टयाम शीर्षक रचना भी प्रसिद्ध है।

रीतिकाव्य परम्परा के कवियो मे केशवदास ने भी रामचन्द्रिका नाम से रामकथा लिखी है। जिसमे भक्तिभाव को वह स्थान नही मिला जो अन्य भक्ति कवियो की रचनाओ मे मिला है। वास्तव मे केशवदास भक्त कोटि के कवि नही थे, किन्तु रामकथा के प्रभाव मे उन्होने राम का स्तवन करना चाहा था। रामचन्द्रिका को कवि ने छन्द-अलकार का ग्रंथ बना दिया है। सस्कृत के नाटक तथा काव्यो से उत्तम छन्द लेकर उनका अनुवाद अपनी काव्य शैली में किया है।

नरहरिबारहट ने "पौरुषेय रामायण" शीर्षक से रामकथा लिखी है। यह वृहदाकार रचना है। इसमे युगीन परिवेश की झलक मिलती है। कृष्णभक्त कवियो ने भी रामकथा लिखी है, जो भक्तिभाव पूर्ण है। ऐसी प्रसिद्धि है कि अष्टछाप के कवि नन्ददास पहले रामभक्त थे। निंबार्क सम्प्रदाय के परशुरामदेव ने भी रामभक्ति विषयक पद लिखे हैं। रामभक्ति की यह परम्परा वर्तमान काल तक चली आ रही है। वैष्णव भावना से कई कवियो ने राम की स्तुति की है। सूरदास ने भी रामभक्ति विषयक पद लिखकर राम भक्ति का परिचय दिया है।

श्रीकृष्ण की विष्णु के अवताररूप में भक्ति का प्रारंभ किस काल में हुआ, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। अवतारवाद की कल्पना यदि पुराणयुग से स्वीकार की जाय तो यह कहना सहज होगा कि उसी युग मे कृष्णभक्ति की अवताररूप मे कल्पना की गई होगी। भागवत धर्म, पांचरात्र तथा सात्वत नाम से प्रसिद्ध उपासना मार्गो मे भी कृष्णभक्ति के व्यवस्थित रूप को आशिक तौर पर देखा जा सकता है। महाभारत मे इन मार्गो का स्पष्ट उल्लेख है। भागवत पुराण, हरिवंश पुराण, अग्नि पुराण आदि मे कृष्णभक्ति का जैसा व्यापक एवं विशद रूप से वर्णन मिलता है, वह इस बात का प्रमाण है कि पुराण युग मे विष्णु के अवतार रूप मे श्रीकृष्ण की भक्ति का व्यापक रूप मे प्रचार हो गया था। भारत के प्राय: सभी प्रदेशो मे कृष्णोपासना अपने-अपने प्रादेशिक परिवर्तनो के साथ प्रचलित थी।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति के क्षेत्र में विराट् परिवर्तन आया। शकराचार्य के अद्वैत मत के विरोध मे जो आचार्य भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन करने मे सलग्न हुए, उन्होने अद्वैतवाद की व्याख्या अपने दृष्टिकोण के अनुसार की और उसमे भगवद्भक्ति को मुख्य रूप से स्थान दिया। राम भक्ति के क्षेत्र मे रामानुजाचार्य और रामानन्द के योगदान का वर्णन हम पहले कर चुके है। कृष्णभक्ति के क्षेत्र मे विष्णुस्वामी, निम्बार्क, वल्लभाचार्य, कृष्ण चैतन्य, हितहरिवश तथा स्वामी हरिदास का प्रमुख स्थान है। इनमे कृष्ण चैतन्य के शिष्य षट्गोस्वामियो ने वृन्दावन मे रहकर सस्कृत भाषा मे कृष्ण चैतन्य द्वारा समर्थित भक्ति का स्वरूप प्रतिपादित किया। निम्बार्काचार्य दाक्षिणात्य थे, किन्तु व्रजभूमि मे निवास करने के कारण कृष्णभक्ति के उस रूप के समर्थक बने जो व्रज मे स्वीकृत था। वल्लभाचार्य के पूर्वज तो आंध्र प्रदेश के थे, किन्तु काशी, प्रयाग और मथुरा में बसने के कारण व्रजभक्ति का ही प्रभाव इनके शुद्धाद्वैत सिद्धान्त पर पड़ा। कृष्ण चैतन्य ने किसी दार्शनिक मतवाद का प्रचार नही किया, कोई ग्र थ भी ऐसा नही लिखा जो दार्शनिक मत की स्थापना करने वाला हो, किन्तु इनके सम्प्रदाय मे दीक्षित परवर्ती पडितो ने चैतन्य मत को माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय अथवा अचिन्त्य भेदाभेदवाद के नाम से प्रसिद्ध किया। इस प्रकार व्रज मडल में मुख्य रूप से कृष्णभक्ति के पांच सम्प्रदाय मध्ययुग मे प्रचार को प्राप्त हुए। मध्वाचार्य का प्रत्यक्ष रूप से अनुसरण करने वाला कोई कृष्णभक्ति का सम्प्रदाय व्रजभूमि मे लक्षित नही होता। मध्वाचार्य कर्नाटक के थे और आज भी वहाँ माध्व मतावलम्वी साधक पाये जाते है जो हरि (कृष्ण) को सर्वोच्च उपास्य देव मानते हैं और तत्वत: जगत् की सत्ता मे विश्वास करते हैं। निम्बार्क मत का प्रचार व्रज मंडल के साथ राजस्थान मे भी है। यह कृष्ण भक्ति का एक प्राचीन सम्प्रदाय है। हित हरिवंश गोस्वामी ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, किन्तु अद्वैतपरक किसी दार्शनिक मतवाद का आश्रय नही लिया। यह सम्प्रदाय व्रजमडल मे अत्यन्त समादृत है। गुजरात तथा मध्यप्रदेश में भी इसके अनुयायी विपुल सख्या मे है। स्वामी हरिदास ने सखीभाव की उपासना पद्धति को स्वीकार कर अपनी उपासना को व्रज मे नवीन शैली से प्रस्तुत किया। इसके अनुयायी भक्तो की सख्या व्रजभूमि में ही अधिक है। स्वामी जी भी किसी दार्शनिक मतवाद के फेर में नही पड़े। केवल साधना के सहारे ही भगवान् के सामीप्य का लाभ प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त कर गये। व्रजभूमि में मथुरा, गोकुल, गोवर्धन, नन्दगाँव और बरसाना में वल्लभ-सम्प्रदाय का व्यापक प्रभाव है। इस सम्प्रदाय का साहित्य सस्कृत तथा व्रजभाषा मे उपलब्ध है। पुष्टिमार्ग

नाम से इस सम्प्रदाय को पहचाना जाता है। अष्टछाप नाम से सूरदास, नन्ददास, परमानन्द दास आदि आठ कवियो ने ब्रज भाषा मे बड़े सरस साहित्य का सृजन कर अपनी भक्ति भावना को व्यक्त किया है। कृष्ण भक्ति के और भी कई सम्प्रदाय हैं। किन्तु उनका क्षेत्र सीमित है, अतः उनका उल्लेख इस सदर्भ में आवश्यक नही है।

कृष्णभक्ति की परम्परा माधुर्य भाव के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुई और कालान्तर में रामभक्ति मे भी इस भाव को स्वीकार किया गया। शृंगारपरक भक्ति गीतो मे कुछ ऐसी मोहक शक्ति थी, जो जनसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करने मे सफल हुई। रीतिकाल मे शृंगार कवियो ने भी राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसगो को शृ गार रस मे गाकर अपने को धन्य समझा। राधा-कृष्ण की दाम्पत्य भावना को शृ गार रस मे गाकर रीतिकालीन कवि यह अनुभव करने लगे कि यदि उच्च कोटि का काव्य नही होगा, तब भी कोई हानि नही, क्योंकि राधा-कृष्ण के स्मरण का एक बहाना तो यह मान ही लिया जायेगा। इस प्रकार कृष्णभक्ति का क्षेत्र माधुर्य भाव के कारण भक्ति रस के साथ शृ गार रस तक व्यापक रूप मे फैल गया। कृष्णभक्त हिन्दी कवियो की सख्या शताधिक है। मराठी और गुजराती मे भी कृष्णभक्ति का श्रेष्ठ काव्य लिखा गया है। कृष्ण चैतन्य की कीर्तन-पद्धति ने कृष्णभक्ति को लोक चेतना के साथ जोड़कर इतना सहज-सरल बना दिया है कि आज राधा-कृष्ण का स्मरण सारे देश मे भक्ति भावना के स्तर पर किया जाता है। सामान्य जन को भक्ति के द्वारा आनन्द मार्ग पर आरूढ होने का सुअवसर मिला। भक्ति व्यक्तिगत रूप मे शान्ति प्रदान करने वाली बनी और सार्वजनिक अनुष्ठान के रूप मे मगल विधायिनी बन कर लोक चेतना को आनन्द मे निमज्जित करती रही।

भारत मे शैव और शाक्त मतावलम्बी सम्प्रदाय भी प्रारम्भ से बने रहे और अपनी भक्ति का प्रचार करते रहे। शैव लोग कश्मीर मे भी थे और दक्षिण भारत मे वीर शैव मतावलम्बी विपुल सख्या मे थे। इसी प्रकार शक्ति के उपासक भक्त कश्मीर से लेकर बगाल तक फैले हुए थे। शैव दर्शन ने भक्ति को सबल प्रदान किया था। शिव की भक्ति काशी मे अपने नवीन रूप मे थी और शाक्त मत के उपासक सर्वत्र किसी न किसी रूप मे शक्ति की आराधना कर रहे थे। ये भक्ति सम्प्रदाय आज भी भारत मे जीवित है।

जैन धर्म में भक्ति का स्वरूप :

जैन धर्म भारतवर्ष का एक अति प्राचीन धर्म है। चौवीसवे तीर्थ कर श्री महावीर स्वामी से पहले तेईस तीर्थंकरो की विशाल परम्परा को ध्यान मे रखकर यदि जैन धर्म की प्राचीनता का काल निर्णय किया जाय तो निश्चय ही यह धर्म सृष्टि के प्रारम्भ से मानव चेतना के साथ उदय होने वाला धर्म माना जायगा। जिन तीर्थंकरो के नाम इस धर्म मे स्वीकृत है, उनकी आराधना-उपासना के लिए परवर्ती जैनाचार्यो और साधुओ ने अनेक प्रकार की स्तुतियां लिखी हैं। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी में ऐसे अनेक स्तोत्र ग्र थ उपलब्ध है, जिनमे तीर्थ करो के गुण, कर्म, शील आदि का श्रद्धाभाव से वर्णन मिलता है। इन वर्णनो मे वन्दना, गुणकीर्तन और अर्चन की जो विधि है, वह वस्तुतः एक प्रकार से भक्ति का ही रूप है। भक्ति के मूल मे श्रद्धाभाव ही काम करता है। जहा श्रद्धा नही, वहा भक्ति भी नही हो सकती।

भक्ति का वर्णन करते समय जैनाचार्यो ने उसके बारह भेद स्वीकार किये हैं, जिनमे तीर्थंकर और समाधि भक्ति का पाठन एक-दो अवसरो पर ही होता है। अतः दश-विध भक्ति का प्रचलन अधिक है। इनमे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र भक्ति, योग भक्ति, आचार्य भक्ति पंच गुरु भक्ति, शान्ति भक्ति, निर्वाण भक्ति, नन्दीश्वर भक्ति और चैत्य भक्ति है। इनमे से प्रमुख भक्ति विधियो का हम सक्षेप मे परिचय दे रहे हैं।

तीर्थंकर-भक्ति से जैन धर्म की भक्ति का स्वरूप समझा जा सकता है। तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः अर्थात् तीर्थ को करने वाला तीर्थंकर कहलाता है। यह भवसागर जिस निमित्त से तिरा जाता है, वही वास्तविक तीर्थ है। जिसके सहारे, जिसके द्वारा ससार से मुक्ति प्राप्त हो, वही तीर्थ है। भवार्णव से पार जाने के लिए जिसका आश्रय ग्रहण किया जाय, वह तीर्थ है। 'तीर्यते ससार सागरो येन तत्तीर्थम्' अथवा 'धर्मश्चारित्र स एव तीर्थः, त करोतीति तीर्थ करः।' आदि वाक्यो मे तीर्थ और तीर्थ कर का स्वरूप निरूपण किया गया है। ससाररूपी भव बधन के आवागमन से मुक्त कराने वाला निमित्त तीर्थ है। उस निमित्त के विधाता होने के कारण सर्वज्ञ देव तीर्थंकर कहलाते हैं। पूज्य बुद्धि से उनकी आराधना, उपासना ही जैन भक्ति का मूल है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी तक सबकी पूजा अर्चा, आराधना, उपासना आदि ही जैन धर्म की भक्ति का प्राण है। आचार्य कुन्द ने लिखा है कि सोलह कारण भावनाओ का ध्यान करने से अल्पकाल मे ही तीर्थंकर नाम-कर्म का बध होता है। उन सोलह भावनाओ में एक अर्हत् भक्ति भी है। इसका तात्पर्य है कि अर्हत्त की भक्ति करने वाला तीर्थंकर बन जाता है। तीर्थंकर जैन भक्ति के प्रमुख विषय थे और आज भी है। उनके अभाव मे उनकी मूर्तियां पूजने की प्रथा चल पडी है।

वैष्णव धर्म की भक्ति के समान ही जैन भक्ति मे भी गुणकीर्तन, शरणागति, लघुता, दास्यभाव, नामकीर्तन, दर्शन, पापक्षरण, महत्व स्वीकृति, आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन है और आचार्यों तथा मुनियो ने इन सब भावनाओ पर विचार व्यक्त किये है। भक्ति के क्षेत्र मे शान्ति को आधार बनाया गया है। क्षणिक शान्ति और शाश्वत शान्ति नाम से इसके दो भेद किये गये हैं। सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ को विशिष्ट रूप से शाति प्रदाता माना जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने तीर्थंकर शान्तिनाथ की भक्ति मे लिखा है—"हे शान्ति जिनेन्द्र ! अनेक शान्त्यर्थी जीव आपके पाद-पद्मो का आश्रय लेकर तर गये है, उन्होने शाश्वत मोक्षरूप शान्ति प्राप्त कर ली है। मुझ पर भी कृपा दृष्टि कीजिए, मैं भक्तिपूर्वक शान्त्यष्टक पाठ कर रहा हूं।"

पूज्य बुद्धि से श्रद्धा पूर्वक ध्यानमग्न होकर जिसकी आराधना की जाती है, वह क्रिया भक्ति के अन्तर्गत ही मानी जाती है। समाधि भक्ति भी ऐसी ही भक्ति है। 'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपाम् परिहृत्य मनोयत्र स समाधिः। अनेकार्थ निघटु मे समाधि की परिभाषा करते हुए लिखा है—'चैतसश्च समाधान समाधिरिति गद्यते। आचार्य समन्त भद्र ने कहा है कि तप का फल अन्तक्रिया के आधार पर अवलम्बित है। अतः अपनी सामर्थ्यानुसार समाधि मरण मे प्रयत्नशील होना चाहिये। अन्त समय मे मन को पंच परमेष्टी, णमोकारमन्त्र, और शुद्ध आत्मा मे केन्द्रित करना सरल काम नही है। यह तभी हो सकता है, जब समाधिष्ठो की कृपा सुलभ हो। इस कृपा को प्राप्त करने के दो उपाय है, एक तो स्तुति, स्तोत्रो के द्वारा और दूसरे समाधि स्थलो के प्रति आदर-सम्मान प्रदर्शित करने से। इसी को समाधि भक्ति कहते हैं।

जैन भक्ति मार्ग में निर्वाण-भक्ति का भी उल्लेख मिलता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा कभी बुझती नही, किन्तु कर्मों के समग्रतः शान्त हो जाने पर एक नवीन रूप ग्रहण करती है। निर्वात आत्मा उस चिन्तन सुख मे निमग्न हो जाती है, जिसे छोडकर फिर उसे इस संसार मे आना नही होता। तीर्थंकरो तथा उच्च कोटि के वीत-राग महानुभावो के निधन को निर्वाण शब्द से अभिहित किया जाता है। ऐसे निर्वाण-प्राप्त दिव्य व्यक्तियो की भक्ति करना ही निर्वाण भक्ति है। जैन धर्म मे इस प्रकार की भक्ति का भी महत्व है। दिगम्बर जैन मतावलम्बी चैत्य को भी पूज्य मानते हैं और चैत्यो मे पर्याय रूप मे भी प्रतिमा को ठहराया है। अभिधान राजेन्द्र कोश मे लिखा है—'नित्य पूजा के लिये जो अर्हन्त की प्रतिमा स्थापित की जाती है, वह चैत्य कहलाती है।' अतः चैत्य शब्द की व्यापकता के कारण चैत्य-भक्ति भी जैन धर्म मे स्वीकृत है।

जैन धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो मे भक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हुए ध्यान का स्थान बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। ध्यान और भक्ति मे एकरूपता है। 'एकाग्रचित्ता निरोधो ध्यानम्'। ध्यान के द्वारा मन को आत्मा मे और भक्ति के द्वारा इष्टदेव मे एकाग्र करना होता है। जैन धर्म मे पच परमेष्ठी और आत्मस्वरूप मे कोई अन्तर न होने से भक्ति और ध्यान मे भी अन्तर कैसे हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि मे पच परमेष्ठी का चिन्तवन, आत्मा का ही चिन्तवन है। सामायिक एक ध्यान ही है। आचार्य समन्तभद्र ने मन को ससार से हटाकर आत्मस्वरूप पर केन्द्रित करने को सामायिक कहा है। ध्यान होने से सामायिक भी भक्ति है। एकान्त स्थान मे बैठकर अपने आत्मिक स्वरूप का चिन्तवन करना अथवा पच परमेष्ठी का भक्ति पाठ करना ही सामायिक है। आचार्य श्रुतसागर सूरि ने एकाग्र मन से देव वन्दना को सामायिक मानकर भक्ति की ही प्रतिष्ठा की है। पच परमेष्ठी शब्द की व्युत्पत्ति है 'परमे उत्तकृष्टे इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्र गणेन्द्रादि वन्दिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी'। यह परम पद शुद्ध आत्मा ही है अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पच परमेष्ठी हैं, जो शुद्ध आत्मा मे प्रकट होते हैं। जैन धर्म का सर्वोच्च 'णमोकार मत्र' पच परमेष्ठी से ही सबन्धित है, उसमे इन्ही पांच विभूतियो को नमस्कार किया गया है। भक्ति के क्षेत्र मे इसी प्रकार के, पूज्य बुद्धि और श्रद्धाभाव के मत्र स्वीकार्य होते हैं। यह णमोकार मत्र भी जैन भक्ति के मूल मे रहकर स्रावक का पथ प्रदर्शन करता है।

जैन धर्म मे स्वीकृत भक्ति पद्धति के विवेचन मे हम उन देवियो का भी नामोल्लेख आवश्यक समझते हैं, जो आराध्या मानी जाती हैं और जिनकी श्रद्धापूर्वक भक्ति की जाती है। देवी पद्मावती, देवी अम्बिका, देवी चक्रेश्वरी, देवी ज्वाला मालिनी, देवी सरस्वती, देवी कुरुकुल्ला सच्चियाय माता, आदि देविया पूजार्ह हैं और इनकी भक्ति प्रचलित है। इसी प्रकार कुछ देवो की भक्ति भी जैन धर्म मे है। देवो के चार भेद माने जाते हैं—भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव। इन चार प्रकार के देवताओ मे यक्ष, धरणेन्द्र, इन्द्र, ब्रह्मदेव, सूर्य नायगामेप, नागदेव भूतदेव और लोकान्तिक देव हैं, जिनकी पूजा-अर्चा भक्तिभाव से होती है। इस प्रकार भक्ति के व्यापक रूप को देखकर यह कहना तर्क सम्मत नही है कि जैन धर्म भक्ति मे विश्वास नही करता। प्राचीन दर्शन शास्त्रियो ने जैन धर्म को जिस शैली से नास्तिक धर्म ठहरा दिया था, वह भी समीचीन नही है। जैन धर्म श्रद्धा-भाव से नाना प्रकार की भक्ति मे आस्था रखता है और भक्ति के लिये उपास्य इष्टदेव भी स्वीकार करता है।

जैन धर्म में पन्थ विभाजन

संसार के सभी धर्मों एव मतमतान्तरो के अनुसार जैन धर्म मे भी वैचारिक तथा व्यावहारिक स्तर पर बदलाव आने पर वर्ग-विभाजन हुआ। इस विभाजन का आधार मुख्यत: जीवन-चर्या तथा वाह्य व्यवहार ही है। जैन धर्म के प्रारम्भ मे न तो कोई विचारभेद था न चर्या मे ही कोई पृथकत्व का भाव था। कालान्तर मे वाह्य आचरण, साधना, चर्यातात्विक दृष्टि और सघीय कल्पना में अन्तर आता गया। फलत: दिगम्बर तथा श्वेताम्बर नाम से दो भेद हुए। इस विभाजन मे मत या पंथ की स्थूल दृष्टि ही प्रधान थी। विचार के स्तर पर वैमत्य उपस्थित होने से चर्या और साधना में अन्तर आया और दो पृथक् वर्ग बन गये। दिगम्बरो मे मूर्ति-पूजा और मन्दिर को प्रमुख स्थान मिला, श्वेताम्बरो में वस्त्राभरण का निषेध नही रहा। मूर्तिपूजा का रूप परिवर्तित हो गया। श्वेताम्बर समाज में ही कुछ साधुओ और श्रावको ने मूर्तिपूजा को अस्वीकृत कर मन्दिर के स्थान पर स्थानक की कल्पना की और एक पृथक स्थानकवासी मार्ग प्रशस्त किया। स्थानक वासी मुखवस्त्र धारण करते हैं। स्थानक मे वैठकर सामायिक तथा ध्यान करते हैं। भक्ति मार्ग से दूर नही गये, किन्तु अपनी भक्ति-पद्धति को दिगम्बरो से भिन्न बना लिया। स्थानकवासी आचार्यो, उपाध्यायो तथा साधुओ की परम्परा चलने लगी, किंतु दिनचर्या और साधना के क्षेत्र मे साधु समाज मे कुछ विकृतियाँ और असंगतियो के कारण विवेकी साधुओ ने एक पृथक साधु और श्रावक समाज निर्मित किया, जो तेरापथ के नाम से जाना जाता है।

तेरापथ

तेरापथी जैन समाज में चारित्र शुद्धि कठोर चर्या और व्रत-नियम पालन पर बल दिया जाता है। जैन साधुओ की दिनचर्या यो तो बड़ी कठोर एव कृच्छ साध्य है, किंतु तेरापथ मे दीक्षित होने पर साधु और श्रावक दोनो की नियम और व्रत पालन में पूर्ण आस्था और विश्वास का परिचय देना होता है। तेरापथ का उद्भव विकृतियो के निराकरण और धर्म के सात्विक स्तर को प्रशस्त करने के उद्देश्य से हुआ था। तेरापथ के उद्भव का इतिहास साक्षी है कि जैन धर्म के मूल मन्तव्यो तथा आगमोपदिष्ट करणीय कर्तव्य-कर्मो के पालन पर इसके प्रवर्तक का ध्यान था। तीर्थंकरो के मार्ग से हटकर धार्मिक मिथ्या आडम्बरो तथा विकृतियो मे फँसे समाज को सत्पथ पर लाना ही उनका उद्देश्य था। चारित्र-शुद्धि को समाज के लिए अनिवार्य मानने वाले आचार्य भिक्षु ने जनता को सन्मार्ग पर लाने के लिये तेरापथ का सूत्रपात किया। उनकी दृष्टि मे ज्ञान दर्शन और चारित्र इन इन तीनो की सम्यक् आराधना ही मुक्ति का मार्ग है। इन तीनो मे समन्वय अनिवार्य है।

आचार्य भिक्षु ने जैन धर्म की तत्कालीन दशा का वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दो मे निर्भीक भाव से कहा—'भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद घोर अधकार छा गया है। जिन धर्म आज भी अस्तित्व में है, पर जुगनू के चमत्कार जैसा, जैसे जुगनू का प्रकाश क्षण मे होता है, क्षण मे मिट जाता है। साधुओ की पूजा अल्प होती है। असाधु पूजे जा रहे है, यह सूर्य कभी उग रहा है, कभी अस्त हो रहा है, भेखधारी वढ रहे है, ये परस्पर कलह करते हैं, ये शिष्य-शिष्याओं के लालची हैं, सम्प्रदाय चलाने के अर्थी। वैराग्य घटा है, वेश वढा है। हाथी का भार गधो पर लदा है, गधे थक गये, बोझ नीचे डाल दिया, इस काल में ऐसे भेखधारी'। इस कथन से स्पष्ट है कि आचार्य

भिक्षु ने अपने समय के विकृत समाज को देखा था और उसे सत्पथ पर लाने के लिए ही नये पथ का सूत्रपात किया था। जिस समय आचार्य भिक्षु ने चारित्र शुद्धि का प्रश्न उठाया था, उस समय नैतिक मूल्यो की अवधारणा मे आचार्यो और मुनियो की दृष्टि एक समान नही थी। एक आचार्य ने जिसे शिथिलाचार माना, दूसरे ने उसे नही माना। एक आचार्य जिस प्रवृत्ति का खण्डन करता है, दूसरा उसी का समर्थन। चर्या के सम्बन्ध में भी आचार्यो में मतभेद बना हुआ था। आचार्य भिक्षु ने ऐसी विषम परिस्थिति मे तेरा पथ का प्रवर्तन कर अपनी मान्यताओं को आगमोपदिष्ट सिद्ध किया और उन पर साधक के रूप मे चलने का आग्रह किया। आचार्य भिक्षु पहले स्थानकवासी परम्परा मे दीक्षित थे, किन्तु सवत् १८१६ मे उन्होने स्थानकवासी साधुओ की आचार शिथिलता को देखकर अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और सवत् १८१९ में तेरापथ की स्थापना की। आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी पथ से जिस समय अपना सम्बन्ध विच्छेद किया, उस समय उनकी अपने समाज मे बड़ी प्रतिष्ठा थी और यह सम्भावना थी कि अपने गुरु रुघनाथजी के बाद उन्हे आचार्य पद प्राप्त होगा, किन्तु भिक्षुजी को स्थानकवासी साधुओ की चारित्रिक शिथिलता रास नही आई और पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन को त्याग कर उन्होने अपने आचार्य के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

आचार्य श्री भिक्षु की यह पृष्ठभूमि बताती है कि तेरापथ की स्थापना का उद्देश्य मूलतः चारित्र शुद्धि और आगम विहित चर्या का पालन ही था। तेरापथ मे विगत २२९ वर्षों मे नौ आचार्य हुए हैं। इन आचार्यों मे ऐसे महामानव भी हैं, जिनका धर्माचरण, वैदुष्य, शील और तप असख्य मानवो के लिए आदर्श एव अनुकरणीय रहा है। आचार्य श्री भिक्षु (भीखणजी), आचार्य श्री जयाचार्य जी (जीतमलजी), आचार्य श्री कालूगणी (कालूरामजी), तथा आचार्य श्री तुलसी ने इतना उच्च कोटि का धार्मिक साहित्य सृजन किया है, जो परिमाण और गुणावत्ता में अपरिमेय है। इन आचार्यों की मेधा, मनीषा, काव्य प्रतिभा, विचार दर्शन और गम्भीर चिन्तन-मनन की छाप इनकी कृतियो मे सर्वत्र लक्षित होती है। यदि किसी भी एक आचार्य के साहित्य का विवेचन विश्लेषण किया जाय तो प्रत्येक के लिए पृथक् पृथक् विशाल ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। हम यहाँ उनके स्तुति, उपासना और भक्ति विषयक विचारो पर ही, सक्षेप में, कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

आचार्य भिक्षु ने तेरा पथ के प्रवर्तन के समय ही मर्यादा पालन को साधु और श्रावक दोनों के लिए अनिवार्य बना दिया। एकल विहारी साधुओ के साथ आत्मानुशासन का अंकुश रहता है, सघबद्ध साधुओ के आत्मानुशासन के साथ कुछ सघीय मर्यादाओं का पालन भी करना पड़ता है। आचार्य द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना ही मर्यादा पालन है। मर्यादा पालन के लिये श्रद्धा भाव की सुदृढ भूमि चाहिए। श्रद्धा निश्च्छल भाव से उपजती है। तर्क के आधार पर श्रद्धा और मर्यादा के महत्व को समझा नही जा सकता। भक्ति के क्षेत्र मे सबसे पहले श्रद्धा और तदनन्तर मर्यादापालन का स्थान है। भक्ति वही होगी, जहाँ आराध्य के प्रति पूज्य बुद्धि अर्थात् श्रद्धा होगी।

आचार्य भिक्षु ने आगमो को उनकी चारित्रिक उपदेशात्मकता के कारण ग्राह्य माना, जब कि दिगम्बर जैन समाज मे आगमो को लुप्तप्राय समझ कर उपेक्षणीय ठहरा दिया गया था। श्वेताम्बर जैन समाज मे भी सभी आगमो की स्वीकृति नही है। आगम विषयक विविध विचार-

धारा के कारण जैन धर्म में विभिन्न सम्प्रदायो की उत्पत्ति हुई। इस सम्बन्ध मे आचार्य भिक्षु की मान्यता स्वानुभूत स्वस्वीकृत सत्य पर आधारित है। उन्होने कहा है—' अपने विचारो का एकान्तिक आग्रह सामान्य साधु भी न करे, बहुश्रुत साधु भी न करे, और आचार्य भी न करे। सामान्य साधु, बहुश्रुत और आचार्य पर विश्वास करे और आचार्य बहुश्रुतो की बात पर समुचित ध्यान दें।" इस प्रकार यह एक ऐसी शृंखला है, जिसमे न कोई पूरा स्वतत्र है और न कोई पूरा परतत्र। संघ की आगम-स्वीकृत मर्यादा में रहकर नियम और व्रतो का पालन साधु और श्रावक दोनों के लिए अनिवार्य है।

तेरा पथ में परवर्ती आचार्यो ने भी श्रद्धा और मर्यादा को बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। श्रद्धा निश्छल भाव से उपजती है। आगम भी श्रद्धा के विषय है। जैनो में आपसी मतभेद का कारण आगम हैं। दिगम्बर जैन आगमों को आज के युग में लुप्त ठहराते हैं। श्वेताम्बर जैन समाज में कुछ आगमो की स्वीकृति है। कुछ जैनियो के मत में ४५ आगम प्रमाण है, कुछ ३२ को प्रमाण मानते हैं। आगमो के पठन-पाठन मे श्रद्धा ही प्रमुख विन्दु है। श्रद्धा से ही भक्ति पथ प्रशस्त होता है। अतः तेरा पथ में भक्ति के स्वरूप को समझने के लिए आगमो को समझना अनिवार्य है। भक्ति भावना के पोषण के लिए मूर्ति या उपास्य विग्रह की कोई कल्पना इस पथ मे नही है। णमोकार मंत्र में जिनकी पूजा-अर्चा का विधान है, वे ही उपास्य हैं।

तेरा पंथ मे आचार्य श्री भिक्षु के बाद प्रज्ञा पुरुष श्री जयाचार्य जी का उदय एक घटना है। संवत् १९०८ मे बीदासर नामक स्थान मे इन्होने आचार्यपाद की दीक्षा ग्रहण की। प्रज्ञा पुरुष जयाचार्य इन आचार्यो मे सघीय मर्यादा पालको मे विद्वता और कार्यकुशलता के कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। आगम, स्तोत्र और मत्र महिमा को तेरा पथ मे सम्मानपूर्ण स्थान देकर आचार्य श्री जयाचार्य ने साधु और श्रावक दोनो का पथ प्रशस्त किया।

तेरा पथ के नौ आचार्यो की परम्परा मे आचार्य श्री कालूराम का नाम उनकी रचनाओ के कारण उल्लेखनीय है। आचार्य श्री ने इस पथ की धार्मिक मान्यताओं को सर्वजन सुलभ बनाने मे अमित योग दिया। दीक्षा गुरु के रूप मे नवम आचार्य श्री तुलसी को आपने शिष्य बनाया। आचार्य श्री तुलसी ने अपने वैदुष्य एव समाज कल्याण के कार्यो से जैन धर्म मे नवजीवन सचार का काम किया। आचार्य श्री तुलसी आज युग पुरुष के रूप मे सर्वत्र समादृत हैं। धर्म सघ को एक सूत्र मे बांधकर अणुव्रत का प्रचार कर उन्होने सम्पूर्ण मानवता के उद्धार का कार्य किया है। अणुव्रत एक ऐसी नूतन कल्पना है. जो मानव मात्र मे लिए हितावह है। अणुव्रत को स्वीकार करने पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि उच्चभावो को मनुष्य नैसर्गिक रूप से अपनी चर्या मे स्थान देने योग्य बन जाता है। आचार्य श्री तुलसी का अणुव्रत आन्दोलन आज सार्वभौम रूप धारण कर चुका है। मानव के चारित्रिक विकास के लिए यह नूतन व्रत संकीर्णता से ऊपर एक मानवीय गुण के रूप मे ग्रहण किया जा रहा है।

तेरापथ की परम्परा को अनाविल बनाये रखने के लिए आचार्य श्री तुलसी ने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे महाप्रज्ञ युवाचार्य को अभी से चयन कर लिया है। महाप्रज्ञ युवाचार्य जैन शास्त्रो के प्रकांड पडित होने के साथ सस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के उच्चकोटि के विद्वान् हैं। उनके व्यक्तित्व मे ओज और तेज तथा कृतित्व में प्रतिभा तथा पाडित्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। युवाचार्य अपनी मनीषा और प्रतिभा का परिचय अपने तीन दर्जन से अधिक

ग्रथो द्वारा दे चुके है। ऐसे मेधावी–मर्मज्ञ मुनि को आचार्य श्री तुलसी ने अपना उत्तराधिकारी वनाकर नि.सन्देह तेरापथ का पथ भविष्य के लिए भी प्रशस्त वना दिया है।

आचार्य श्री तुलसी ने अध्यात्म के क्षेत्र मे जो सफल प्रयोग किये, उनमे अणुव्रत और प्रेक्षा-ध्यान, चरित्र निर्माण और नैतिकता की दृष्टि से उल्लेख्य है। अणुव्रत तो आज समस्त भारत मे आन्दोलन का रूप धारण कर चुका है और अव यह तेरापथ का ही नही, अखिल भारतीय चरित्र–निर्माण का एक व्यापक आन्दोलन है, जिसे धर्म, सम्प्रदाय, जाति या वर्ग–विशेप का आन्दोलन नही कहा जा सकता। यह तो हमारे राष्ट्रीय चरित्र-विकास और नैतिक मूल्यो का सस्थापक व्रत है। प्रेक्षाध्यान यद्यपि व्यक्तिगत ध्यान-धारणा और समाधि का नूतन रूप है, किन्तु इसकी साधना करने वाला व्यक्ति अपना मानसिक स्वास्थ्य सुधार सकता है। इस ध्यान मे मन को वश मे करने और वाह्य प्रपचों से दूर रहकर साधना की पद्धति को स्थान दिया जाता है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा मन की शक्ति के साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी सुधरता है। तन और मन की एकात्मता ही इस प्रेक्षाध्यान की विशेषता है। इस ध्यान के द्वारा साधक उन गहन गुत्थियो को सुलझा सकता है, जो विचार-विमर्श के वाद भी उलझी रहती है।

यदि भक्ति के सदर्भ मे जैनाचार्यो के उपदेशो का अध्ययन किया जाय तो एक विशेपता यह लक्षित होगी कि इन आचार्यो ने चरित्र के विकास और आत्मोत्थान की दिशा मे जिस शैली से कार्य किया, वह किसी वाह्य कर्मकाड या आडंवराश्रित न होकर स्वस्थ चिन्तन और मनन का परि-णाम था। भक्ति उनकी चर्या का एक अशमात्र है, जिसे तेरा पथ मे कर्मकांड द्वारा विकसित नही किया गया। जैन धर्म के "णमोकार मत्र" मे जिन पांच विभूतियो की स्तुति और कीर्तन है, वह आराधना-उपासना का ही प्रतिरूप है। अतः जैन धर्म मे और विशेप रूप में तेरापंथ मे भक्ति की स्थिति वैष्णव धर्म से कुछ भिन्न है, किन्तु भक्ति के रूप मे जो मार्ग स्वीकृत है वह भारतीय वाङ्मय मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भक्ति साहित्य ने साधु और श्रावक दोनो को सच्चरित्रता, साधुता और अहिंसा का व्रत पालक वनाया है। जीवन की सार्थकता मे इन तीनो गुणो का सर्वोच्च स्थान है। जो व्यक्ति सच्चरित्र है, वह पाप कर्मो से सदैव दूर रहेगा। असत्य भापण नही करेगा, व्यभिचार और कदाचार से वचकर जीवन यापन करेगा। पर द्रव्य को लोष्ठवत समझकर स्तेय से वचेगा। किसी भी प्राणी को मन, वचन, कर्म से पीड़ा नही देगा। साधुता का व्यवहार करेगा। सासारिक धन-सपत्ति के मोह मे नही फसेगा। अपरिग्रही होकर भक्तिभाव मे लीन रहेगा। भक्ति साहित्य का यह अवदान भारतीय मनीषा और मेधा का मेरुदड है। इसी के वल पर हम भारतीय वाङ्मय को अन्य देशो के साहित्य से पृथक् समझते हैं। भक्ति का तात्पर्य केवल आत्मनिष्ठ सुख नही है, अपितु हम प्राणिमात्र के सुख की कामना करते है। सर्वे भवन्तु सुखिनः ही हमारा ध्येय है। हमारी भक्ति मे महापुरुपो की भक्ति भी समाहित है। हम महाजनो द्वारा प्रदर्शित पथ के अनुसरण में विश्वास करते हैं। हमारी भक्ति दैवी शक्ति को जागृत करने मे है। आसुरी वृत्ति के दमन मे हम प्रयत्नशील है। हम अपनी भक्ति-साधना मे केवल आत्मसुख नही मागते, हम समस्त ससार को सुसस्कृत, सभ्य और सुखी देखना चाहते है, यही हमारी भक्ति-साधना का सर्वोच्च अवदान है।□

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान ।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान ।।

— पंत

अमृत वाणी
द्वितीय खण्ड

कवि भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित । –सं०

नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं
एसो पंच नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं

वन्दे-मातरम्

—वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय

सुजलां सुफलां मलयज - शीतलां
शस्य - श्यामलां मातरम् ।

शुभ्र ज्योत्स्ना - पुलकित - यामिनीम्
फुल्ल – कुसुमित – द्रुमदल - शोभिनीम्
सुहासिनी सुमधुर - भाषिणीम्
सुखदां वरदां मातरम् ॥

कोटिकोटि – कण्ठ – कलकल – निनाद – कराले
कोटिकोटि – भुजै धृत – खरकरवाले
के वले मा तुमि अवले ।

वहुवल - धारिणी नमामि तारिणी
रिपुदल - वारिणी मातरम् ॥

तुमि विद्या तुमि धर्म
तुमि हृदि तुमि मर्म
त्वं हि प्राणा: शरीरे ।

वाहुते तुमि मा शक्ति
हृदये तुमि मा भक्ति
तोमारइ प्रतिमा गड़ि
मंदिरे मंदिरे ।

त्वं हि दुर्गा दशप्रहरण – धारिणी
कमला कमल – दल – विहारिणी
वाणी विद्यादायिनी
नमामि त्वां ।

नमामि कमलां अमलां अतुलां
सुजलां सुफलां मातरम्,
वन्दे मातरम् ।

श्यामलां सरलां सुस्मितां भूषितां
धरणी भरणी मातरम् ॥

Vande Mataram

English Translation by—

Rishi Aurobinda

Mother, I bow to thee !
Rich with thy hurrying streams,
Bright with thy orchard gleams,
Cool with thy winds of delight,
Dark fields waving, Mother of might,
Mother free.

Glory of moonlight dreams,
Over thy branches and lordly streams,
Clad in thy blossoming trees,
Mother, giver of ease,
Laughing low and sweet !
Mother, I kiss thy feet.
Speaker sweet and low !
Mother, to thee I bow.

Who hath said thou art weak in thy lands,
When the swords flash out in crores and crores of hands,
And crores and crores of voices roar
Thy dreadful name from shore to shore ?
With many strengths who art mighty and stored,
To thee I call, Mother and Lord !
Thou who savest, arise and save !
To her I cry who ever her foemen drave
Back from plain and sea
And shook herself free

Thou art wisdom, thou art law,
Thou our heart, our soul, our breath,
Thou the love divine, the awe
In our hearts that conquers death,
Thine the strength that nerves the arm,
Thine the beauty, thine the charm,
Every image made divine
In our temples is but thine

Thou art Durga, Lady and Queen,
With her hands that strike and her swords of sheen,
Thou art Lakshmi lotus-throned,
And the Muse a hundred-toned,
Pure and perfect without peer,
Mother, lend thine ear
Rich with thy hurrying streams,
Bright with thy orchard gleams,
Dark of hue, O candid-fair
In thy soul, with jewelled hair
and thy glorious smile divine,
Loveliest of all earthly lands,
Showering wealth from well-stored hands !
Mother, mother mine !
Mother sweet, bow too thee,
Mother great and free !

नासदीय-सूक्त

(ऋग्वेद दशम मण्डल अ० ११ सू० १२९)

नासदासीन्नो सदासीत्तदानी नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवात स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥

तम असीत् तमसा गूलहमग्र ऽप्रकेतं सलिलं सवर्मा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥३॥

कामस्तदग्र समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो वन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेपामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आ सन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वान्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आवभूव ॥६॥

इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

●

नासदीय-सूक्त[1]

अनुवादक : सुमित्रानन्दन् पंत

(सृष्टि-गान)

तब न सत् था, न असत् ही,
न यह संसार था, न ये आकाश,
इस धुन्ध का आवरण क्या था ? वह भी किसका ?
गहन अन्धकार की गहराइयों में क्या था ?

तब न मरण था, न अमरत्व ही,
रात्रि दिवा से पृथक् नहीं थी,
किन्तु गतिशून्य वह स्पन्दित हुआ था।
तब केवल वह था, जिसके परे
कोई अन्य अस्तित्व नही,
वही चराचर था।

तब तम में छिपकर तम बैठा था,
जैसे जल में जल समाहित हो, पहचाना न जाय,
तब शून्य में जो था,
वह तप की गरिमा से मण्डित था।
तब मानस के आदि बीज के रूप में
प्रथम आकांक्षा उगी,
(जिसका साक्षात्कार ऋषियों ने अपने अन्तर में किया,
असत् से सत् जनमा,)
जिसकी प्रकाश-किरण
ऊपर-नीचे चारों ओर फैली।
यह महिमा सर्जनमयी हुई,
स्वतःसिद्ध सिद्धान्त पर आधारित
और सर्जनशक्ति से स्फुरित।

किसने पथ जाना ? कहाँ अथ है, जहां से यह फूटा ?
सर्जन कहाँ से हुआ ?
सृष्टि के बाद ही तो देवों ने अस्तित्व पाया,
अतः उद्भव का ज्ञान किसे प्राप्त है ?

यह सर्जन कहाँ से आया,
यह कैसे ठहरा है, ठहरा भी है या नहीं ?
वह सर्वोच्च आकाशों में बैठा हुआ महाशासक
अपना आदि जानता है या नही ? शायद !

उत्तराध्ययन

—भगवान महावीर

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥१॥

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ! ॥२॥

जो सहस्सं सहस्साण, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥३॥

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झण वज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥४॥

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥५॥

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥६॥

एगओ विरईं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥७॥

●

आत्मा ही सुख-दु.ख का कर्त्ता है और विकर्ता (भोक्ता) है।
सत्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में
स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है।१।

अविजित एक अपना आत्मा ही शत्रु है। अविजित कषाय और
इन्द्रियाँ ही शत्रु है। हे मुने ! मैं उन्हें जीतकर यथान्याय
(धर्मानुसार) विचरण करता हूं।२।

जो दुर्जेय संग्राम में हजारों-हजार योद्धाओ को जीतता है,
उसकी अपेक्षा जो एक अपने को जीतता है उसकी विजय ही
परमविजय है।३।

बाहरी युद्धों से क्या ? स्वयं अपने से ही युद्ध करो। अपने से
अपने को जीतकर ही सच्चा सुख प्राप्त होता है।४।

स्वयं पर ही विजय प्राप्त करना चाहिए। अपने पर विजय
प्राप्त करना ही कठिन है। आत्म-विजेता ही इस लोक और
परलोक में सुखी होता है।५।

उचित यही है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपने
पर विजय प्राप्त करूँ। बन्धन और वध के द्वारा दूसरों से मै
दमित (प्रताड़ित) किया जाऊँ, यह ठीक नहीं है।६।

एक ओर से निवृत्ति और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करना चाहिए-
असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति।७।

ऐसी मूढ़ता या मन की

—तुलसीदास

ऐसी मूढता या मनकी।
परिहरि राम-भगति-सुरसरिता
आस करत ओसकन की॥

धूम-समूह निरखि चातक ज्यों
तृषित जानि मति घन की॥

नहिं तह सीतलता न वारि,
पुनि हानि होति लोचन की॥

ज्यों गच-काँच विलोकि सेन जड़,
छाँह आपने तन की॥

टूटत अति आतुर अहार-वस,
छति विसारि आनन की॥

कहँलौ कहौ कुचाल कृपानिधि,
जानत हौ गति जन की॥

तुलसीदास प्रभु! हरहु दुसह दुख,
करहु लाज निज पन की॥

●

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल

—सूरदास

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल !

काम - क्रोध को पहिरि चोलना,
कंठ विषय की माल ॥

महामोह को नूपुर बाजत,
निन्दा सब्द रसाल ।

भरम भर्‌यो मन भयो पखावज,
चलत कुसंगति चाल ॥

तृष्णा नाद करति घट भीतर,
नाना बिधि दै ताल ।

माया कौ कटि फेंटा बाँध्यो,
लोभ तिलक दिय भाल ॥

कोटिक कला काछि देखराई,
जलथल सुधि नहिं काल ।

'सूरदास' की सबै अविद्या,
दूर करौ नँदलाल ॥

●

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो

—मीरा बाई

वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु,
किरपा कर अपनायो ॥

जनम जनमकी पूँजी पाई,
जगमें सभी खोवायो ॥

खरचै नहिं कोइ, चोर न लेवै,
दिन - दिन वढ़त सवायो ॥

सतकी नाव खेवटिया सतगुरु,
भवसागर तर आयो ।

मीरां के प्रभु गिरिधर नागर,
हरख हरख जस गायो ॥

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो ।

कौन तार से बिनी चदरिया

—कबीरदास

झीनी झीनी बिनी चदरिया ॥

काहे कै ताना, काहे कै भरनी
कौन तारसे बिनी चदरिया ॥

इंगला पिंगला ताना भरनी
सुषमन तारसे बिनी चदरिया ॥

आठ कँवल दस चरखा डोलै
पाँच तत्त, गुन तिनी चदरिया ॥

साँईंको सीयत मास दस लागै
ठोक ठोकके बिनी चदरिया ॥

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी
ओढ़ीके मैली कीनी चदरिया ॥

दास कबीर जतनसे ओढ़ी
ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ॥

घाव करैं गंभीर

—बिहारी

मेरी भव - बाधा, हरौ, राधा नागरि सोइ ।
जा तन की झाईं परैं, स्याम हरित - दुति होइ ॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि ।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु बारक बारनु तारि ॥

कीनैं हूँ कोरिक जतन अब कहि काढ़ै कौनु ।
भो मन मोहन - रूपु मिलि पानी मैं कौ लौनु ॥

जम-करि-मुँह - तरहरि पर्‌यौ, इहिं धरहरि चित लाउ ।
विषय - तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ ॥

नेहु न, नैननु, कौं कछू उपजी बड़ी बलाइ ।
नीर - भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ ॥

जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौ नाँहि ।
ज्यौं आँखिनु सबु देखियै, आँखि न देखी जाँहि ॥

बधु भए का दीन के, को तार्‌यौ, रघुराइ ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ ॥

थोरैं ही गुन रीझते, बिसराई वह बानि ।
तुमहूँ, कान्ह, मनौ भए आजकाल्हि के दानि ॥

कब कौ टेरतु दीन रट, होत न स्याम सहाइ ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ ॥

प्रगट भए द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आइ ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ ॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ ।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम रँग, त्यौं त्यौं उज्जलु होइ ॥

सोवत, जागत, सुपन - बस, रस, रिस, चैन, कुचैन ।
सुरति स्यामघन की, सुरति बिसरैं हूँ बिसरैं न ॥ ●

अपरमाद्

—आचार्य भिक्षु

श्री वीर कहे सुण गोयमा, इण जीव तणी नही आदो रे ।
हिवें नीठ नीठ नर भव लह्यो, समो एक म कर परमादो रे ॥१॥

वृक्ष तणो जिम पानडो, पंडुर थइ झड जायो रे ।
इम अथिर आऊखो मिनख रो खिण में बेरंग थायो रे ॥२॥

डाभ अणि जल जेहवो, वले अथिर सुपना री माया रे ।
ज्यूं अथिर आऊखो मिनख रो, खिण में धूल धाणी हुवे काया रे ॥३॥

अथिर धजा देवल तणीं, अथिर पांणी में पतासो रे ।
ज्यूं अथिर आऊखो मिनख रो, जेहवो चेर बाजी रो तमासो रे ॥४॥

अथिर वेग नदी तणो, वले अथिर बादल नीं छायां रे ।
ज्यूं अथिर आऊखो मिनख रो, जेहती जुवारी री माया रे ॥५॥

अथिर वचन का पुरष रो, वले अथिर सीख अवनीतो रे ।
ज्यूं अथिर आऊखो मिनख रो, अथिर नारी री प्रीतो रे ॥६॥

अथिर फूस नों तापवो, अथिर उन्हाला रो मेहो रे ।
ज्यूं अथिर आऊखो मिनख रो, अथिर कन्या धन जेहो रे ॥ ७ ॥

अथिर रंग पतग रो, ते जातां न लागे वारो रे ।
ज्यूं अथिर आऊखो मिनख रो, जांणें आंख तणो टिमकारो रे ॥८॥

अथिर धनुष आकाश रो, अथिर कुंजर नों कांनो रे ।
ज्यूं अथिर आऊखो मिनख रो, जेहवो संध्या रो वांनो रे ॥९॥

अथिर परपोटो पांणी तणो, अथिर झालर रो झिणकारो रे ।
ज्यूं अथिर आऊखो मिनख रो, जांणें बिजली तणो चमतकारो रे ॥१०॥

एहवो अथिर आऊखो मिनख रो, तिणमें घणो उदवेगो रे ।
इम जांण परमाद ने परहरो, मरण आवे छे वेगो रे ॥११॥

मिनख तणो भव पाय ने, आंणे सवेगो रे ।
काल अनंतो देहिलो, वार वार न पांमसी वेगो रे ॥१२॥

वर दो

—सुब्रह्मण्य भारती
(अनुवादक : श्रीमती आनन्दी रामनाथन्)

गणपति, यह मेरी धृष्टता क्षम्य तो है ?
अकथन गुण भाषा - बध मे बांधने की,
अवरण वर ऐसे आपसे माँगने की ?

चर अचर, समूचे विश्व के प्राण-धारी :
तृण, तरु, पशु-पक्षी, कीट-भृंगादि सारे
दुख-विकल दशा से मुक्त हो ले, सुखी हों;
यह फल सुकृतों का प्राप्त हो पुण्य जागें;
वर यह कृपया दो नाथ, देवाधिदेव !

शुभ-मति - नभ से ये घोषणाएँ करूँ मै;
'धृतिधरण सभी हो, प्रेम वाले सभी हो;
रुज-मरण दुखों का नाश हो, स्वस्तियाँ हों;
सुख-मय भव-यात्रा हो, धनाभाव भागें;
हिल-मिल सब प्राणी चैन से आयु भोगे !'

प्रभु, सुन यह मेरी कामना, अद्र' हो के;
अभिमत वर दे दो, वाक्य बोलो : तथास्तु !'
अभिमत वर दे दो हे आदिभू चन्द्रमौले !
अभिमत वर दो हे नित्य, हे शक्तिसूनो !
अशरण जन के हे आश्रयस्थान, वदे !

●

वैषणव जन तो तेने कहिए

—नरसी

वैषणव जन तो तेने कहीए, जे पीड पराई जाणे रे;
परदु:खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।

सकळ लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन धन जननी तेनी रे।

समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।

मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमां रे;
रामनामशुं ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना मनमां रे।

वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैयो तेनुं दरसन करतां, कुळ एकोतेर तार्या रे।

धर्म की परख

—जयाचार्य

परखो धर्म पुनीत, भविक जन ! ओलखो धर्म पुनीत।

आण विना नहिं अंश धर्म नों, सूत्र सिद्धंत सगीत।
लवण रहित जिम विरस रसवती, सरस्वती वचन-रहीत॥

दधि रहित जिम ओदन कहियै, भोजन घिरत-रहीत।
खांड रहित जिम मोदक जाणै, गंगोदक आधार-रहीत॥

मद रहित एरावण हस्ती, ब्राह्मण वेद-रहीत।
परिवार-रहित जिम नायक नरपति, पायक शस्त्र-रहीत॥

फल-रहित जिम वृक्ष न शोभै, भिक्षु तपस्या-रहीत।
वेग-रहित नहिं शोभै तुरंगम, सगम प्रेम-रहीत॥

वस्त्र-रहित शृंगार न शोभै, अलकार स्वर्ण-रहीत।
तिम जिन-आज्ञा बिन धर्म न दीपै, निगम बतावै नीत॥

●

तेरि बिति जाति उमर

—नानकदेव

सुमरन कर ले मेरे मना।
तेरि बिति जाति उमर, हरिनाम बिना॥

कूप नीर बिनु, धेनु छीर बिनु, धरती मेह बिना।
जैसे तरुवर फलबिन हीना, तैसे प्राणी हरिनाम बिना।

देह नैन बिन, रैन चन्द बिन, मन्दिर दीप बिना।
जैसे पंडित वेद बिहीना, तैसे प्राणी हरिनाम बिना॥

काम क्रोध मद लोभ निहारो छाँड़ दे अब संतजना।
कहे नानकशा, सुन भगवंता या जगमें नहिं कोइ अपना॥

●

वन्दना

—विद्यापति

नन्दक नन्दन कदम्बक तरु-तर,
घिरे-घिरे मुरलि वजाव ।
समय सँकेत - निकेतन वइसल,
वेरि-वेरि वोलि पठाव ॥

सामरि, तोरा लागि,
अनुखन विकल मुरारि ।
जमुनाक तिर उपवन उदवेगल,
फिर-फिर ततहि निहारि ।
गोरस वेचए अवइत-जाइत
जनि-जनि पुछ वनमारि ॥

तोहे मति मान सुमति मधुसूदन,
वचन सुनह किछु मोरा ।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
वन्दह नन्द-किसोरा ॥

●

तुम दीपक हम बाती

— रैदास

प्रभुजी...प्रभुजी...प्रभुजी...प्रभुजी
तुम चंदन हम पानी, पानी
तुम चंदन हम पानी।
जाकी अंग-अंग बास समानी
जाकी अंग-अंग बास समानी
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी।

प्रभुजी.. तुम घनवन हम मोरा, मोरा
तुम घनवन हम मोरा
जैसे चितवत चद्र चकोरा
जैसे चितवत चंद्र चकोरा
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी।

प्रभुजी . तुम दीपक हम बाती, बाती
तुम दीगक हम बाती
जाकी जोत बलै दिन राती
जाकी जोत बलै दिन राती।
प्रभुजी तुम चदन हम पानी।

प्रभुजी...तुम मोती हम धागा, धागा
तुम मोती हम धागा
जैसे सोने में मिलत सुहागा
जैसे सोने में मिलत सुहागा
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा
प्रभुजी तुम चंदन हम पानी

●

THE SONG OF THE SANNYASIN[1]

—Swami Vivekanand

Wake up the note ! the song that had its birth
Far off, where worldly taint could never reach;
In mountain caves, and glades of forest deep;
Whose calm no sigh for lust or wealth or fame
Could ever dare to break; where rolled the stream
Of knowledge, truth, and bliss that follows both.
Sing high that note, Sannyāsin bold ! Say—
"Om Tat Sat, Om !"

Strike off thy fetters ! Bonds that bind thee down,
Of shining gold, or darker, baser ore;
Love, hate—good, bad—and all the dual throng,
Know, slave is slave, caressed or whipped, not free;
For fetters though of gold, are not less strong to bind;
Then, off with them, Sannyasin bold ! Say—
"Om Tat Sat, Om !"

Let darkness go; the will-o'-the-wisp that leads
With blinking light to pile more gloom on gloom.
This thirst for life, for ever quench; it drags
From birth to death, and death to birth, the soul.
He conquers all who conquers self. Know this
And never yield, Sannyasin bold ! Say—
"Om Tat Sat, Om !"

"Who sows must reap," they say, "and cause must bring
The sure effect; good, good; bad, bad; and none
Escape the law. But whoso wears a form
Must wear the chain." Too true; but far beyond
Both name and form is Ātman, ever free.
Know thou art That, Sannyasin bold ! Say—
"Om Tat Sat, Om !"

[1] Composed at Thousand Island Park, U. S. A., in July 1895.

संन्यासी का गीत

अनुवादक : सुमित्रानन्दन पंत

छेड़ो हे वह गान, अनन्तोद्भव अबन्ध वह गान,
विश्व-ताप से शून्य गह्वरों में गिरि के अम्लान
निभृत अरण्य प्रदेशों में जिसका शुचि जन्मस्थान,
जिनकी शांति न कनक काम-यश-लिप्सा का निःश्वास
भंग कर सका, जहाँ प्रवाहित सत् चित् की अविलास
स्रोतस्विनी, उमड़ता जिसमें वह आनन्द अयास,
गाओ, बढ़ वह गान, वीर संन्यासी, गूंजे व्योम्,
ओम् तत्सत् ओम् !

तोड़ो सब शृंखला, उन्हे निज जीवन-बन्धन जान,
हों उज्ज्वल कांचन के अथवा क्षुद्र धातु के म्लान,
प्रेम-घृणा, सद्-असद्, सभी ये द्वन्द्वों के संधान !
दास सदा ही दास, समादृत वा ताड़ित—परतंत्र,
स्वर्ण निगड होने से क्या वे सुदृढ़ न बन्धन-यंत्र ?
अतः उन्हे सन्यासी तोड़ो, छिन्न करो, गा यह मंत्र,
ओम् तत्सत् ओम् !

अंधकार हों दूर, ज्योति-छल जल-बुझ बारंबार,
दृष्टि भ्रमित करता, तह पर तह मोह तमस् विस्तार !
मिटे अजस्र तृषा जीवन की, जो आवागम द्वार,
जन्म-मृत्यु के बीच खींचती आत्मा को अनजान,
विश्वजयी वह आत्मजयी जो, मानो इसे प्रमाण,
अविचल अतः रहो संन्यासी, गाओ निर्भय गान,
ओम् तत्सत् ओम् !

'बोओगे पाओगे', निश्चित कारण-कार्य-विधान !
कहते, 'शुभ का शुभ औ' 'अशुभ अशुभ का फल,' धीमान्
दुर्निवार यह नियम, जीव के नाम-रूप परिधान
बन्धन है, सच है, पर दोनों नाम-रूप के पार
नित्य मुक्त आत्मा करती है बंधनहीन विहार !
तुम वह आत्मा हो संन्यासी, बोलो वीर उदार,
ओम् तत्सत् ओम् !

They know not truth, who dream such vacant dreams
As father, mother, children, wife, and friend,
The sexless Self! whose father He? whose child?
Whose friend, whose foe is He who is but One?
The Self is all in all, none else exists;
And thou art That, Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

There is but One—The Free—The Knower—Self!
Without a name, without a form or stain,
In Him is Mâyâ, dreaming all this dream.
The Witness, He appears as nature, soul.
Know thou art That, Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

Where seekest thou? That freedom, friend, this world
Nor that can give. In books and temples vain
Thy search. Thine only is the hand that holds
The rope that drags thee on. Then cease lament,
Let go thy hold, Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

Say, "Peace to all: From me no danger be
To aught that lives. In those that dwell on high,
In those that lowly creep. I am the Self in all!
All life both here and there, do I renounce,
All heavens, and earths and hells, all hopes and fears"
Thus cut thy bonds, Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

Heed then no more how body lives or goes;
Its task is done. Let Karma float it down;
Let one put garlands on, another kick,
This frame; say naught. No praise or blame can be
Where praiser, praised, and blamer, blamed are—one.
Thus be thou calm, Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

ज्ञानशून्य वे, जिन्हें सूझते स्वप्न सदा निःस्सार—
माता, पिता, पुत्र औ' भार्या, बांधव-जन, परिवार !
लिंगमुक्त है आत्मा ! किसका पिता, पुत्र या दार ?
किसका शत्रु, मित्र वह, जो है एक अभिन्न अनन्य,
उसी सर्वगत आत्मा का अस्तित्व, नहीं है अन्य !
कहो 'तत्त्वमसि' संन्यासी, गाओ हे, जग हो धन्य,
ओम् तत्सत् ओम् !

एकमात्र है केवल आत्मा, ज्ञाता, चिर निर्मुक्त,
नामहीन वह रूपहीन, वह है रे चिह्न अयुक्त,
उसके आश्रित माया, रचती स्वप्नों का भवपाश,
साक्षी वह, जो पुरुष प्रकृति में पाता नित्य प्रकाश !
तुम वह हो, बोलो संन्यासी, छिन्न करो तम-तोम,
ओम् तत्सत् ओम् !

कहाँ खोजते उसे सखे, इस ओर कि या उस पार ?
मुक्ति नही है यहाँ, वृथा सब शास्त्र, देव-गृहद्वार !
व्यर्थ यत्न सब, तुम्हीं हाथ में पकड़े हो वह पाश
खींच रहा जो साथ तुम्हें ! तो उठो, बनो न हताश,
छोड़ो कर से दाम, कहो, संन्यासी, विहँस रोम,
ओम् तत्सत् ओम् !

कहो, शांत हों सर्व, शांत हों सचराचर अविराम,
क्षति न उन्हें हो मुझसे, मैं ही सब भूतों का ग्राम,
ऊँच-नीच द्यौ-मर्त्यविहारी, सबका आत्माराम !
त्याज्य लोक-परलोक मुझे, जीवन-तृष्णा, भवबंध,
स्वर्ग-मही-पाताल—सभी आशा-भय, सुख-दु.ख-द्वन्द्व !
इस प्रकार काटो बन्धन, संन्यासी, रहो अबन्ध,
ओम् तत्सत् ओम्

देह रहे, जाये, मत सोचो, तन का चिन्ता-भार,
उसका कार्य समाप्त ले चले उसे कर्मगति धार,
हार उसे पहनावे कोई, करे कि पाद-प्रहार,
मौन रहो, क्या रहा कहो निन्दा या स्तुति अभिषेक ?
स्तावक, स्तुत्य, निन्द्य औ' निन्दक जब कि सभी है एक !
अतः रहो तुम शांत, वीर संन्यासी, तजो न टेक,
ओम् तत्सत् ओम् !

Truth never comes where lust and fame and greed
Of gain reside. No man who thinks of woman
As his wife can ever perfect be;
Nor he who owns the least of things, nor he
Whom anger chains, can ever pass thro' Maya's gates.
So, give these up, Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

Have thou no home. What home can hold thee, friend?
The sky thy roof, the grass thy bed; and food,
What chance may bring—well cooked or ill, judge not.
No food or drink can taint that noble Self
Which knows Itself. Like rolling river free
Thou ever be, Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

Few only know the truth. The rest will hate
And laugh at thee, great one; but pay no heed.
Go thou, the free, from place to place and help
Them out of darkness, Maya's veil. Without
The fear of pain or search for pleasure, go
Beyond them both, Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

Thus, day by day, till Karma's powers spent
Release the soul for ever. No more is birth,
Nor I, nor thou, nor God, nor man. The "I"
Has All become, the All is "I" and Bliss.
Know thou art That. Sannyasin bold! Say—
"Om Tat Sat, Om!"

●

सत्य न आता पास, जहाँ यश-लोभ-काम का वास,
पूर्ण नही वह, स्त्री में जिसको होती पत्नी भास,
अथवा वह जो किंचित् भी संचित रखता निज पास !
वह भी पार नही कर पाता है माया का द्वार
क्रोधग्रस्त जो, अतः छोड़कर निखिल वासना-भार
गाओ धीर-वीर सन्यासी, गूँजे मन्त्रोच्चार,
ओम् तत्सत् ओम् !

मत जोड़ो गृह-द्वार, समा तुम सको, कहाँ आवास ?
दूर्वादल हो तल्प तुम्हारा, गृह-वितान आकाश,
खाद्य स्वतः जो प्राप्त, पक्व वा इतर, न दो तुम ध्यान,
खान-पान से कलुषित होती आत्मा वह न महान्,
जो प्रबुद्ध हो, तुम प्रवाहिनी स्रोतस्विनी समान
रहो मुक्त निर्द्वन्द्व, वीर संन्यासी, छेड़ो तान
ओम् तत्सत् ओम् !

विरले ही तत्त्वज्ञ ! करेंगे शेष अखिल उपहास,
निन्दा भी नरश्रेष्ठ, ध्यान मत दो, निर्बन्ध, अयास
यत्र-तत्र निर्भय विचरो तुम, खोलो मायापाश
अन्धकारपीड़ित जीवों के ! दुःख से बनो न भीत,
सुख की भी मत चाह करो, जाओ हे, रहो अतीत
द्वन्द्वों से सब, रटो वीर संन्यासी, मंत्र पुनीत,
ओम् तत्सत् ओम् !

इस प्रकार दिन-प्रतिदिन जब तक कर्मशक्ति हो क्षीण,
वन्धनमुक्त करो आत्मा को, जन्म-मरण हों लीन !
फिर न रह गये मैं, तुम, ईश्वर, जीव या कि भवबंध,
'मैं' सबमें, सब मुझमें—केवल मात्र परम आनन्द !
कहो 'तत्त्वमसि' सन्यासी, फिर गाओ गीत अमन्द,
ओम् तत्सत् ओम् !

●

निष्फल कामना

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रवि अस्त याय ।
अरण्येते अन्धकार, आकाशेते आलो ।
सन्ध्या नत-आंखि
धीरे आसे दिवार पश्चाते ।
बहे कि ना बहे
विदायविषादश्रान्त सन्ध्यार बातास ।
दुटि हाते हात दिये क्षुधार्त नयने
चेये आछि दुटि आंखि-माझे ॥

खुँजितेछि, कोथा तुमि,
कोथा तुमि !
ये अमृत लुकानो तोमाय
से कोथाय !
अन्धकार सन्ध्यार आकाशे
विजन तारार माझे काँपिछे येमन
स्वर्गेर आलोकमय रहस्य असीम,
ओइ नयनेर
निविड़ तिमिरतले, काँपिछे तेमनि
आत्मार रहस्यशिखा ।
ताइ चेये आछि ।
प्राण मन सब लये ताइ डुबितेछि
अतल आकाङ्क्षापारावारे ।
तोमार आँखिर माझे,
हासिर आड़ाले,
वचनेर सुधास्रोते,

●

निष्फल कामना

अनुवादक : भवानीप्रसाद मिश्र

सूरज डूब रहा है
वन में अन्धकार है, आकाश में प्रकाश।
सन्ध्या आंखे झुकाये हुए
धीरे-धीरे दिन के पीछे चल रही है।
बिछुड़ने के विषाद से श्रांत सांध्य बातास
कौन जाने बह भी रहा है कि नहीं।
मैं अपने दोनों हाथों में तुम्हारे हाथ लेकर
प्यासे नयनों से तुम्हारी आँखों के भीतर झाँक रहा हूँ।

खोज रहा हूँ कि तुम कहाँ हो,
कहाँ हो तुम !
जो सुधा तुममें प्रच्छन्न है
कहाँ है वह !
जिस प्रकार अँधेरे सांध्य गगन में
स्वर्ग का आलोकमय असीम रहस्य
विजन तारिकाओ में झिलमिलाता है,
उसी प्रकार आत्मा की रहस्य-शिखा झिलमिलाती है
इन नयनों के निविड़-तिमिर तल में।
इसीलिए अपलक देख रहा हूँ।
इसीलिए प्राणा-मन, सब-कुछ लेकर
अतल आकांक्षा के पारावार में
डुबकी लगा रहा हूँ।
तुम्हारी आँख के भीतर,
हँसी की ओट में,
वाणी के सुधा-स्रोत में,

तोमार वदनव्यापी
करुण शान्तिर तले
तोमारे कोथाय पावो—
ताइ ए क्रन्दन ॥
वृथा ए क्रन्दन ।
हाय रे दुराशा,
ए रहस्य, ए आनन्द तोर तरे नय।

याहा पास ताइ भालो—
हासिटुकु, कथाटुकु,
नयनेर दृष्टिटुकु, प्रेमेर आभास।
समग्र मानव तुइ पेते चास,
ए की दुःसाहस !
की आछे वा तोर !
की पारिवि दिते !
आछे कि अनन्त प्रेम ?
पारिवि मिटाते
जीवनेर अनन्त अभाव ?
महाकाश-भरा
ए असीम जगत्-जनता,
ए निविड़ आलो-अन्धकार,
कोटि छायापथ, मायापथ,
दुर्गम उदय-अस्ताचल,
एरि माझे पथ करि

पारिवि कि निये येते
चिर सहचरे
चिर रात्रि दिन
एका असहाय ?
ये-जन आपनि भीत, कातर, दुर्बल,
म्लान, क्षुधातृषातुर, अन्ध, दिशाहारा,

तुम्हारे मुख पर छाई हुई करुण शांति के तल में
तुम्हें कहाँ पाऊँ—
इसीको लेकर है यह रोना-धोना।

किन्तु रोना-धोना व्यर्थ है।
यह रहस्य यह आनन्द
तेरे लिए नहीं है, ओ अभागे !
जो प्राप्त है वही अच्छा है—
तनिक-सी हँसी, थोड़ी-सी बात,
टुक चितवन, प्रेम का आभास।

तू समग्र मानव को पाना चाहता है,
यह कैसा दुःसाहस है !
भला तेरे पास क्या है !
तू क्या देने पायेगा।
क्या तेरे पास अनत प्रेम है ?
क्या तू दूर कर सकेगा जीवन का अनन्त अभाव ?

उदार आकाश-भर लोक-लोकालयों की यह असीम भीड़,
यह घना प्रकाश और अंधकार,
कोटि छाया-पथ, माया-पथ,
दुर्गम उदय-अस्ताचल,
क्या इन सबके बीच से रास्ता बनाकर
रात-दिन अकेला और असहाय
चिर सहचर को साथ लेकर चल सकेगा ?

जो स्वयं श्रान्त, कातर, दुर्बल और म्लान है
जो भूख-प्यास से व्याकुल है,
अंधा है,
और जो दिशा भूल गया है,

आपन हृदयभारे पीड़ित जर्जर,
से काहारे पेते चाय चिरदिन-तरे !

क्षुधा मिटाबार खाद्य नहे ये मानव,
केह नहे तोमार आमार।

अति सयतने
अति संगोपने,

सुखे दुःखे, निशीथे दिवसे,
विपदे सम्पदे,
जीवने मरणे,

शत ऋतु-आवर्तने
शतदल उठितेछे फुटि-

सुतीक्ष्ण वासना-छुरि दिये
तुमि ताहा चाओ छिँड़े निते ?

लओ तार मधुर सौरभ,
देखो तार सौन्दर्यविकाश,

मधु तार करो तुमि पान,
भालोबासो, प्रेमे हओ वली-

चेयो ना ताहारे।
आकांड्क्षार धन नहे आत्मा मानवेर।।

शान्त सन्ध्या, स्तब्ध कोलाहल।

निबाओ वासनावह्नि नयनेर नीरे
चलो धीरे घरे फिरे याइ।

'मानसी'

जो अपने दुःख के भार से पीड़ित और जर्जर है
भला वह हमेशा के लिए किसे पा लेना चाहता है !

आदमी कोई भूख मिटाने वाला खाद्य नहीं है,
कोई नही है तेरा या मेरा।
अत्यन्त यत्नपूर्वक बहुत चुपचाप
सुख में, दुःख में,
निशीथ में, दिवस में,
जीवन में, मरण में,
शत ऋतु आवर्तन में
शतदल-कमल
विकसित होता है !
तुम उसे सुतीक्ष्ण वासना की छुरी से
काटकर ले लेना चाहते हो ?
उसका मधुर सौरभ लो,
उसका सौन्दर्य-विकास निहारो,
उसका मकरन्द पियो,
प्रेम करो, प्रेम से शक्ति लो—
उसकी ओर ताको मत।
मानव की आत्मा आकांक्षा का धन नही है।

संध्या शांत हो गई है,
कोलाहल थम गया है।
आँख के जल से वासना की आग बुझा दो।
चलो धीरे-धीरे घर लौट चलें।

'निष्फल कामना'
('मानसी')

SURRENDER

Sri Aurobindo

O THOU of whom I am the instrument,
O secret Sprit and Nature housed in me,
Let all my mortal being now be blent
In Thy still glory of divinity.

I have given my mind to be dug Thy channel mind,
I have offered up my will to be Thy will;
Let nothing of myself be left behind
In our union mystic and unutterable.

My heart shall throb with the world beats of Thy love;
My body become Thy engine for earth use;
In my nerves and veins Thy rapture's streams shall move;
My thoughts shall be hounds of light for Thy power to loose.

Keep only my soul to adore enternally
And meet Thee in each form and soul of Thee.

●

आत्मसमर्पण

अनुवादक : रामधारी सिंह 'दिनकर'

तुम प्रकृति हो, सूक्ष्म आत्मा हो;
असली निवासी तुम हो,
मैं तो मात्र गेह हूँ।
प्रभो, मै तुम्हारा साधन और यंत्र हूँ।
ऐसा करो कि मेरा मर्त्य अस्तित्व
तुम्हारी महिमा से मिलकर एकाकार हो जाय।

मैंने अपना मन तुम्हें दे दिया है,
जिससे तुम्हारा मन इसमें नहर खोदे।
मैने अपनी इच्छा तुम्हारे चरणों पर धर दी है,
जिससे वह तुम्हारी इच्छा वन जाय।
मेरे किसी भी अंश को पीछे मत छोड़ो,
रहस्यपूर्ण और अनिर्वचनीय ढंग से
अपने साथ मुझे एक होने दो।

तुम्हारा प्रेम, जो निखिल विश्व के प्राणो में
स्पन्दन भरता है,
उसके साथ मेरे हृदय को स्पन्दित होने दो।
पृथ्वी के उपयोग के लिए
तुम मेरे शरीर को इंजिन वनाना।

मेरी धमनियों और शिराओं में
तुम्हारे आनन्द की धार वहेगी।
तुम्हारी शक्ति जब छूटेगी,
मेरे विचार प्रकाश की सीमा वनेंगे।
ऐसा करो कि मेरी आत्मा
निरन्तर तुम्हारी पूजा में लीन रहे।
और प्रत्येक आकार
तथा प्रत्येक आत्मा में
तुम्हारा दर्शन करे।

●

जैसे हैं तैसे तुम्रे ही

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

उधारौ दीनबंधु महाराज ।
जैसे है तैसे तुम्रे ही नाहि और सों काज।
जौ बालक कपूत घर जनमत करत अनेक बिगार।
तौ माता कहा वाहि न पूछत भोजन समय पुकार।
कपटहु भेष किए जो जाँचत राजा के दरबार।
तौ दाता कहा वाहि देत नहिं निज प्रन जानि उदार।
जौ सेवक सब भाँति कुचाली करत न एकौ काज।
तऊ न स्वामि सयान तजत तेहि बाँह गहे की लाज।
विधि-निषेध कछु हम नहि जानत एक आस विश्वास।
अब तौ तारे ही बनिहै नहि ह्वैहै जग उपहास।
हमरो गुन कोऊ नहि जानत तुमरो प्रन विख्यात।
'हरीचंद' गहि लीजे भुज भरि नाही तो प्रन जात।

कामायनी

—जयशकर प्रसाद

तुमुल कोलाहल कलह मे
मै हृदय की बात रे मन !

विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल ;
चेतना थक-सी रही तब,
मै मलय की वात रे मन !

चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की;
मैं उषा-सी ज्योति रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन !

जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती,
उन्ही जीवन घाटियों की,
मै सरस वरसात रे मन !

पवन की प्राचीर मे रुक,
जला जीवन जो रहा झुक,
इस झुलसते विश्व दिन की
मै कुसुम ऋतु रात रे मन !

चिर निराशा नीरधर से,
प्रतिच्छायित अश्रु सर से,
मधुप मुखर मरन्द मुकुलित,
मै सजल जलजात रे मन !

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की वात रे मन !

वन्दना

—आचार्य तुलसी

भावभीनी वदना भगवान चरणो में चढ़ाएं।
शुद्ध ज्योतिर्मय-निरामय रूप अपने आप पाएं॥

ज्ञान से निज को निहारें, दृष्टि से निज को निखारें।
आचरण की उवरा में, लक्ष्य-तरुवर लहलहाएं॥

सत्य में आस्था अचल हो, चित्त संशय से न चल हो।
सिद्ध कर आत्मानुशासन, विजय का संगान गाएं॥

विन्दु भी हम सिन्धु भी है, भक्त भी भगवान भी हैं।
छिन्न कर सब ग्रन्थियों को, सुप्त मानव को जगाएं॥

धर्म है समता हमारा, कर्म समतामय हमारा।
साम्य-योगी वन हृदय में, स्रोत समता का वहाएं॥

●

हे ज्योतिर्मय

—बालकृष्ण शर्मा नवीन

अपनी दीप्ति-किरण से कर दो जग-मग इस धरणी का आँगन
हे ज्योतिर्मय, निज द्युति-स्मिति से कर दो सस्मित जन-गण-आनन।

यह वसुधा, यह धीर धरित्री, यह वराह-उद्धृता, नग-धृता-
अचला, विश्वम्भरा, रसा यह, अर्णव-वसनोर्मि-आवृता,-
सुमन-पर्ण-तृण-राजि-संयुता, रत्न-पण्डिता, यत्न-संस्कृता-
आज ध्वंस-उन्मुखी बन रही मानव की लिप्सा के कारण;
हे ज्योतिर्मय, तव द्युति-कर से हो जन-मन-घन-ध्वान्त-निवारण।

निज विनाश रत, उद्धत, मतिहत, योगभ्रष्ट यह वामन मानव,-
अहंकार-मज्जित, निर्लज्जित, बना रहा है, निज को दानव;
अहंकार-कर्दम-निमग्न, यह नग्न बन रहा है अति दानव
उन्नत बुद्धि अधोनत निष्ठा, तब, इसका हो क्यो न पराभव ?
तुम मंगलमय इस जगती पर करो अवतरित नन्दन कानन;
हे ज्योतिर्मय, निज आभा से चमका दो धरणी का आँगन।

भारत-भूमि तो सदा रही है प्यारी क्रीड़ा-स्थली तुम्हारी;
सदा भेजते रहे यहाँ तुम अपने तेज अंश-अवतारी;
वर दो : इस स्वाधीन देश के हम आबाल वृद्ध नर-नारी,-
तव विश्व-भर रूप निहारें, करें नित्य उसका आराधन;
हे ज्योतिर्मय, विश्व-नाश का तिमिर हरो, चमके वसुधांगन।

●

बजा तनिक तू अपनी मुरली

—मैथिलीशरण गुप्त

शरण एक तेरे मैं आयी, धरे रहे सब धर्म हरे !
बजा तनिक तू अपनी मुरली, नाचे मेरे मर्म हरे !

नही चाहती मैं विनिमय में उन वचनों का वर्म हरे !
तुझको, एक तुझी को अर्पित राधा के सब कर्म हरे !

यह वृन्दावन, यह वंशीवट, यह यमुना का तीर हरे !
यह तरते तारांबरवाला नीला निर्मल नीर हरे !

यह शशि-रंजित, सित-घन-व्यंजित, परिचित त्रिविध समीर हरे !
बस, यह तेरा अंक और यह मेरा रंक शरीर हरे !

झुक वह वाम कपोल चूम ले यह दक्षिण अवतंस हरे !
मेरा लोक-लाज इस लय में हो जावे विध्वंस हरे !

●

अर्चना

—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

भव-सागर से पार करो हे !
गह्वर से उद्धार करो हे !

कृमि से पतित जन्म होता है,
शिशु दुर्गन्ध - विकल रोता है,
ठोकर से जगता - सोता है,
प्रभु, उसका निर्वार करो हे !

पशुओं से सङ्कुल सन्तुल जग,
अहङ्कार के बाँध बंधा मग,
नहीं डाल भी जो बैठे खग,
ऐसे तल निस्तार करो हे !

विपुल काम के जाल बिछाकर,
जीते हैं जन जन को खाकर,
रहूँ कहाँ मैं ठौर न पाकर,
माया का संहार करो हे !

●

राग-विराग

—युवाचार्य महाप्रज्ञ

अभिवादन योगिराज।
आज धन्या, अनन्या, कृतपुण्या, अहंमन्या
बीते वर्ष, विरह-संघर्ष, कृश-हर्ष, उत्कर्ष
घनाघन जीवन
प्रमुल्लतानिकर, प्रफुल्लतर
रहा विराज, महाराज
अभिवादन योगिराज!
आज्ञा हो तुम्हारी
चित्रशाला, विशाला
मदनालय-सी, मलयाचल-सी, मोहक-सी, मादक-सी
अतीत-स्मृति सी प्रियकरा।
कल्पना-सी मनोहरा।
उसमे चाहता हूँ करना निवास
जब तक पूर्ण न हो चारमास।
तब तक
कार्तिक पूर्णिमा तक, हेमंत तरुणिमा तक
इच्छा है हमारी, आज्ञा हो तुम्हारी
विस्मित, चकित, स्मित
पावन करो, पावन करो प्राणेश!
तुम्हारा ही सदन।
विकसित-वदन, हसित-रदन
निस्त्राण-प्राण, अर्पित चरणों में
व्याप्त प्रकाश किरणों में
विना जल मीन, तड़फ रही दीन।

विना वसंत वनराजी की सुषमा का अंत
विना प्रमाण, विवाद निष्प्राण
विना प्रतिभा, कविता निष्प्रभा
मै कमलिनी, तू दिनेश
मै तनु, तू वेश !
चरण धरो प्राणेश !

शून्य अवकाश को, आकाश को,
प्राणाभास को, निराश को
जीवन का दान करो !

विस्मित चकित स्मित
पावन करो, पावन करो
रहा मुमुक्षु, इक्षु में सरस रस
भिक्षु मे जैसे शान्तरस
दिगन्त में न्यायप्रिय नृपति का यश
वादल मे घनरस, भुजा में वल, कुसुम में परिमल,
ध्यानलीन-तपोधन, ज्ञानपीन यशोधन !

स्रोत उस शाति का,
निकल रहा हृदय में अशान्ती का
जिसमें है ओतप्रोत सच्चिदानंद ज्योति
शुद्ध भावना के फेन, संयम की अनन्य देन
तप्त हृदया को, सदया को, धूप-लहरी से चंचला को,
मेदिनी को, शांत करने को, आई प्रिया

मेघमाला, चंचला की लेखा, स्तनित निराला
शांत हृदय को, सदय को, मुनि को
ध्यान श्रेणि से अचंचल को
तप्त करने को आई प्रिया कोशा
साथ भृकुटी की रेखा, मंजु घोषा।

सुनो - सुनो - सुनो कर्णधार ! करुण पुकार
साकार विचार, जीवन का सार
फूटा कासार, आरपार पानी का संचार
टूटा वीणा का तार, कहाँ मृदु झंकार, हा हा-कार
आशा का अरविंद परिवार

गुंजार करते मधुकार, तरुण तुपार, प्रचुर – आसार
प्रलय का भूत सिर पर सवार
हाहाकार,
प्राण-आधार ! हृदय-हार ! कर्णधार !

याद करो याद करो, पुनः सहवास करो
तिमिर का नाश करो, प्रकाश करो
यौवन है दो दिन का, सार यही जीवन का
वने हो क्यो योगीराज, उचित नही महाराज
आज मेरी ओर देखो, गौर कर और देखो
कृपण की कमला सी
अंकुर की अवला सी गुप्त

ईर्ष्यालु के मानस सी, काजल की कालिमा सी मलिन
दुर्जन के स्नेह सम
शारद घनाघन सी, दीपशिखा सी कृश
भाग्यहीन के मनोरथ सी,

अंबुधि-तरंग सी, निरालंव
आशा को प्रकट करो, उज्ज्वल करो, पुष्ट करो
आलंवन सहित करो, निराशा का आवरण दूर करो
याद करो - याद करो
पुनः सहवास करो।

शान्तचित्त योगीराज ! ध्यान-लीन वीतराग
बोल उठे महाभाग
प्रद्योतन दे रहा जैसे नलिनी को बोध
अभी तक सो रही हो अबोध
हुआ है प्रभात, बीत गई रात
जाग गये सारे जन
दिशा लाल हो गई
देखो जल रहा है तिमिर-तन
त्यागो विरूप सद्रूप, प्रकट करो आत्म रूप
कहती हो क्या बहिन
जानती हो क्या नही, विश्व का स्वरूप !

लाली का दिव्य दुकूल
पहिन पहिन अनुकूल
फूल फूल कर कितने फूल
महिरुह से टूट गये
हा हा ! पिता के कर से छूट गये

पितामही की गोद गए
लालिमा विहीन हुए, दीन हुए, सूख गये
जनता की दृष्टि से गिर गये
असंख्य नर-नारियों से पददलित हुए
दीर्घ निद्रा में सो गए
आश्चर्य ! उनकी कहानी, हुई थोड़ी सी पुरानी
नये नये खिल गये
भौरों की विरुदावली से सिहर सिहर हिलगए
उन्मिषित का मिष पाकर परस्पर मिल गए
वे क्यों विचारे आज
एक दिन होगी वही दशा

आज छा रहा है उनमें विजया का बलवान नशा
देखो बहिन आँख खोल
घृत की आहुति से नहीं बुझती है कही आग
नही बुझता है स्नेह से चिराग
सुनी होगी
मरु-मरीचिका से नही मिटती है प्यास
विषय रसास्वादन से
नही मिटती है विषय की अभिलाष
विषय से विरक्ति हो, आसक्ति हो मृतप्राया
ऐसी भावना से तेरी दूर होगी मोहमाया
पक में रहती हुई भी
उससे विलग रहोगी
मै रहूँगा अनवरत प्रबोध देता
सतत स्फुट रहोगी
धन्य धन्य कहोगी
बह गई परमानद की किलोल
अलोल, अध्यात्म की किलोल।

●

क्या पूजन क्या अर्चन रे ?

—महादेवी वर्मा

उस असीम का सुन्दर मन्दिर
मेरा लघुतम जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं
नित प्रिय का अभिनन्दन रे !

पदरज को धोने उमड़े आते
लोचन में जल-कण रे !
अक्षत पुलकित रोम, मधुर
मेरी पीड़ा का चन्दन रे !

स्नेहभरा जलता है झिलमिल
मेरा यह दीपक-मन रे !
मेरे दृग के तारक में
नव उत्पल का उन्मीलन रे !

धूप बने उड़ते जाते है
प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे !
प्रिय प्रिय जपते अधर,
ताल देता पलको का नर्तन रे !

●

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'यामा' से सभार। —सं०

गुरु-स्तवन

—डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर'

पद-रज दो, अंजन दृग आँजूँ,
अन्तर-तिमिर हरो हे !
अमृत-परस दो, पल-पल चंचल
मन को अचल करो हे !

न्योछावर हो सकूँ चरण पर,
ऐसी विमल सुमति दो,
उर के अन्ध विवर में अपनी
जगमग ज्योति भरो हे !

दृश्य-अदृश्य जहाँ जो कुछ है,
सभी तत्त्व गुरुमय है,
एक प्रार्थना सुनो, हृदय के
शतदल पर उतरो हे !

भक्ति-व्योम-गगा के तट पर
नीराजन जलते है,
चिदाकाश में पूर्ण चन्द्र बन
योगिराज, विचरो हे !

भीग रहे सब अमृत-वृष्टि में,
सब के भाग्य जगे है।
कृपा करो अवढर दानी,
मुझ पर भी देव, ढरो हे !

●

कवि भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित। —सं०

तुम मुझे पुकार लो

—डॉ० हरिवंशराय बच्चन

इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो !

जमीन है न बोलती न आसमान बोलता,-
जहान देखकर मुझे नही जबान खोलता,
नही जगह कही जहाँ न अजनबी गिना गया,
कहाॅ कहाँ न फिर चुका दिमाग-दिल टटोलता,

कहाँ मनुष्य है कि जो उमीद छोड़कर जिया,
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो !

तिमिर-समुद्र कर सकी न पार नेत्र की तरी,
विनष्ट स्वप्न से लदी, विषाद याद से भरी,
न कूल भूमि का मिला, न कोर भोर की मिली,
न कट सकी, न घट सकी विरह-घिरी विभावरी,

कहाॅ मनुष्य है जिसे कमी खली न प्यार की,
इसीलिये खड़ा रहा कि तुम मुझे दुलार लो !

उजाड़ से लगा चुका उमीद मै बहार की,
निदाघ से उमीद की बसत के बयार की,
मरुस्थली मरीचिका सुधामयी मुझे लगी,
अँगार से लगा चुका उमीद मै तुषार की,

कहाँ मनुष्य है जिसे न भूल शूल-सी गड़ी,
इसीलिए खड़ा रहा कि भूल तुम सुधार लो !
इसीलिए खड़ा रहा कि तुम मुझे पुकार लो !
पुकार कर दुलार लो, दुलार कर सुधार लो !

●

कितनी नावों में कितनी बार

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय

कितनी दूरियो से कितनी बार
कितनी डगमग नावों में बैठकर
मै तुम्हारी ओर आया हूँ
ओ मेरी छोटी-सी ज्योति !
कभी कुहासे में तुम्हे न देखता भी
पर कुहासे की ही छोटी-सी रुपहली झलमल में
पहचानता हुआ तुम्हारा ही प्रभा-मण्डल।
कितनी बार मैं,
धीर, आश्वस्त, अक्लान्त–
ओ मेरे अनबुझे सत्य ! कितनी बार…

और कितनी बार कितने जगमग जहाज
मुझे खीच कर ले गये है कितनी दूर
किन पराये देशों की बेदर्द हवाओं मे
जहाँ नगे अँधेरो को
और भी उघाड़ता रहता है
एक नंगा, तीखा, निर्मम प्रकाश–
जिसमें कोई प्रभा-मण्डल नही बनते
केवल चौंधियाते हैं तथ्य, तथ्य…तथ्य ‥
सत्य नहीं, अन्तहीन सच्चाइयाँ…
कितनी बार मुझे
खिन्न, विकल, सन्त्रस्त…
कितनी बार !

●

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'कितनी नावों मे कितनी बार' से सभार। —सं०

प्रभु के चरण

—भवानीप्रसाद मिश्र

प्रभु के चरण मरण तक साथी
और मृत्यु के बाद मोद वे

उन चरणों का पथ पहिचानो
उस पथ को अपना रथ जानो
उस पर चलो न चलना होगा
माता की आनन्द गोद वे

उस पर पाँव रखा गति आई
उसका ध्यान सुमति लहराई
पथ मिल गया तो चलना क्या है
दिन निकला तो जलना क्या है
हर बाधा - विधि में विनोद वे

प्रभु के चरण मरण तक साथी
और मृत्यु के बाद मोद वे !

●

मेरी रतन चुनरिया ले लो

—कन्हैयालाल सेठिया

मेरी कनक गगरिया ले लो,
अपनी बाँस बँसुरिया दे दो !

उर की पीर लजीली उसको
मै रागों का घूँघट दूँगी,
मन की प्यास रंगीली उसको
अधरों का यमुना तट दूँगी,
मेरी रतन चुनरिया ले लो,
अपनी फटी कमरिया दे दो !

मै विरहन हूँ, इस असमय में
मुझे नही शृंगार सुहाता,
अनियारी आँखों का काजल
आँसू जल से धुल-धुल जाता,
मेरा रसमय यौवन ले लो,
अपनी नई उमरिया दे दो !

भाती नही तितलियाँ मुझको
ये लम्पट मधुकर की दूती,
रहे समर्पण के क्षण तक यह
मेरी उजली देह अछूती,
मेरी भोली रधिया ले लो,
अपना कुँअर कन्हैया दे दो !

●

साँसों का हिसाब

—डॉ० शिवमंगलसिंह सुमन

तुम, जो जीवित कहलाने के हो आदी
तुम, जिनको दफना नही सकी बरबादी
तुम, जिनकी धड़कन में गति का वदन है
तुम, जिनकी कसकन में चिर-सवेदन है,
तुम, जो पथ पर अरमान भरे आते हो,
तुम, जो हस्ती की मस्ती मे माते हो।

तुम, जिनने अपना रथ सरपट दौड़ाया
कुछ क्षण हाँफे, कुछ साँस रोककर गाया,
तुमने जितनी रासे तानी-मोड़ी है
तुमने जितनी साँसें खीची-छोडी है
उनका हिसाब दो और करो रखवाली
कल आने वाला है साँसो का माली।

कितनी साँसो की अलकें धूल सनी है ?
कितनी साँसों की पलकें फूल बनी है ?
कितनी साँसों को सुनकर मूक हुए हो ?
कितनी साँसों को गिनना चूक गए हो ?
कितनी साँसें दुविधा के तम में रोईं ?
कितनी साँसें जमुहाई लेकर खोईं ?

जो साँसें, सपनों में आवाद हुई है
जो साँसें, सोने में बरवाद हुई है

जो साँसें साँसों से मिल बहुत लजाईं
जो साँसें अपनी होकर बनीं पराई।

जो साँसें साँसो को छूकर गरमाईं
जो साॅसें सहसा बिछुड़ गईं, ठंडाईं
जिन साॅसों को ठग लिया किसी छलिया ने
उन सबको आज सहेजो इस डलिया में
तुम इनको निरखो, परखो या अवरेखो
फिर साँस रोक कर उलट-पलटकर देखो

क्या तुम इन साँसो मे कुछ रह पाए हो?
क्या तुम इन साॅसो से कुछ कह पाए हो?
क्या तुम साँसो के स्वर में बह पाये हो?
क्या इनके बल पर सब-कुछ सह पाए हो?

इनमें कितनी हाथो में गह सकते हो?
इनमें किन-किनको अपनी कह सकते हो?
तुम चाहोगे टालना प्रश्न यह जी भर
शायद हॅस दोगे मेरे पागलपन पर।
कवि तो अदना बातो पर भी रोता है,
पगले, साँसों का भी हिसाब होता है?

कुछ हद तक तुम भी ठीक कह रहे लेकिन
साॅसें है केवल नही हवाई स्पंदन,
इनमें चिनगारी, नमी और कुछ धड़कन
जिससे चल पड़ता इस्पातों का स्यंदन,
यह जो विराट् में उठा बवंडर-जैसा,
यह जो हिमगिरि पर है प्रलयंकर-जैसा,

इसके व्याघातो को क्या समझ रहे हो?
इसके संघातो को क्या समझ रहे हो?

यह सब साँसों की नई शोध है भाई
यह सब साँसों का मूक रोध है भाई
जब यह अंदर-अंदर घुटने लगती है
जब यह ज्वालाओं पर चढ़कर जगती है,

तब होता है भूकंप शृङ्ग हिलते हैं,
ज्वालामुखियों के वक्ष फूट पड़ते हैं,
पौराणिक कहते दुर्गा मचल रही है,
आगन्तुक कहते दुनिया बदल रही है,
यह साँसों के सम्मिलित स्वरों की बोली
कुछ ऐसी लगती नई-नई अनमोली,

पहचान-जान में समय लगा करता है
पग-पग नूतन इतिहास जगा करता है
जन-जन का पारावार बहा करता है
जो बनता है दीवार ढहा करता है
सागर में ऐसा ज्वार उठा करता है
तल के मोती का प्यार लुटा करता है !

साँसें शीतल समीर भी, बड़वानल भी
साँसें हैं मलयानिल भी, दावानल भी
इसलिए सहेजो इनको तुम चुन-चुनकर
इसलिए सँजोओ इनको तुम गिन-गिनकर

अब तक गफलत में जो खोया सो खोया
अब तक ऊसर में जो बोया सो बोया
अब तो साँसों की फ़सल उगाओ भाई
अब तो साँसों के दीप जलाओ भाई।

तुमको चन्दा से चाव हुआ तो होगा
तुमको सूरज ने कभी छुआ तो होगा

उसकी ठण्डी-गरमी का क्या कर डाला
जलनिधि का आकुल ज्वार कहाँ पर पाला ?
मरुथल की उडती बालू का लेखा दो
प्यासे अधरों की अकुलाई रेखा दो।

तुमने पीली कितनी संध्या की लाली ?
ऊषा ने कितनी शबनम तुममें ढाली ?
मधु ऋतु को तुमने क्या उपहार दिया था ?
पतझर को तुमने कितना प्यार किया था ?

क्या किसी साँस की रगड़ ज्वाल में बदली ?
क्या कभी वाष्प-सी साँस बन गई बदली ?
फिर बरसी भी तो कैसी कितनी बरसी ?
चातकी बिचारी फिर भी कैसी तरसी ?
साँसों का फौलादी पौरुष भी देखा ?
कितनी साँसों ने की पत्थर पर रेखा ?

जितनी भी साँसें पथ के रोड़े बिनती
हर साँस-साँस की देनी होगी गिनती
तुम इनको जोड़ो बैठ कहीं एकाकी,
बेकार गईं जो उनको कर दो बाकी।
जो शेष बचें उनका मीजान लगा लो,
जीवित रहने का सब अभिमान जगा लो।

मृत से जीवित का अब अनुपात बता दो,
साँसो की सार्थकता का मुझे पता दो।
लज्जित क्यों होने लगा गुमान तुम्हारा ?
क्या कहता है बोलो ईमान तुम्हारा ?
तुम समझे थे तुम सचमुच ही जीते हो ?
तुम खुद ही देखो भरे या कि रीते हो।

जीवन की लज्जा है तो अब भी चेतो
जो जंग लगी उसको खराद पर रेतो,
जितनी बाकी हैं सार्थक उन्हें बना लो
पछताओ मत आगे की रकम भुना लो।

अब काल न तुमसे बाजी पाने पाए,
अब एक साँस भी व्यर्थ न जाने पाए।
तब जीवन का सच्चा सम्मान रहेगा।
आने वाली पीढ़ी को ज्ञान रहेगा।

यह जिया न अपने लिए मौत से जीता
यह सदा भरा ही रहा न ढुलका, रीता।

●

इलहाम-नुमा

(रुवाइयो में फ़िक्रे-आलिया का इजहार)

—फ़िराक़ गोरखपुरी

ऐ मानी-ए-कायनात मुझमें आ जा
ऐ राजे सिफातो-जात मुझमें आ जा
सोता ससार झिलमिलाते तारे
अव भीग चली है रात मुझमें आ जा

दिन - रात शजर - हजर की नब्ज़ें हैं तपाँ
हर साँस जमीं की है सोजाँ - सोजाँ
मदफून वहाँ कौन - सी चिनगारी है
अव तक उठता है वत्ने-गेती से धुआँ

हर ऐव से माना कि जुदा हो जाये
क्या है अगर इनसान खुदा हो जाये
शायर का तो वस काम ये है, हर दिल में
कुछ दर्दे - हयात और सिवा हो जाये

कुछ नजरिये है हर तमद्दुन की विना
तारीख़ तसादुम उन्ही आदर्शो का
तहजीवों को अपने से है खतरा यानी
है नक्से - फिक्रियात पैगामे क़ज़ा

तारीकी का रहे जमाने में न दाग
उस नूरे हयात का लगाते है सुराग
मौजे-नफ़से-सर्द दिये जाती है लव
धारे प फना के हम जलाते है चराग

जैसे दमे सुब्ह लहलहाती किरनें
जब चूम रही हों वो हिमाला की जबी

हंगाम - ए - रोजगार दम लेते है
संसार का हम भेद भरम लेते है
ये लम्हे वो है जब दिले शायर में 'फिराक'
कुछ रम्जो किनायात जनम लेते है

बेवज्ह नही है मेरी अफ़सुर्दा - दमी
दुनिया में नही चाश्नीं-ए-गम की कमी
संसार की जिस चीज़ को छू देता हूँ
मिलती है 'फिराक़' उसमें अश्कों की नमी

हर साज से होती नही ये धुन पैदा
होता है बड़े जतन से ये गुन पैदा
मीजाने-निशातो - गम में सदियों तुलकर
होता है हयात में तवाजुन पैदा

ग़ैरत को सुस्त असास कर देता है
एहसान भी बदहवास कर देता है
इनसान का जज़्ब - ए - तशक्कुर हमदम
अक्सर मुझको उदास कर देता है

तहनाई में हम किसे बुलायें ऐ दोस्त
तुम दूर हो किसके पास जायें ऐ दोस्त
इस दौलते - वक़्त से तो दम घुटता है
ये नक़्दे – शब कहाँ भुनायें ऐ दोस्त

कल रात गये फिक्रे सुखन के हंगाम
विज्दाने - जमाल के छलकते हुए जाम
वो कश्फ़ो-करामात का आल कि 'फिराक़'
हर पल पर पड़ रहे थे सद अक्से-दवाम

हर चीज यहाँ अपनी हदें तोड़ती है
हर लम्हे प सद अक्से-वका छोड़ती है
इक सब्ज-ए पायमाल की पत्ती भी
हमदम कल्बे-अबद मे जड़ फोड़ती है

आये दमे-सुब्ह रसमसाओ ऐ दोस्त
जब दिन डूबे तो घर न जाओ ऐ दोस्त
दिन भर तो रहे हो फूल बनकर मेरे पास
अब बन के चराग जगमगाओ ऐ दोस्त

जाग उट्ठेगी रूह तुम तो सो जाओगे
सरचश्म-ए-जिन्दगी में धो जाओगे
खो जाओगे जब मनाजिरे फ़ितरत में
अपने से बहुत करीब हो जाओगे

ये बज़्मे खयाल चूड़ियाँ बजती है
भीगती रातें उदासियां तजती है
दरया मुखड़ो के उमड़े आते है 'फ़िराक़'
आईन-ए-दिल में सूरतें सजती है

मन मोह ले सौ रंग से रहती दुनिया
ये वहमे हसी ये ख़ूबसूरत धोका
इस दुख भरी दुनिया का मगर असली रूप
जब आँख खुली 'फिराक' देखा न गया

इक हलक़-ए-जंजीर तो जंजीर नही
इक हलक़-ए-तसवीर तो तसवीर नही
तक़दीर तो कौमों की हुआ करती है
इक शख़्स की किसमत कोई तक़दीर नही

मै एक बेबगनी बिरह से बेकल
हरियाली प चल रही हूँ आँखें है सजल
ये तारों भरी रात खनक जाती है
शबनम, पाँवों की बन गई है छागल

●

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'गुले-नगमा' से सभार।—सं०

सफ़रनामा

—अमृता प्रीतम

गंगाजल से लेकर वोदका तक,
यह सफ़रनामा है मेरी प्यास का…
सादा पवित्र जन्म के, सादा अपवित्र कर्म का, एक सादा इलाज
और किसी महबूब चेहरे को एक छलकते गिलास में देखने का यत्न
और अपने बदन से एक बिलकुल बेगाने ज़ख्म को भूलने की जरूरत

यह कितने तिकोन पत्थर है—
जो किसी पानी के घूँट से गले से उतारे है
कितने भविष्य है जो वर्तमान से बचाये है
और शायद वर्तमान भी—मैने वर्तमान से बचाया है…

सिर्फ एक ख़्याल आया है
कई बार आता है—
ज्यों कई बार एक सारंगी का गज—
अचानक किसी राग की छाती में चुभता है
या चुपचाप एक पियानो—
काले और श्वेत दाँतों में संगीत चाबता है।

एक ख़्याल आता है—
पर जैसे कोई मौत का एक घूँट भरे
डरे, और फिर जल्दी से उस ख़्याल की कै सी करे…

पर मरे सीनों में भी कुछ साँस जीते है
और अटके साँसों के साथ मैं कह सकती हूँ…
कि हर एक सफ़र सिर्फ वही शुरू होता है
—जहाँ यह सफरनामे खत्म होते हैं

●

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'कागज और कैनवास' से साभार।—सं॰

हे सनातन

—जी० शंकर कुरुप

हे चित्रहेती भगवन् !
स्वर्गपथ से जब तू जैत्र-यात्रा करने लगता है
तब यदि मेरे हृदय के टूक-टूक होने की ध्वनि
बन सके तुम्हारा भेरी-रव,
यदि मेरे हृदय का शोणित काम आ सके
तुम्हारे हेतु तोरण बाँधने के,
मेरा श्यामल जीवन
हो सके थोड़ी देर के लिए ही सही, तुम्हारा अलंकार चिह्न,
मेरे अन्तरग की असहनीय ज्वाला
बन जाये काचन पताका,
मेरे दुःख की छाया
बिछा सके कालीन तेरे सुभग मग में,
मेरे आँसू छिड़का सकें गुलाब-जल,
तो मै चाहूँगा यही
कि अगले जन्म में भी मै मेघ ही बनूँ।
मैं मलिन हूँ और हूँ भी नश्वर—
किन्तु इससे क्या ?
प्रोज्ज्वल गरिमा के साथ
हे देव, तुम्हारे सम्मुख
हर्ष-स्तम्भ-लज्जा आदि
विविध भावो की रंजक रंगीन छटा
कपोलो पर खिलाये,
खड़ा रह पाऊँ, और
मेरा आर्द्र बाष्पपूर्ण जीवन
जग को प्रेमाधीन करने में सफल हो।
हे सनातन,
तुम्हारे सुप्रकाश की सुन्दरता पाकर
मेरा मन जगमगाता रहे।

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'ओटक्कुषल्' से साभार।—सं०

रामचरण-स्पर्श

—डॉ० कु० वे० पुट्टप्पा

भक्तियुक्त मैं प्रार्थना करता हूँ
कवि गुरु वाङ् मन्त्रशक्ति दो मुझे
सावधानी से चलता हूँ लहरियों पर,
रसग्रहण करता हूँ
साध्य जैसा साधन भी सुलभ होगा
राम-मुकुट के रत्न की भाँति अतिरम्य
पंचवटी के बाल-सूर्य प्रकाश में चमकता
हिम-बिन्दु जो लगता तृण सुन्दरी के
नासिकाभरण की भाँति अतिरम्य
रसयात्रा पर चला हूँ, आओ पिता जी
अपने बेटे का हाथ पकड़कर चलाओ
नमन करता हूँ तेरे चरणों पर देव कवि,
कृपा बरसाओ, ऊपर उठा लो
रखो मुझे काव्य विद्युद्-विमान में
रखो सरस्वती को आत्मजिह्वा में
जुग-जुग जीवो वीणापाणि सरस्वती
गाओ ब्रह्म की रानी भाव-गंगा-वेणि
नन्दन में मधुप गाते जैसे आनन्द में
कर्नाटक की जनता की कर्णवीणा भरे
तुम्हारी वाणी से कम्पन हो झंकार उठे
रसनवनीत निकले हृदय-मन्थन से
गाओ गाओ वाणी भाव-गगा-वेणि
तुम्हारा श्वास लगे, जड़ बनता चिन्मय
आतिशबाजी में चिनगारी लगे जैसे
तुम्हारा स्पर्श हो, मोहित होगा भुवन
रामचरण-स्पर्श से जैसी शिला-रमणी
पंक में भी निकलता जैसे मोहक पंकज
तुम्हारा हाथ लगे निकलेगा लोहे से भी सुधा,

मन्त्रमयी स्पर्श मे शिला से निकलेगा पानी
जैसे निकलता मोती सीपियो से रसचित्
तपोवल के वश में सीमा आयेगी कला लक्ष्मी ?
कृपा करो माँ इस मुन्ने पर
कन्नड वन विस्तार की कोयल पर

होमर, व्हर्जिल, दान्ते और मिल्टन,
नाराणप्प और पम्प, व्यास-ऋषि
भास, भवभूति, कालिदासादि कवि
नरहरी, तुलसीदास, कृत्तिवास
नन्नय्य, फिर्दूसी, कम्ब और अरविन्द को
पुराने और नये, वड़े और छोटे
काल देश वाक्-जाति भेद सव
हटा दिये—नमन करता हूँ सव को
वहाँ जहाँ ज्योति है भगवद्-विभूति
लोक गुरु, लोक कवि, कृपा रहे
लोक हृदय की इच्छा आशीर्वाद वने
नत रहे शिर, मुकुलित रहे कर
पावन रहे जीवन, जय हो तपस्या श्री
मिले चिरशान्ति, जय हो कन्नड-श्री

कोसल देश है जन, धनधान्य से भरा
सरयू के तट पर, है देश की राजधानी
अयोध्या, विषय सुख मध्य के आत्मानन्द-सी
कीर्ति उसकी फैली थी, त्रिलोक मे भी
पूर्ण-चन्द की चाँदनी की शोभा जैसी

●

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'श्री रामायण दर्शनम्' से साभार। —स०

प्रणयी की रटन

—उमाशंकर जोशी

रात दिन रट रहा हूँ !
जानता नहीं नाम !
स्वप्न में देता हूँ आश्लेष,
नही है पूरी पहचान !
वहुत देर तक वातें करता रहूँ
और फिर भी
अभी तक पूरी तरह नहीं पहचानता तेरी आवाज !

तेरी मीठी साँसों की घड़कनों से
जी रहा है यह हृदय,
फिर भी नहीं स्पर्श कर पा रहा
तेरी ऊष्मा !
खींच जाता हूँ
तेरी नसों की नवरक्त ज्योति से;
नहीं झाँका है अभी तक तेरी पलकों के पीछे !

और, कही किसी दिन फिर मिलेंगे ही जब
एकान्त में डूबेंगे वातों के रस में
जव हृदय हृदय पर ढलकर पूछेगा मूक :
"है ख्याल कैसी तू मुझे रही थी सता ?"
जानता हूँ मैं, तू हँसकर कहेगी—
"सब कुछ जानती हूँ"
किन्तु आज यहाँ क्या हो रहा है
वह तो मैं ही जानता हूँ।

●

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'निशीथ' से साभार।—स०

उदात्त एक शान्ति

—विष्णु दे

घनी पलको वाली उदासीन आँखो मे
कौन आता-जाता रहता है ? चिरकाल उद्भ्रान्ति !
परिचय-अपरिचय में चेतना को चैन कहाँ ?
ऊर्ध्वोन्मुख इस हृदय के उष्ण नीड़ में
वह कौन आकाश घर बना कर शान्ति पाता है ?

ओ री मनसिजा, तुम ने जो भिक्षा माँगी थी
अतनु की आयु की त्रिकाल के चरणो से,
वह क्या सिर्फ मनु-पराशर द्वारा निर्धारित शिक्षा थी ?
वह क्या निपट प्रथा का अनुगमन था ? क्या तुम जानती थी
कि प्रेम की तृप्ति और अतृप्ति एक सी ही दीक्षा है

चिर-अस्थिर उदात्त एक शान्ति,
जैसे चण्डीदास या दान्ते ने जानी थी ?

●

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'स्मृति सत्ता भविष्यत' से साभार।—सं०

मृत्यु अमर थोड़े ही है ?

—द० रा० बेन्द्रे

हमारा देश, भूप्रदेश
सार्वभौम भाव है
यह जीव और वह आत्मा है
इसका विस्मरण ही नाश है
दृष्टि-पट जागरण का संकेत है
स्वप्न में अवलोकित स्मरण है
बुद्धि सो जाने पर
विस्मरण ही मरण है
स्मरण का कण-कण रण है
स्मृति-रूपी कली का अग्रभाग नुकीला है
मृत्यु अमर थोड़े ही है ?
हर बीज शिव का ध्यान करे
शिव-शक्ति नृत्य करे
भूत-गण गायें
वह अभूत ! वह अपूर्व !
मौन तब छा जाये।
भुभुःकार संजीवन सम्भू
शम्भू
ओंभू।

●

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित पुस्तक 'चार तार' से साभार।—सं०

कल्मष हरलो जन के मन का !

कन्हैयालाल फूलफगर

जड़ता जीवन को जकड रही, तुम चिर निद्रा में सोये हो
मानव मानवता भूल गये, तुम किस उलझन में खोये हो

धरती की छाती डोल उठी, हिंसा के वादल छाये हैं
मानव के मानस के ऊपर, वे आज वरसने आये हैं

दम आज अहिंसा तोड रही, थोथी-झूठी तकरारों में
आडम्वर वढ़ते जाते हैं, इन धर्मों की दीवारों में

छल-कपट-क्रोध-माया-मत्सर का दौर चला है घर-घर में
नैतिकता डूवी जाती है, कामुकता पलती है नर में !

मानव निज हाथों से अपना, संहार तुला है करने को
जीवन की पावन गागर को, वह दुष्कर्मों से भरने को

दिग्भ्रमित हो रहा जग सारा, क्या होने वाला ज्ञात नहीं
ये कार्य मनुज को ले डूवे, इसमें विस्मय की वात नहीं।

फूँको फिर से वह प्राण, पुनः जड़ता में जीवन आ जाये
तम के पर्दे को चीर ज्योति, चलने के पथ पर छा जाये

ओ वीर ! तुम्हारी वाणी से कल्मष हरलो जनके मनका
सुरभित हो सत्य अहिंसा से मधुवन यह मानव जीवन का

●

उम्र गँवादी पूरी

—शिशुपालसिंह 'शिशु'

नदिया का तट जहाँ वहुत से गाँवों का पनघट है,
वहाँ वहुत से गाँवों का पनघट नदिया का तट है।
कहीं पहुँचते है प्यासे घट जीवन-रस पाते है,
कही पहुँचते है सूने घट स्वाहा हो जाते हैं।

कितने घट प्यासे पहुँचे है जीवन-रस पाने को
कितने घट सूने पहुँचे है स्वाहा हो जाने को।
नदिया ने कुछ भी न दिया है इन प्रश्नों का लेखा,
केवल कोरी वही लिये ही हरदम बहते देखा।

उधर घटों को भरते-भरते धारा नही चुकी है,
इधर चिता भी जलते-जलते अवतक नही बुझी है।
विधना सृजन वन्द करदें तो विष्णु किसे पालेंगे ?
विष्णु जिसे पालेंगे उसको रुद्र न क्यो घालेंगे ?

रुद्र न घालेंगे तो फिर विधि का विधान क्या होगा ?
विधि-विधान के विना विष्णु का विश्व-भान क्या होगा ?
उत्पति पालन, लय की गति मे राग विराग वसा है,
इसी त्रिवेणी के संगम पर विश्व-प्रयाग वसा है।

आओ थोड़ा इधर चलें, यह महाशान्ति का तट है,
जिसको लोग प्राण देकर पाते हैं, वह मरघट है।
एकाकी लगता है लेकिन लगता नहीं अकेला,
यहाँ बहुत ही खामोशी से लगा हुआ है मेला।

गुमसुम धारा, मूक किनारा, दाह क्रिया के छाले,
भस्म अस्थियाँ, जली लकड़ियाँ टुकड़े काले-काले।
कई चितायें बुझी पड़ी, हां करती एक उजेला,
यहाँ बहुत ही खामोशी से लगा हुआ है मेला।

मानव घर में पैदा होकर धरती पर फिरता है,
सागर मे तिरता है, नभ में मेघों सा घिरता है।
सभी जगह, जाता है लेकिन इधर न आ पाता है,
आता है तो चार जनो के कन्धो पर आता है।

सोच रहा हू घर से मरघट की कितनी थी दूरी,
जिसको तय करने में इसने उम्र गंवा दी पूरी।
जहा-जहा भी गया वहां क्या मरघट की राहे थी,
मरने की तैयारी को क्या जीने की चाहें थी।

इस दुनिया मे पांच तीलियो के अनगिन पिंजड़े हैं,
जिन्हें बहुत से हंस अनेकों रूपों में जकड़े है।
अखिल गगन-गामी पखों में बांधे दस-दस पत्थर,
सीमा मे न समाने वाले सीमाओं के अन्दर।

बन्धन के माथे पर अपने मन का तिलक किया है,
बहुतेरों ने अपने को ही पिंजड़ा समझ लिया है।
सोच रहे है—रंगमहल यह कभी न छूट सकेगा,
ऐसा डाकू कौन यहाँ जो हमको लूट सकेगा,

किन्तु सुरक्षित रहन-सहन के साधन दृढ से दृढतर।
हरदम हाजिर रहने वाले ढेरों नौकर चाकर।
सावधानियों का कितना ही जोड़ा जाये मेला,
सभी झमेला छोड़ अन्त में उड़ता हंस अकेला।

किसे पता, जाने वाले को आना ही पड़ता है,
लेकिन आने वाले को तो जाना ही पड़ता है।
हस उड़ा तो फिर पिंजड़े की कीमत खो जाती है,
इसी जगह पर दीवाली की होली हो जाती है।

देखो वो जल रही चिता वह धरती पर धू-धूकर,
कहां गये वे पलंग कहाँ वे शय्या के आडम्बर।
हाथों-हाथ उठाने वाले इतना ही कर पाये,
नाड़ी छूट गयी तो घर से मरघट तक ले आये।

जनक और जननी के चुम्वन, भैया के अभिनन्दन,
पुलकन भरी बहन की राखी, तिरिया के आलिगन।
पास-पड़ौसी पुरजन प्रियजन, इतना ही कर पाये,
नाड़ी छूट गयी तो घर से मरघट तक ले आए।

नगर सेठ के नगर पिता के वहुत बड़े वेटे हैं,
मगर लक्कड़ों के नीचे चुप होकर चित लेटे हैं।
सह न सके सर दर्द कभी उपचार वहुत करवाए,
आज किसी धन्वन्तरिके कल-कौशल काम न आए।

जाड़े के मौसम में घर पर जेठ वुलाने वाले,
हीटर को दहका कर कमरे को गरमाने वाले।
ठण्डे होकर ईंधन वनकर अर्थी में लेटे है,
धन वाले के, वल वाले के वहुत वड़े वेटे हैं।

स्वर्ण भस्म के खाने वाले इसी घाट पर आए,
दाने बीन चबाने वाले इसी घाट पर आए।
गगन ध्वजा फहराने वाले इसी घाट पर आए,
विना कफन मरजाने वाले इसी घाट पर आए।

सिरहाने से आग लगाई केश जले पल-छिन में,
लोहित जिह्वाओ-सी लपटें लिपटी सारे तन में।
झुलस-झुलस कर खाल जल रही फबक-फबक कर चर्वी,
सिकुड़-सिकुड़ कर मांस जल रहा, चटक-चटक कर हड्डी।

लपटें उठ-उठ पंच फैसला अपना सुना रही है,
जिसकी थी जो चीज जहां की उसको दिला रही है।
कंद सिन्धु को, किरण सूर्य को, सांस पवन को सौपी,
शून्य-शून्य के किया हवाले, भस्म धरणि को सौपी।

कई चितायें बुझी पड़ी है, लिये राख की ढेरी,
उनके कण-कण बिखराने को पवन दे रहा फेरी।
भस्म देखकर पता न लगता नारी की या नर की,
किसी सूम की या दाता की कायर या नाहर की।

सोच रहा हूं जिसने कंचन काया नाम दिया है,
उसने माटी की ठठरी पर कस कर व्यंग किया है।
क्योकि भस्म सोने की ऊँचे दामों पर बिकती है,
मगर राख कचन काया की व्यर्थ उड़ी फिरती है।

इस धरती पर ऐसे ही आचरण हुआ करते है,
वैश्वानर के सर्वस्वाहा हवन हुआ करते है।
और ठीक भी है, दुनिया से अगर न कोई जाता,
अपनी पाई हुई वस्तु पर चिर अधिकार जमाता।

तो फिर अगला आने वाला वेचारा क्या पाता ?
कर्मक्षेत्र की चहल-पहल का पटाक्षेप हो जाता।
शायद इसीलिए नदिया के एक ओर पनघट है,
और दूसरी ओर दहकता हुआ घोर मरघट है।

●

मेघदूतम्

—कालिदास

पूर्वमेघः

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥

संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद ! प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या॥

उत्तरमेघ :

विद्यु त्वन्त ललितवनिताः सेन्द्रचाप सचित्राः
सगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोय मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्र लिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषै॥

हस्ते लीलाकमलमलके वालकुन्दानुविद्धं
नीतालोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीप वधूनाम्॥

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्ना. प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः॥

आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-

नांन्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।

नाप्यन्यस्मात् प्रणयकलहाद् विप्रयोगोपपत्ति-

र्वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ॥

●

मुसाफ़िर अपनी मंज़िल पर पहुँच कर चैन पाता है ।
वह मौजें सर पटकती हैं जिन्हें साहिल नहीं मिलता ।।

— इक़बाल

बिहारीलाल जैन
(जीवन यात्रा)
तृतीय खण्ड

स्मृति-स्पर्श

नवरतन शर्मा 'साहित्यरत्न'

सदाचार और साहस, ईमानदारी और कर्मनिष्ठा, कर्तव्यपरायणता और सेवाभाव, दृढ-धर्मिता और चरित्रबल, इन सबने मिलकर जिस सज्ञा की रचना की, वे थे राजगढ़ निवासी स्वर्गीय श्री बिहारीलाल जैन।

पुष्ट-प्रलब देह, गौर वर्ण, जगमगाता ललाट और तजोद्दीप्त आंखे, मुखरित होते से भरे भरे अधर-सम्पुट, चौड़ी छाती और बलिष्ठ कंधे, पाँव सदा चलने को आतुर, हाथ कुछ कर दिखाने को उत्सुक। आवाज गभीर और बुलद। श्वेत खद्दर का परिधान धारण किये चलते थे तो गजराज की मस्ती झलकती थी। ऐसा ही आकर्षक व्यक्तित्व रहा उनका।

पाक-साफ दिल, किसी से दुराव-छिपाव नही, जो मन मे वही मुख मे, दो टूक बात पर फैसला करने वाले। मन, कर्म, वचन मे एकाकार। उसूलो के पक्के, निरभिमानी। जिस काम को हाथ लगा देते, उसे पूरा करके ही दम लेते। देखने वालो ने सदा उन्हे इसी रूप में देखा, इसी रूप मे जाना। अपने सद्-व्यवहार और सद्कर्मों के कारण पिछली आधी सदी से भी अधिक समय तक जो जैन-जगत मे चेतना और जागृति के प्रेरणा-बिन्दु बने रहे। श्वेताम्बर तेरापंथी जैन धर्म के अनन्य उपासक के रूप मे अपनी पहचान अमर कर गये वे।

निश्चय ही ऐसी चरितआत्मा जो सदा अपने ही आलोक से प्रदीप्त और उद्भासित रही हो, किसी गुणगान या प्रशस्ति-लेख की मुखापेक्षी नही है। यह तो हमारे ही कृतज्ञ मन की पुकार है कि उनकी महती जीवनयात्रा को शब्दो मे समो कर "पावन-स्मृति" के रूप मे सँजोये रखे, जिससे आने वाली पीढी उनके आदर्श मार्ग पर चलती हुई ऋण-शोध करती रहे।

जीवनी का शुभारभ करने से पहले, धूप छाँही रगो मे रँगे, सुख-दुःख के ताने-बाने से बुने, जैन घराने के परम्परागत इतिहास के विशाल फलक पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा, जिस पर अपने अनुपम रूप रग और रेखाओ के साथ बिहारीलालजी का चित्र उभरा और अदृश्य हो गया।

महासमुद्र से मरुस्थल

भारतीय मानचित्र मे आज जहाँ तक मरुप्रदेश राजस्थान की सीमाये फैली हुई हैं, किसी समय वहां महासमुद्र हिलोरे लेता था। फिर जाने पुराकाल की कौन सी घडी मे समुद्र के अन्तराल से एक महा-प्यास का विस्फोट हुआ जो सारे समुद्र को पी गया। देखते ही देखते रत्नाकर की अनत नील-जलराशि बलखाती बालुका के असीम विस्तार मे बदल गई। जैसे कोई अग्नि बाण महासमुद्र की छाती को चीरता हुआ निकल गया और छलछलाती लहरो का कल्लोल रेत के उभरते-ढलते टीबो मे जड़ीभूत होकर थम गया। शताब्दियो से दशों दिशाओ को मुखरित करने वाला समुद्री-

हाहाकार सूखी धरती के गर्भ मे समा गया। तब से इस प्रदेश का इतिहास भयानक प्यास और अतृप्ति का इतिहास वन गया।

उजाड धरती की गोद मे बार बार जीवन ने अँकुराने, फलने-फूलने और अपनी जड़ जमाने का आप्राण प्रयास किया, पर हर वार हरहराती प्यास उसे लील जाती, निगल जाती। कितनी ही आदिम जातियो के काफिले अपने अकिंचित जीवन की झलक दिखा कर अज्ञात काल के अँधेरे मे गुम हो गये। जाने कितने ग्राम और नगर आवाद हुए और उजड गये। अनाम अधपकी सभ्यतायें माटी की परतो के नीचे दबती चली गई। पर जीवन तो जीवन है, वह कब हार मानने वाला है? वालुका के नीचे दवी सीपियो और शखो मे सुरक्षित ऊर्जा के स्रोत धरती की परतें उघाड़-उघाड कर प्रकट होते रहे। प्यास जितनी सर्वनाशी और सर्वग्रासी थी, जीवैषणा की आकाक्षा भी उतनी ही सघर्षकामी और दुर्धर्ष थी।

कालातर मे इसी निर्जन प्रदेश मे ग्रामो से नगर और नगरो से छोटे-छोटे गण-राज्यो का विकास हुआ। इन लघु राज्यो के उदय होने और अस्त होने का एक लम्वा सिलसिला अज्ञातकाल के गाल मे समा गया। परत-दर-परत दवी हुई सभ्यता के अवशेषो को खोद निकालने वाले पुरातत्वज्ञो और इतिहासकारो ने अव तक जो निष्कर्ष निकाले है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि मोहनजोदडो और हडप्पा की सभ्यता से पहले भी इस प्रदेश मे सुविकसित सभ्यता और सस्कृति विद्यमान थी। सभ्यता और सस्कृति के फलने-फूलने का यह क्रम वरावर वना रहा, पर प्यासी धरती की प्यास नही बुझी तो नही बुझी।

कहा जाता है, महाभारत काल मे राजा विराट के साम्राज्य का अंग रहा यह मरुप्रदेश। यहाँ वसे लघु राज्यो के अधिपतियो ने महाभारत की लडाई मे पाण्डवो का साथ दिया था। सम्भव है आज जहाँ वैराठ नगर वसा हुआ है, उसी के नीचे कही दवी पडी होगी विशाल साम्राज्य की राजधानी विराट नगर।

दिल्ली के पश्चिम से प्रारभ होकर यह थार मरुस्थलीय प्रदेश सुदूर सिंध तक फैलता चला गया है। कभी इसी प्रदेश को जगल देश के नाम से पुकारा जाता था। "भाव प्रकाश" मे लिखा है—जहाँ आकाश स्वच्छ व उन्नत हो, जल व वृक्षो की कमी हो, शमी (खेजड़ा), कैर, आक, विल्व, पीलु तथा वेर के वृक्ष अधिक हो, उसे जगल देश कहते हैं। वीकानेर राज्य इसी जगल देश का भाग होने के कारण वहाँ के राजा "जगलधर वादशाह" कहलाते थे।

जाटों का उदय

प्राचीन काल मे अनेक विदेशी आक्रामक या यायावर जातियो ने पजाब की राह भारत मे प्रवेश किया। ईसा की चौथी शताब्दी मे पजाब मे जाटो का शक्तिशाली राज्य था। कहा जाता है कि ये जाट एशिया की बहुसख्यक जाति के रूप मे मध्य एशिया मे निवास करते थे। गुप्तकाल के समय ये टिड्डीदल की तरह लहर पर लहर उठाते आए और पूरे पंजाव मे फैल गये। मजवूत कद-काठी और रोवीले व्यक्तित्व वाले ये जाट बडे पराक्रमी, स्वाभिमानी और स्वतन्त्रता-प्रिय थे। अनेक शताब्दियो तक इन्होने यहाँ शासन किया। भारत के सिंह-द्वार पंजाब के इन सशक्त प्रहरियो ने मुसलिम आक्रान्ताओ का वड़ा कड़ा प्रतिरोध किया था। इन्ही रणवाँकुरे जाटो ने महमूद को सिन्धु नदी पार कर आगे वढने से रोक दिया था। इन्ही के शूर सैनिको ने तैमूर के दाँत खट्टे किये

और बाबर की बर्बर सेना को छठी का दूध याद दिला दिया। जाट-कन्या के रूप में अवतरित होने वाली "विश्व-जननी" भवानी इनकी आराध्या देवी थी, जिसका स्मरण करके ये युद्ध भूमि मे महाकाल बनकर प्रलय मचाते थे। बाबर ने इनका लोहा माना था और उसने अपने "बाबरनामा" मे इनकी वीरता और साहस का उल्लेख विशेष रूप से किया है। उसी के अनुसार आगे चल कर जब इस्लाम का आतंक बढ़ने लगा तो इन लोगों मे से अधिकांश ने गुरुनानक का धर्म स्वीकार कर लिया और सिख हो गये।

मुसलिम आक्रान्ताओ के बढ़ते हुए आतक और दबाव ने इन जाटों को पंजाब से उखाडकर अन्य सुरक्षित स्थानों की ओर अभियान करने पर मजबूर कर दिया। अतः ये लोग पजाब से दक्षिण-पश्चिम मे फैले मरुप्रदेश की ओर आगे बढने लगे, जहाँ अवस्थित छोटे-छोटे राजपूत राजाओं, ठाकुरो और जागीरदारो के साथ इनकी मुठभेड़ होती रही। जाटो में उस समय तक पूनिया, बेनीवाल, सारण, कसबा, सीहाग, सोहुवाँ छः सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे, जो आपस मे भी भूमि-अधिकार के लिये लडते रहते थे। इनमे भी पूनिया जाटो का दबदबा अधिक होने के कारण मरुप्रदेश का उत्तरी पूर्वी सीमांत पूनियांण क्षेत्र कहलाने लगा था। बीकानेर इतिहास के अनुसार राव बीका से लेकर राजा जोरावर सिंह तक पूनिया जाटो और राजपूतो मे छुटपुट लड़ाइयां होती रही। कभी किसी घोरे की ढलान पर खाण्डे खड़कते, कभी किसी पहाड़ी की तराई मे लहू बरसता और कभी कोई मैदान लाशों से पट जाता।

राजा रायसिंह से लेकर गजसिंह तक इस पूनियांण क्षेत्र मे रामसिहोत राठौडों का प्रभुत्व क्रियाशील रहा। राठौड़ राजपूत एक ओर पूनिया जाटो से लड़ते थे और दूसरी ओर महाराजा बीकानेर के प्रभुत्व से मुक्त होने का प्रयास भी करते थे। इन्हे दबाने के लिये महाराजा गजसिंह को इस क्षेत्र मे कई बार आना पडा।

पूनियांण इस समय अशांति और अराजकता का क्षेत्र बना हुआ था। विद्रोहमूलक राजनीति और स्वतंत्र राज्य-स्थापना के लिये सशस्त्र प्रयासो के कारण पूरे क्षेत्र मे मारकाट मची हुई थी। पूनिया जाट डाका डालने और लूटपाट करने मे लगे हुए थे। इन पर अपना अधिकार जमाने के लिये शेखावाटी के राजपूत राजा रह-रह कर आक्रमण कर रहे थे। शेखावत हाथीराम और भूपाल सिंह ने पूनियाण के दो गावो पर अपना कब्जा करने मे सफलता प्राप्त कर ली थी। इधर भादरा, डूंगराणा, कलाणा, अनूपपुर आदि के सामत राजा गजसिंह की अधीनता से मुक्त होने के लिये बार बार विद्रोह का झण्डा फहरा रहे थे।

दिल्ली के तात्कालिक शासक अहमदशाह ने सदा उपद्रव पर उतारू हिसार जिले का प्रबंध भी राजा गजसिंह को सौंप दिया था। राजा गजसिंह ने जब देखा कि हिसार मे पुलिस थाना रखकर अशांत सीमावर्ती प्रदेश मे शांति स्थापित कर पाना सम्भव नही है, तब उन्होने हिसार से पुलिस थाना हटा लिया। पूनियांण क्षेत्र व्यावसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण वहां स्थाई शांति और चुस्त-दुरुस्त प्रशासनिक व्यवस्था की आवश्यकता को राजा गजसिह बहुत गहराई से अनुभव कर रहे थे। यही कारण था कि उन्होने इस क्षेत्र मे एक सुदृढ किले के निर्माण की योजना बनाई।

सन् १७६६ मे महाराजा गजसिंह अजितपुरा के ठाकुर दीपसिंह व छानी के झोरड़ जाटों को दण्डित करते हुए बडी लूदी पहुँचे। कहा जाता है कि पूणियांण के तीन सौ गांव उस समय लूदी

तरह दिखाई पड़ने लगे हैं। उजाड़ रोही (जंगल) में छितराये हुए कैर, खेजड़ा और रोहिड़े के ठूंठनुमा वृक्ष आकाश में मुँह बाये ऐसे लगते हैं, जैसे गुमसुम मरुथली की सीमा पर अचानक पहरेदार खड़े हों। झड़बेरी, कैर, फोग और सरकण्डे की बिखरी-बिखरी झाड़ियां मां के आंचल में मुँह निकालते अबोध शिशुओं की तरह ताक-झांक करती रहती हैं। कुंओं, धर्मशालाओं और बावड़ियों के आसपास धर्मप्राण महिलाओं के जल-सिंचन से पल्लवित, पीपल, बट और नीम के वृक्ष हवा में झूमते हुए हारे-थके बटोहियों को अपनी सघन छांह तले विश्राम के लिये आमंत्रित करते रहते हैं। बरसात के समय अलबत्ता भरूँट घास नाड़ा और मामा की मिली-जुली हरियाली एक मनोहारी दृश्य की सृष्टि कर देती है।

जड़ों की नमी, पत्तों और बीजों पर जीवन निर्भर करनेवाले जंगली चूहे, नेवले, गिलहरियां, गिरगिट, गोहिरे और सांप आदि जन्तु इन्हीं झाड़ियों और वृक्षों के आसपास रेंगते रहते हैं। चिड़ी-कमेड़ी, कौए-कबूतर, तीतर और बटेर जैसे पक्षी सुबह-शाम वातावरण को कलरव-मुखरित कर देते हैं। मोर यहां का सर्वाधिक सुन्दर और आकर्षक पक्षी है। सावन-भादों की रातों में घिरती-घुमड़ती मेघ-मालाओं को देख कर आनन्दातिरेक से पुलकित होकर मोर कूकने लगते हैं। कभी-कभी शीतल दूधिया चांदनी रातों में मोरों की कूक सन्नाटे को चीरती हुई दूर दूर तक गूंजती चली जाती है। यहां का सूरज जिन्दगी में तपन उड़ेलता हुआ उगता है, तो रात राहत की सेज बिछाती हुई आती है। सुबह-शाम हृदय-मधुर लगने वाला प्रकृति का यह सौम्य स्वरूप धूप चढ़ते-चढ़ते बदल जाता है। जलती दुपहरिया में कार्यरत श्रम-सिंचित जीवन की सांसें हांफ-हांफ कर ही चलती हैं। चारे की खोज में भेड़-बकरियां और गायें, जैसे रेतों की मेड़ों और झाड़ियों में मुँह मारती भटकती हैं। पेय जल के अभाव में इन जानवरों का जीवन दूभर हो जाता है। लगता है विलुप्त हो गये खारे समुद्र का नमक अब भी यहां के तल प्रदेश में दुबका पड़ा है। कुओं का पानी इतना खारा है कि उसको पीना तो दूर रहा, उससे स्नान करने पर भी आंखों में जलन होने लगती है। घरों में बने पक्के कुण्डों में बरसात का पानी संचित करके रखा जाता है और उसी को साल भर पीने के काम में लेते हैं। चालीस-पचास वर्ष पहले तक भी यहां के लोग मीठे पानी के लिये तरस जाते थे। कोई नदी नहीं, नहर नहीं, बड़ा जलाशय नहीं। आषाढ के बादल बरसे और सावन-भादो मेहरबान हों, तो धान के कोठे मूँग-मोठ, ग्वार से भर दें। साढी की फसल में चनों के खेत लहलहा उठें। नहीं तो सांय सांय करती धूल भरी आंधियां खेतों की बाड़ तक उड़ा ले जायें, झोपड़े बिखर जायें और गांव के गांव उजड़ जाएं। इतिहास गवाह है कि इन्द्र देव ने इस सभाग के निवासियों को नहलाया कम और रुलाया अधिक है। वर्षा ऋतु में मेघमालाओं का नगाड़े बजाते, बिजली का खाण्डा चमकाते, आकाश मार्ग से गुजर जाना और लगातार तीन-तीन साल तक अनावृष्टि और अकाल को सह जाना यहां के लोगों की नियति रही है। कहा जाता है कि एक बार तो निरंतर बारह वर्षों तक यहां पानी की बूंद भी नहीं गिरी। बड़े बूढों के मुख से अनेक भीषण अकालों की रोमांचकारी गाथाएं सुनकर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

अकाल ही क्यों ? चेचक, प्लेग और मलेरिया जैसी महामारियों ने अनेक बार इस भरेपूरे नगर और आसपास की ग्राम-बस्तियों को श्मशान बना कर छोड़ा है। इन महामारियों का प्रकोप कितना भयानक होता था, इसकी कल्पना मात्र से ही आदमी को दहशत होने लगती है। परिवार

के लोग एक लाश को फूँककर घर लौटते थे और दूसरी लाश आँगन मे पसरी मिलती थी। कभी-कभी तो मुर्दा उठाने के लिये चार आदमी भी मिलना असम्भव हो जाता था। कितनी अदम्य जीवैषणा और सजीवनी ऊर्जा वाले रहे होगे यहाँ के पूर्वज ! जो वार-वार उजडा नगर वसाते रहे, मृत्यु की छाती पर जीवन की फसलें उगाते रहे। कैसा अपराजेय था उनका पौरुष ! कितनी अलौकिक थी उनकी सहनशीलता और कितनी अजस्र थी उनकी सृजनशीलता !

सांस्कृतिक धरातल

राजगढ़ का लोकजीवन राजस्थान की रंगारंग इन्द्रधनुषी संस्कृति से सराबोर रहा है। होली की हर सुबह इस नगर की धरती पर केसर का रग छिटक कर आकाश के मस्तक पर गुलाल मलती है। दीवाली की हर शाम पलियां-पलियां प्रज्वलित दीपावलियां तारो भरा आकाश धरती पर उतार लाती है। सावन मे वृक्षो की डालो पर फूलो पर कनुप्रिया-सी पुरवधुएँ हवाओ मे उड़ती परियो सी पेंगे भरती हैं। भादों मे छलछलाते ताल-तलैयो पर रग-विरगे परिधानो से सज्जित महिलाओं और फूल-तितलियो से खिले-खिले वच्चो के मेले लगते हैं। कभी कँगना की खनक और पायल की झनक साथ-साथ खिलखिलाती है और कभी कठो से फूटते मधुरिम भीने स्वरो मे लोकगीतो की धुन मे लिपटा मेघ-मल्हार सरसता है। कभी स्नेह के धागो और प्यार के फूलो से सजी राखियां भाई-वहन के स्वर्णिम स्वप्नो को एक साथ गूँथ देती हैं और कभी गणगौर की सवारी पर जनगण का मन शाही अंदाज मे झूम उठता है। मिलन और विरह के धूपछाँही रगो मे रँगे त्योहारो और पर्वों का नगर है राजगढ। कभी जनम हँसता है और थाल वजते हैं, कभी मरण विहँसता है और चिताएँ सँवरती हैं।

वीर और शृगार रस का परिपाक साथ-साथ होता है इस नगर मे। सावन-भादो में जब प्रकृति मे रास रचता है तभी गोगामेड़ी के ढोल पर थाप पडती है और वीर वाँकुरे गौ-रक्षक गोगाजी के भक्त किसी अलौकिक अहसास से नाचने, थिरकने और झूमने लगते हैं। जव ये नर्तक इलहाम मे होते हैं तो न पाँवो तले के अगार इनकी गति भग कर पाते हैं, न सांपो का जहर इन पर असर करता है और न भाले-वर्छियों की चोट और चुभन इन्हे विचलित कर पाती है।

दूध धोई चटक चाँदनी में परमवीर पावूजी की फड़ का सस्वर गान करता हुआ भोपा जव अपने घुँघरू वँधे पाँव का ठुमका लगाता है तो सहगायिका भोपी के कठो से निःसृत सप्तम स्वर आकाश की ऊँचाइयो पर लहरा उठता है। चाँद के रथ मे जुते मृग भी उस मधुरिम आलाप को सुनकर क्षण भर के लिए ठिठक जाते हैं। डेढ हाथ लम्वे घूँघट की ओट से निकला, रावण हत्थे के तारो पर झनझनाता भोपियो का लोक-सगीत सुनकर आज तो अमेरिका के पोप-सगीतज्ञ भी अपनी सुध-वुध खो वैठते हैं।

चमत्कारी वावा रामदेव के मेले की छटा तो और भी निराली होती है। वर्ष भर में दो वार दूरदराज से हजारो नर-नारी "जय वावा रामदेव की !" वोलते हुए वावा के चरणो मे अपनी श्रद्धा निवेदित करने और मनौती मनाने आते हैं। जगह-जगह रतजगा होता है, जहाँ झाँझ की झकार और तानपुरे पर "खमा खमा खमा रे कँवर अजमाल का।" के स्वर से वातावरण गूँजता रहता है।

हिन्दू, मुसलमान, सिख और जैन सभी सम्प्रदायो और जातियो के लोग यहाँ साथ-साथ निवास करते है। अपनी अपनी मान्यता और परम्परा का पालन करते हुए हर नागरिक ने नगर के व्यक्तित्व-निर्माण मे योग-दान किया है। हिन्दू मन्दिरो मे जैसे घटे-घड़ियाल और शख-घोप से मिश्रित आरती का स्वर प्रातः साय गु जारित होता है, उसी प्रकार से मस्जिद की बुलंद मिनारो से उठती अजान की पुकार भी सुनी जा सकती है। भगवान पार्श्वनाथ महावीर आदि तीर्थंकरो की परम्परा से जुडे हुए जैन-समाज के भी अपने मन्दिर और धर्म-स्थान हैं, जहाँ सत्य, अहिंसा और करुणा के वाहक वीतराग, चरित प्रधान साधु-साध्वियो के मार्मिक प्रवचन श्रावक-वर्ग को सद्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। नानक पथी, गोरख पथी, दादू पंथी, कवीर पथी आदि विभिन्न आस्थाओ वाले लोग गुलदस्ते मे सजे भिन्न वरणी पुष्पो की तरह इस नगर को शोभायमान करते है। अनेकता मे एकता का दर्शन करने वाले दार्शनिको और तत्वज्ञो का नगर रहा है राजगढ़। धार्मिक सहिष्णुता, आपसी सद्भाव और भाईचारे की भावना ने इस नगर को हिंसक उपद्रवो और साम्प्रदायिक दगो की विभीपिका से सदा वचा कर रखा है।

सामती युग की उपज होने के कारण राजगढ़ कभी जमावट का नगर नही रहा। प्राकृतिक प्रकोपो और प्रशासनिक अस्थिरता के कारण इस नगर की आवादी मे कभी अप्रत्याशित वृद्धि हुई, तो कभी देखते-देखते आसपास के गांव तक खाली हो गये। व्यापारिक सुविधाओ और रोजगार की प्रचुर सम्भावनाओ ने कभी हासी–हिसार रेवाड़ी, यहाँ तक कि सुदूर सिंध प्रदेश तक के लोगो को यहा आकर वसने के लिये आर्कपित किया। "कर्नल टॉड" के अनुसार सन् १८१५ मे राजगढ़ मे तीन हजार घरों मे करीव पन्द्रह हजार लोग निवास करते थे। उस समय तक राजगढ को वसे सिर्फ उनचास वर्ष हुए थे। वास्तव मे यह एक चौकाने वाला तथ्य है कि आज भी राजगढ़ की आवादी चौवीस हजार के लगभग ही है। सम्भवतः वदल-वदल कर आने वाले सामन्तो के कठोर दण्ड-विधान, अन्यायपूर्ण कर-वसूली, लूट, चोरी और ववंरतापूर्ण व्यवहार से आक्रान्त होकर यहाँ के प्रजाजन भाग-भाग कर अन्यत्र चले गये। राजा सूरत सिंह के शासनकाल का वर्णन करते हुए "कर्नल टॉड" लिखते हैं—"तीन शताव्दी पूर्व राज्य के जो नगर व ग्राम जन-सख्या से भरे-भरे दिखते थे, वे अव पहले की अपेक्षा जन-हीन हो गये। न जाने कितने ग्राम अपना अस्तित्व खो चुके हैं।" कहा जाता है कि राजा ने भटनेर विजय के वाद प्रजा से युद्ध का खर्च प्रत्येक घर से दस रुपये वडी निर्दयता से वसूल किया।

वस्तुतः सामती युग ने एक ऐसी प्रशासन विधा का विकास कर लिया था, जिसमे प्रजा के स्वतत्र विचार और विकास के लिये लेश-मात्र भी सम्भावना नही रह गई थी। राज-भक्त और शासन-मुखापेक्षी वनकर रहने के लिये प्रत्येक नागरिक वाध्य था। वैश्य वर्ग धन से, विद्वान-राजा की प्रशस्ति वाले साहित्य-निर्माण से, क्षत्रिय युद्ध मे राजा को विजय दिलाने और शूद्र राजा की सेवा (वेगार) करने और उत्पादन वढाने मे ही अपनी सुरक्षा समझते थे। फलतः प्रजा मे एक ओर जहाँ विनम्रता, आज्ञापालन, सहनशीलता, कृतज्ञता, सादगी आदि गुणो का विकास हुआ, वही आत्म-सम्मान, निर्भीकता, स्वतत्रता और निर्णय लेने की क्षमता का सर्वथा अभाव रहा। ऐसे स्वेच्छाचारी शासन मे नागरिक अधिकार माँगना राजद्रोह समझा जाता था। ऐसा साहस करने वाले को मृत्यु–दण्ड का शिकार होना पडता था। उस युग की हीन मानसिकता को सूचित करने वाली कहावत आज भी समय–समय पर ग्रामवासियो के मुँह से सुनी जा सकती है—

जाट कहे सुन जाटणी, ई गाँव मे रेणो ।
ऊँट बिलाई ले गई, हांजी-हाँजी केणो ।।

राजगढ़ राजा के अधीन होने के कारण जागीरी जोर जुल्म का शिकार नही हुआ । लेकिन वह युग ही ऐसा था कि राजा के अहलकार अपने आपको किसी ठाकुर या जागीरदार से कम नही समझते थे । शहर का हाकिम दूसरा खुदा समझा जाता था । उसका इतना दवदवा होता था कि वह न्याय-अन्याय का विचार किए विना चाहे जिसको, चाहे जैसा हुक्म दे सकता था, दण्ड दे सकता था, वेइज्जत कर सकता था । अपने अत्याचारी और क्रूर स्वभाव के कारण वह नगर-निवासियो के लिए दहशत का कारण बना रहता था । वह इस वात के लिये सदा सजग और सावधान रहता था कि जब राजा साहब शहर के दौरे पर आएँ तो कोई पीडित या अकारण सताया गया व्यक्ति फरियाद लेकर राजा से मिलने न पाए । क्योकि राजा के सामने सीधी फरियाद पहुँच जाने से उसकी नौकरी खतरे मे पड़ सकती थी । यह भी सामती घराने की एक विशेष मानसिकता थी कि राजा जब अपने राज्यवासियो की खोज-खवर लेने निकलता था तो पूरा प्रजा-वत्सल होकर ही निकलता था ।

राजपूत संस्कृति और वैश्य समाज

मर कर अमर हो जाने वाली भावुकता के अतिरेक मे एक हजार वर्षों तक राजस्थान रणस्थली बना धधकता रहा । क्षत्रीय वच्चे जवान होकर तलवार की मूठ पकड़ना सीखे, शत्रुओ से लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हो और अपनी नई नवेली दुल्हन को सती होने का सौभाग्य प्रदान करे, वस यही जीवन का परम धर्म वना रहा । जन्म से ही इन्सान के पांवो तले तलवारे बिछी रहती और यौवन की देहरी तक पहुँचते-पहुँचते वह लहूलुहान होकर विखर जाता । युद्धोन्मादी जुझारू परम्परा ने न केवल राजपूत वल्कि अन्य जातियो को भी वलिपथ का अनुगामी बना दिया था । कलम और हल चलाने वाले भी समय आने पर तलवार थामकर युद्धभूमि मे कूद पडते और पुर्जे पुर्जे कट जाते । निरन्तर अग्नि स्नान और रक्त-वर्पण से मरुभूमि का कण-कण लोहित हो चला, फिर भी झुलसती धरती की सर्वग्रासी प्यास ने वुझने का नाम नही लिया ।

भारत मे मुसलमानी राज्य की स्थापना के वाद भी छोटे-छोटे राजघरानो मे वँटे राजपूत राजा भूमि-अधिकार की संकीर्ण और स्वार्थमयी भावनाओ से प्रेरित होकर आपस मे लडते रहते थे । वलिवेदी पर अपने प्राणो की भेंट चढ़ाने के लिये अव कोई वडा उद्देश्य उनके सामने नही रह गया था । देश की रक्षा के लिये विदेशी आक्रान्ताओ से जूझते-जूझते मर-मिटने मे जिस आत्म-गौरव का अहसास होता था, वैसी प्रेरणात्मक अनुभूति आपसी सर-फुटौवल मे कहां सम्भव थी ? झूठी अकड और मात्र वीरता के प्रदर्शन के लिए भाई-भाई का गला काटते हुए राजपूतो के हृदय मे आत्म-ग्लानि और नफरत का भाव जगने लगा । परिणामतः युद्धोन्माद ठण्डा पड़ने लगा । वीरता के साथ मर मिटने की जगह साहस सौर धैर्य के साथ जिन्दा रहने की एषणा का उदय होने लगा । निरुद्देश्य दहशत भरी जिन्दगी की निरर्थकता को वे गहराई से समझने लगे । अव उन्हे लगने लगा था कि धरती मात्र मरने, आग लगाने और लहू वहाने के लिये नही वनी है, वल्कि समृद्धि की फसलें उगाने, सजाने-सँवारने और सुख-शांति से जीने के लिए बनी है । हवाओ मे केवल तलवारो की झनझनाहट और घोड़ो की हिनहिनाहट ही नही, कुहू और पिहू का प्यार भरा संगीत

भी गूँजता है। पद्मिनी महिलाये फूल से बच्चो को गोद मे लेकर अग्नि में स्वाहा हो जाने के लिए नही, हँसते-खिलखिलाते परिवार और समाज की सर्जना के लिये बनी हैं।

शताब्दियो तक भरे-पूरे परिवारो को रण-चण्डी की भेंट चढा कर भी जब वांछित सुख-शांति की प्राप्ति नही हुई, तो क्षत्रियो को इस सत्य का स्पष्ट बोध होने लगा था, कि खून के धब्बे खून से नही धोए जा सकते। प्रतिहिंसा और प्रतिशोध के रास्ते मे कही कोई फूल नही खिलता, कही कोई दीप नही जलता। पृथ्वी लाशो और चिताओ से पटकर श्मशान बनती चली जाती है। हाहाकार और चीत्कार से भरा आकाश भयावना लगने लगता है। दुनिया भूतो और प्रेतो का डेरा बन कर रह जाती है।

इस नई दृष्टि ने राजपूत शूर सैनिको की जीवन-धारा को सर्जनात्मक कर्म-पथ की ओर मोड़ दिया। उन्होंने नफरत के कांटे बुहार कर एक ओर कर दिये और धरती पर प्यार और भाई-चारे के लिये जगह बनानी शुरू की। अनेक क्षत्रियो ने अपनी तलवारें खूंटी पर लटकाकर हलों की मूठ पकड़ ली। अनेकों के मन मे धरती की खूनी प्यास को अपने श्रम-सीकरो से बुझाने का सकल्प जागा और वे ऊंटो की पीठ पर काठिया कस कर चल पडे रोटी रोजी की तलाश और विणज-व्यापार के उपयुक्त स्थान की तलाश मे—किन्ही सुदूर प्रदेशो की ओर। इस प्रकार क्षात्र-धर्म को त्याग कर अर्थोपार्जन और व्यवसाय मे लगने वाला वर्ग वैश्य कहलाने लगा। इस वर्ग का राजपूती बाना, मूँछो की मरोड़ और पगडी का बांकपन तो बना रहा, पर हथियारो की पकड़ छूट गई। आज भी अनेक श्रेष्ठ-घरानो का रहन-सहन और ठाठ-बाट बीते कल के राजाओं की याद ताजी कर देता है। आगे चलकर वैश्य समाज चार बड़े वर्गों मे फैल गया, जो अग्रवाल, माहेश्वरी, ओसवाल और सरावगी नामो से जाने जाते हैं। अग्रवाल इनमे सबसे बडा और बहुसंख्यक समाज है, जिसके अठारह गोत्र हैं। बिहारीलालजी जैन की वश-परम्परा इसी समाज से जुड़ी हुई है।

अग्रवाल समाज की व्युत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध मे इतिहासकारो के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। कुछ विद्वानो के अनुसार इनके पूर्वज अगरु की लकड़ी का व्यापार करते थे, इसी कारण अग्रवाल कहलाए। ऐसा भी कहा जाता है कि किसी समय इनके पूर्व वशज सेना की अग्रिम पक्ति मे रहने के कारण ये अग्रवाल कहलाने लगे। लेकिन अब तक हुई खोज के आधार पर जो सर्वमान्य तथ्य उजागर हुआ है, वह यह है कि इतिहास प्रसिद्ध महाप्रतापी राजा अग्रसेन के वशज ही अग्रवाल कहलाते हैं। दिल्ली से थोड़ी दूर बसा अग्रोहा ही राजा अग्रसेन की राजधानी थी। ऐसा भी सम्भव है कि राजा अग्रसेन की राजधानी होने के कारण ही इस शहर का नाम अग्रोहा पडा है। जो भी हो, राजा अग्रसेन कुशल प्रशासक होने के साथ-साथ सफल सगठनकर्ता, समाज-योजक और प्रखर चिंतक भी थे। इन्होने ही सर्व प्रथम अग्रवालो के गोत्र, ऋषि आदि निश्चित किए और इधर-उधर बिखरे अग्रवालो को एक सुव्यवस्थित रूप दिया।

आज जहाँ छोटा सा आग्रोहा गाँव विद्यमान है, उसके आसपास मीलो तक रेत के ऊँचे नीचे टीबे फैले पड़े हैं। प्राचीन शिलालेखो और हस्तलिपियो के आधार पर पुरातत्वज्ञ इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि राजा अग्रसेन की विराट राजधानी अग्रोहा इन्ही टीबो के नीचे दबी पड़ी है। पिछले कई वर्षो से हो रही खुदाई मे रेत की पर्तो के नीचे दबे प्राचीन नगर के खण्डहर निकल आए हैं। खुदाई मे प्राप्त होने वाली वस्तुओ ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है कि यही राजा अग्रसेन की राजधानी अग्रोहा है। यह स्थान आज पूरे अग्रवाल समाज के लिए तीर्थ स्थान बन चुका है।

अखिल भारतीय अग्रवाल समाज ने अपनी पावन जन्मभूमि अग्रोहा के विकास के लिये अनेक योजनाएँ चालू की हैं।

जो भी हो, दिल्ली से हाँसी हिसार और पूरे पंजाब तक फैला हुआ भू-प्रदेश ही वैश्य समाज का उत्पत्ति क्षेत्र माना जा सकता है। आततायियो के निरतर आक्रमणो और मुसलिम शासको के अत्याचारो से उखड़-उखड़ कर अधिकाश अग्रवाल वैश्य मरुप्रदेश के सुरक्षित गाँवो और कसवो मे फैलते चले गये। बारहवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक यह क्रम किसी न किसी रूप मे चलता रहा। प्रवसन के इसी दौर मे सम्भवत. बिहारीलालजी के पूर्वज भी किसी समय रिणी (तारानगर) मे आकर बस गये थे। रिणी मे इस वश की कितनी पीढ़ियां गुजरी, यह कहना कठिन है। आगे चलकर जब राजगढ़ का निर्माण-विकास एक व्यावसायिक मण्डी के रूप मे होने लगा, तो सन् १८३५ मे इनके पूर्वज राजगढ मे आकर बस गये।

बिहारीलालजी के पूर्वजो का स्मरण करने पर जो नाम सबसे पहले उभर कर आता है, वह है चन्द्रभान जी का। चन्द्रभान जी अपने समय के संघर्षशील, परिश्रमी और दबग प्रवृत्ति वाले व्यक्ति थे। अग्रवाल सरावगी समाज मे इनका काफी सम्मान था। बिहारीलाल जी से कोई पाँच पीढी पूर्व हुए चन्द्रभानजी महत्वाकाक्षी होने के कारण आमदनी के स्थाई स्रोत की खोज मे प्रयत्नशील रहते थे। जब उन्हे पक्का विश्वास हो गया कि रिणी की अपेक्षा राजगढ व्यावसायिक लाभ की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है, वे रिणी छोड कर राजगढ आ बसे। राजगढ मे आकर बसने मे चन्द्रभान जी को कोई कठिनाई नही हुई। क्योकि वह युग ही ऐसा था, जब राजा और जागीरदार अपने अपने गाँवो मे वैश्य समाज को प्राथमिकता देकर बसने की सुविधा देते थे। चन्द्रभानजी ने अपने रहने के लिये एक छोटी सी जगह की व्यवस्था की और बाजार मे दुकान लगाकर लोहे का कारोबार शुरू कर दिया। राजगढ चन्द्रभानजी को रास आ गया और वे यहां स्थायी रूप से जम गये।

चन्द्रभानजी जब रिणी से उठकर राजगढ़ आये थे, उस समय तक शेखावाटी प्रदेश मे झुंझनूँ, फतेहपुर, बिसाऊ, डूंडलोद, खेतड़ी, सीकर, रामगढ आदि अनेक ठिकाने आबाद हो चुके थे। इन ठिकानो के बसने और विकसित होने का भी एक दिलचस्प इतिहास रहा है। पहले ठाकुर अपनी गढी (किला) का निर्माण करवाता था और फिर उसके आसपास कृषि तथा घरेलू उद्योगो पर जीवन निर्भर करने वाले अनेक जातियो के लोगो को दूसरे ठिकानो से लाकर बसाया जाता था। प्रारम्भिक काल मे ये ठिकाने अपनी सीमा मे बसे लोगो की जान-माल की रक्षा करते थे। खेतो से लगान के रूप मे धान की वसूली करके अपना खर्च चलाते थे। धीरे-धीरे छोटे-मोटे अन्य करो द्वारा भी प्रजा से धन वसूला जाने लगा। इतने पर भी जब काम न चलता था तो विणज-व्यापार की दृष्टि से एक ठिकाने से दूसरे ठिकानो के चक्कर लगाते व्यापारियो पर ठाकुर के लठैत रात के अँधेरे मे घात लगाकर आक्रमण करते थे और लूट का माल रातोरात गढ़ी मे पहुँच जाता था। पर यदा-कदा हाथ लगने वाले लूट के माल से ठिकाने का स्थाई खर्च चल पाना सम्भव नही था। बदलती हुई परिस्थितियो और समय के प्रभाव ने ठाकुर घरानो को एक नई दृष्टि प्रदान की। अब उन्हे यह बात सहज ही समझ मे आने लगी कि ठिकाने की समृद्धि लूटपाट और जोर-जुलुम से नही होगी। बल्कि अपनी व्यावसायिक बुद्धि और मेहनत से धन कमाने की क्षमता रखने वाले वैश्यो को अपने ठिकानो मे लाकर बसाने और उनको उचित सम्मान प्रदान करने

से होगी। अन्ततः वैश्यो की समृद्धि ही ठिकानो की समृद्धि का पूरक बनेगी। इस नई दृष्टि के कारण सभी ठिकानो मे वैश्य समाज को आकर बसने के लिये ठिकाने की ओर से सभी सुविधाएँ दी जाने लगी थी। ये ठिकाने पहले उन्हे बसने के लिये मुफ्त जमीन आदि प्रदान करते, बाद मे उन्हे पचायतो और दरबार मे सम्मानजनक पद देकर उनका रुतबा बढाते। इससे उत्साहित होकर ठिकाने का वैश्य शाति और स्वाभिमान से जीवन-निर्वाह करता हुआ ठिकाने की समृद्धि के लिए फलप्रद व्यापार मे लगा रहता।

ठिकानो के बसने-उजड़ने के इतिहास पर दृष्टि डालने से जो ज्वलत सत्य उजागर होता है, वह यह है कि वैश्य समाज सदा-सदा इन ठिकानो और ठाकुर घरानो का मित्र बन कर ही रहा। वैश्य के पास जो धन कृषि से, व्यापार से या विरासत से आता था, उसमे पूरे गांव की भागीदारी होती थी। एक ओर वह लगान, कर और भेंट के रूप मे धन देकर राजघराने को लाभान्वित करता था, तो दूसरी ओर गांव मे कुएँ, धर्मशालाएँ, तालाब, मदिर, विद्यालय, औषधालय आदि बनवा कर गाँव के विकास और प्रजा के हित–साधन मे भी लगा रहता था। अकाल और महामारी के समय वह अपने खजाने से प्रचुर धन दान के रूप मे देता था। आवश्यकता पडने पर सेठ लोग अपनी हवेलियो के दरवाजे खोल देते थे, जिनमे अकाल और महामारी से पीडित लोगो को पनाह मिलती थी। इतना ही नही, पीडितो के लिये रोटी-पानी और सुरक्षा-चिकित्सा की व्यवस्था भी वे करते थे।

प्रजा की भलाई मे बराबर का भागीदार होने के कारण गाँव मे जो सम्मान ठाकुर और गढी का होता था, वैसा ही रुतबा सेठ और उसकी हवेली का भी हुआ करता था। वैश्य को बराबर का सम्मान देते हुए ठाकुर को यह अदेशा भी रहता था कि हवेली कही इतनी ऊँची न उठ जाए कि गढी को आँख दिखाने लगे। इस बारे मे पूरी सावधानी बरतने पर भी समकक्ष जीवन जीने वाले ठाकुर और सेठ मे, प्रतिष्ठा का प्रश्न लेकर, कभी न कभी ठन जाती थी। ऐसे मे एक दूसरे के आगे झुकना कठिन हो जाता था और परिस्थिति की चुनौती को स्वीकारते हुए सेठ ठिकाना त्याग कर किसी दूसरे ठिकाने को आबाद करने निकल पड़ता था। दूसरे ठिकाने भी ऐसे उखड़े हुए वैश्य को अपने यहाँ सुविधा देकर बसा लेते थे, जिससे उस ठिकाने मे एक हवेली का रुतबा और बढ जाए। इस प्रकार नए ठिकाने आबाद करने मे ठाकुरो की तरह वैश्यो की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। रामगढ, चुरू आदि ठिकानो के बसने का इतिहास कुछ ऐसा ही बताया जाता है।

ठिकाने की यह परम्परागत सहानुभूति राजगढ मे आकर बसे चन्द्रभानजी को भी मिली। चन्द्रभानजी कठोर परिश्रमी और धुन के पक्के थे। उन्होने राजगढ मे काम-धधा जमाने का मन बना कर ही रिणी से प्रस्थान किया था, अतः वहाँ पहुँचते ही उन्होने रहने के लिए जगह और धन्धे के लिए दुकान की व्यवस्था कर ली। राजगढ विकासशील व्यापार-केन्द्र होने के कारण दुकान चल पडी और परिवार का खर्च आराम से निकलने लगा। इस प्रकार चन्द्रभानजी ने अपनी सूझबूझ और व्यवहार-कुशलता से राजगढ की धरती पर जो अपना पांव जमाया, वह सदा–सदा के लिए स्थाई हो गया। यद्यपि राजगढ के जीवन मे कई उतार-चढाव आए, किन्तु चन्द्रभानजी के वशज राजगढ छोड कर इधर-उधर नही गए। पीढी दर पीढी लोहे के व्यवसायी के रूप मे इस परिवार की पहचान बनती गई और धीरे-धीरे यह परिवार राजगढ के जन-जीवन के साथ समरस हो गया।

चन्द्रभानजी के पाँच पुत्र हुए—कुशालचन्दजी, पृथ्वीराजजी, गुट्टीरामजी, लालचन्दजी और मखनारामजी। चन्द्रभानजी ने अपने सभी पुत्रो की परवरिश बडी सावधानी पूर्वक की। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न न होते हुए भी उन्होने अपनी संतानों को कभी हीनभावना से ग्रसित नही होने दिया। पाचो भाइयो मे लालचन्दजी अधिक योग्य थे। उन्होने अपने पिता के कार्य को बड़ी योग्यता से सँभाला और परिवार की गाड़ी को कुशलता पूर्वक चलाया।

लालचन्दजी के क्रमशः चार पुत्र हुए—स्योजीरामजी, सालगरामजी, चिमनीरामजी और डालूरामजी। डालूरामजी के समय तक राजगढ़ के बाजार मे काफी रौनक रही। यद्यपि उस समय राजगढ़ के करीब ९०० घरो मे ३८०० स्त्री-पुरुष निवास करते थे, किन्तु राजगढ के अन्तर्गत करीब १५८ गाँव थे जिनके निवासियो के लिये प्रमुख बाजार राजगढ़ ही था। सारे गावो के लोग इसी बाजार से लेन-देन और क्रय-विक्रय किया करते थे। राजगढ की जमीन उपजाऊ होने के कारण जब वर्षा अच्छी होती थी, तो धान भी प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होता था। कहा जाता है कि उस समय बीकानेर राज्य के राजस्व के आधे से अधिक की वसूली केवल राजगढ़ से होती थी। राज्य को यह शहर दस हजार रुपये वार्षिक वाणिज्य-कर के रूप मे चुकाता था।

जब तक गंगानगर क्षेत्र मे गंगा नहर नही आई थी, उस समय तक राजगढ़ ही वाणिज्य का प्रमुख केन्द्र बना रहा। किन्तु नहर आ जाने के बाद राजगढ़ के व्यापारी गगानगर जाकर बसने लगे और राजगढ़ की मण्डी उजड़ने लगी। डालूरामजी ने अपने जीवन काल मे राजगढ-मण्डी का समृद्ध रूप भी देखा और अपने जीवन के सध्या-काल मे उसको उजड़ते हुए भी देख लिया।

डालूरामजी के तीन पुत्र हुए—हरदेवदासजी, सुखदेवदासजी और बालूरामजी। बालूरामजी इनमे सबसे छोटे थे। अतः राजगढ के उजड़ते हुए बाजार और मदी का शिकार भी इन्ही को सबसे अधिक होना पडा। गल्ला, किराना, कृषि सामानो की दुकान मे अब कुछ दम नही रह गया था। भयकर बेकारी के कारण परिवार के भरण-पोषण की समस्या विकराल रूप धारण करने लगी थी।

संक्रमण वेला में उठा सार्थक कदम—बालूरामजी

बालूरामजी समस्या-सकुल युग की उपज थे। यौवन की देहरी पर पांव रखते ही समस्याओ ने उन्हे आ घेरा। बीकानेर राज्य का सबसे प्रमुख वाणिज्य केन्द्र राजगढ का बाजार उजड़ चुका था। बेकारी, महामारी और अनावृष्टि ने जन-जीवन मे तबाही ला दी थी। मात्र कृषि और उससे सम्बन्धित धन्धे ही राजगढ़-वासियो की जीविका का आधार थे। एक साल अच्छी वर्षा से जो उपज होती थी, उसी के आधार पर तीन-तीन साल लगातार पड़ने वाले अकाल और अभाव के दिन कटते थे। यह उन्नीसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध था! अब इष्ट इण्डिया कम्पनी केवल अग्रेज कम्पनी नही रह गई थी। अंग्रेजो की हुकूमत ने इस देश मे बखूबी अपने पांव जमा लिये थे। हथियारो की जगह अग्रेज शासक व्यवसाय का अकुश लगाकर आर्थिक शासन को मजबूत करने मे लगे हुए थे। कलकत्ता और बम्बई व्यापार के प्रमुख केन्द्र बन चुके थे। कलकत्ता में जूट, किराना, चीनी और चाय का कारोबार विशाल पैमाने पर होता था और बम्बई रूई तथा वस्त्र व्यवसाय के कारण आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। मध्यप्रदेश मे अफीम की खेती के कारण इन्दौर-भोपाल आदि शहर भी व्यवसाय की दृष्टि से महत्वपूर्ण नगर गिने जाते थे। यहाँ से जो अफीम तैयार होती थी, वह चीन को निर्यात की जाती थी। व्यापार के उन बड़े केन्द्रो ने शेखावाटी अंचल मे निवास

करने वाले श्रेष्ठिवर्ग को अपनी ओर आकर्षित किया। अनेक लोग विणज-व्यापार और रोजी-रोटी की तलाश मे कलकत्ते और बम्बई की जोखिमभरी यात्राओ पर निकल रहे थे। यातायात के साधनो के अभाव मे ये यात्राये जान जोखिम मे डालकर ही की जाती थी। बम्बई जाने वालो को खण्डवा और कलकत्ता जाने वालो को मिर्जापुर तक की यात्रा ऊंटो की सवारी करके ही पूरी करनी पडती थी। महीने-बीस दिन मे पूरी होने वाली यह यात्रा किसी अकेले व्यक्ति द्वारा कर पाना सम्भव नही था, अत: "सागा" करके ऊँटों के काफिले चला करते थे।

ऊँटो की पीठ पर लदे-लदे पूरे किए जाने वाले इन साहसी अभियानों की भी बड़ी रोमांचकारी गाथाएँ हैं। परदेश-यात्रा पर निकले इन यात्रियो को रास्ते मे पड़ने वाले ठिकानो को पैसा आधा-पैसा टैक्स चुकाते हुए आगे बढ़ना पडता था। आंधियो मे बनती-बिगड़ती टेढी-तिरछी पगडण्डियो के सहारे बियावान जगलो को पार करते हुए डाकुओ और जगली जानवरो का बराबर भय बना रहता था। कई यात्री अप्रत्याशित बीमारियो और प्राकृतिक प्रकोपो के शिकार हो जाते थे। दो-दो चार-चार वर्षो की मुसाफिरी करके जो धन अर्जित करके लाते थे, उसी से परिवार का खर्च चलता था।

कलकत्ता से कमाई करके लौटे लोगों के ठाठ-बाट देखकर बालूराम के मन मे भी परदेश यात्रा का सकल्प जागा। आखिर एक दिन शुभ मुहूर्त दिखाकर वे भी कलकत्ता जाने वाले काफिले के साथ हो गए। यह एक साहसिक और क्रान्तिकारी कदम था, जो बालूरामजी ने अपने स्त्री-बच्चो का लम्बा विछोह झेलकर उठाया था। दो साल की लम्बी मुसाफिरी से जो कमाई करके लाए, उससे पारिवारिक सुख मे वृद्धि हो गई। उसके बाद तो इन्होने कई बार कलकत्ता की लम्बी मुसाफिरी की और उसी क्रम मे जीवन-निर्वाह होता रहा।

बालूरामजी के द्वारा उठाए गये इस साहसिक कदम के पीछे उनकी धर्मपत्नी की अत्यन्त सशक्त भूमिका रही है। आज भी बिहारीलालजी के परिवार मे बूढी दादी के नाम से उसकी साहस-भरी जीवन गाथा का स्मरण किया जाता है। कहा जाता है कि बूढी दादी ने अपने सघर्ष और अभावग्रस्त जीवन मे कई उतार-चढाव देखे थे। प्रतिकूल परिस्थितियो ने उसकी प्रकृति को जुझारू बना दिया था, स्थिति का आकलन करने और उससे सलटने की अद्भुत क्षमता थी उसमे। बालूरामजी को परदेश यात्रा पर भेजकर छोटे-छोटे बच्चो के साथ अकेले घर मे रहना उन दिनो कम खतरे का कार्य नही था। दिन का समय तो किसी प्रकार आते-जाते लोगो का मुँह देखकर गुजर जाता था, पर भय और आशका से भरी लम्बी और काली रातें बडी त्रासद होती थी। रात को आने वाले सकट से त्राण पाने के लिये वह कई प्रकार के उपक्रम किया करती थी। अपनी खटिया के पास एक दूसरी खाली खटिया पर लम्बा सा तकिया लिटा कर उस पर चद्दर उढा देती थी, जिससे लगता था कि कोई आदमी चद्दर से मुँह ढांपे सो रहा है। इस भ्रम को और भी सजीव बनाने के लिए खाट के सहारे एक लाठी भी रख देती थी। काली सूनसान रात के सन्नाटे मे जब कुत्ते भौकने लगते थे, तो बूढी दादी का कलेजा मुँह को आने लगता था। कभी उसे चोर-उचक्को के पाँवो की आहट सुनाई देती थी और कभी भूतो के काल्पनिक साये उसके आसपास तैरने लगते थे। रोगटे खडे कर देने वाली ऐसी दहशत की घड़ियो से अपना ध्यान हटाने के लिये बूढी दादी जोर-जोर से खांसने लगती थी और पास की खाट पर सोये आदमीनुमा तकिया से बतियाती रहती थी। बार-बार भय भरे गलियारो से गुजर-गुजर कर बूढ़ी दादी बिल्कुल निर्भीक और दबग हो गई थी।

कठोर मिजाज वाली बूढी दादी ने एक मर्दानी और दाठीड़ महिला के रूप मे गाँव के लोगो पर अपना दवदवा जमा लिया था। ऊपर से कठोर दिखने वाली बूढी दादी भीतर से बिल्कुल मोम की तरह कोमल और सवेदनशील थी। उसने स्वयं अभाव और विछोह का सकट झेला था, इसलिये दूसरे के दु ख को वह वड़ी गहराई से समझती थी। डाँट-फटकार कर भी जरूरतमन्द का काम निकाल देना उसका सहज स्वभाव वन चुका था। यही कारण था कि उसकी डाँट-फटकार को लोग अशीर्वाद समझ कर ही ग्रहण करते थे।

वालूरामजी जो कुछ परदेश से कमा कर लाते थे, उसमे से वह थोड़ा-थोड़ा वचाकर चुपचाप अपने पास रख लेती थी। गाँव के जरूरतमन्द लोग बूढी दादी से सूद पर रुपया उधार लेते रहते थे। वालूरामजी जव लम्वी मुसाफिरी पर चले जाते थे तो वोरगत की कमाई के सहारे ही वह अपने घर का काम चलाती रहती थी। वूढी दादी परमात्मा पर भरोसा रखने वाली, कठोर कर्तव्य-परायण और धर्मात्मा स्त्री थी। व्यवहार मे खरी और मन के साफ होने के कारण सभी उसका आदर-सम्मान रखते थे। जीवन के अन्तिम समय तक उसने अपनी गरिमा को अक्षुण्ण वनाये रखा।

वूढी दादी ने अपने जीवन-काल मे एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। पुत्र का नाम शिवनारायण और पुत्री का नाम स्योवाई रखा गया। अपनी दोनो सतानो को वूढी दादी ने वडे लाड़-प्यार से पाला और वडा किया। साधारण नाक-नक्स वाली स्योवाई ने अपनी माँ के कठोर अनुशासन और मर्यादा मे रहकर शीघ्र ही समझ पकड़ ली। तीव्र वुद्धि की होने के कारण वह गृह-कार्य और सामाजिक व्यवहार मे भी कुशल हो गई। वडी होने पर स्योवाई का विवाह नाथानी परिवार मुजफ्फरपुर निवासी (दूधवेवाला) मे कर दिया गया। नाथानी परिवार वालूरामजी का जाना-चीह्ना और खाता-पीता सुखी परिवार था। स्योवाई को वहाँ कभी कष्ट नही हुआ। ससुराल मे स्योवाई का उचित सम्मान था। अत: वेटी की ओर से वूढी दादी को कभी चिन्तित होने का अवसर नही आया।

वूढी दादी का सारा ध्यान अपने एकमात्र पुत्र शिवनारायण की ओर ही लगा रहता। सन् १८७० के वाद रेलो का आना जाना प्राय: राजस्थान के सभी वडे शहरो मे शुरू हो गया था, अतः वालूरामजी के लिये कलकत्ता आने-जाने मे पहले जैसी कठिनाई नही रह गई थी। यह वह समय था, जव कलकत्ता मे पटसन और अफीम का सट्टा-बाजार तेजी से विकसित हो रहा था। सट्टा वाजार पर प्रमुख रूप से मारवाड़ी व्यापारियो का ही प्रभाव था। वालूरामजी की आमदनी का स्रोत दलाली और कमीशन रहा। रेल मार्गों के विकास और शेखावाटी के नगरो मे खुलने वाली प्राइमरी स्कूलो द्वारा होने वाले शिक्षा-प्रचार ने मारवाडी व्यापारियो मे एक नई चेतना जगा दी थी। वालूरामजी भविष्य की आहट को भाँप गये थे। कलकत्ता मे वडी फर्मो के मालिक मारवाड़ी व्यापारियो के सम्पर्क मे आने के कारण वालूरामजी इस बात को भलीभाँति समझने लगे थे कि मारवाडियो की व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता अग्रेजो के साथ ही होनी है। विना शिक्षा के यह सम्भव नही होगा। अत. उन्होंने शिवनारायण की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया।

पाँच वर्ष की अवस्था मे ही शिवनारायण को गाँव की गुरु पाठशाला मे भरती करवा दिया गया था। इन पाठशालाओ मे पढाई अको से प्रारम्भ होती थी। पहले एक से सौ तक गिनती, फिर पहाड़े, जोड-गुणा और भाग करना सिखाते थे। अत मे कटवामिती व्याज सिखाकर

पढाई खत्म हो जाती थी। महाजनी मौखिक हिसावों मे पारंगत करने के लिये गुरु और उप-खाडिया समझा दी जाती थी। मुडिया भाषा का ककहरा और कागज की पेठ जमवा कर विद्यार्थी को साक्षर वना दिया जाता था। तीव्र वुद्धि वालक शिवनारायण ने ये सव जल्दी ही सीख लिया और गांव के पढे-लिखे लड़को मे वह सव से होशियार समझा जाने लगा।

राजगढ़ का शेर—शिवनारायण सरावगी

वालक शिवनारायण के मन पर अपनी मातुश्री के प्रखर व्यक्तित्व की गहरी छाप पडी। पिता के प्रवसन के समय अकेली पड़ जाने वाली मां के हर कठिन कार्य मे वह सहज-भाव से हाथ वँटाया करता था। स्वस्थ शरीर और जन्मजात निर्भीकता के कारण वालक शिवनारायण को कोई कार्य कठिन नही लगता था। रामदूत हनुमान की तरह वह हर काम को लपक-लपक कर ही करता था। चचल प्रकृति के कारण आलस्य तो कभी उसके पास ही नही फटकता था। वालूरामजी ने प्रवसन का क्रान्तिकारी कदम उठाकर जो स्वप्न आंखो मे संजोया था, वह वालक शिवनारायण के विकासशील व्यक्तित्व मे आकार धारण करने लगा।

वालूरामजी जव भी मौका देखते, शिवनारायण को अपने पास विठाते और कलकत्ता के व्यापारिक जगत की वातें वताते। शिवनारायण भी पिता की प्रत्येक वात को ध्यान से सुनता और समझने की कोशिश करता। वह मन ही मन कलकत्ता की अपनी भावी-यात्रा के सम्वन्ध मे योजनायें वनाता रहता और अपने आप को योग्य वनाने का प्रयत्न करता रहता। सात-आठ साल का होते होते उसका जिज्ञासु मन जोर मारने लगा और उसके पांव घर से वाहर के ससार को माप लेने के लिये चचल हो उठते। यदा कदा वह मां की आंखें वचाकर गलियो मे निकल पडता और गांव के रग-विरगे जीवन की झांकी देख आता। जैसे-जैसे उसके परिचय का क्षेत्र विस्तृत हुआ, उसके हम उम्र मित्रो की टोली भी सज गई। शारीरिक ऊर्जा और तीव्र प्रतिभा के कारण शिवनारायण ही टोली का अगुआ वन कर रहता। गुरु पाठशाला से घर आकर मां के हाथ का वना खाना खाता और फिर मौका देखकर अपने मित्रो के पास दौड जाता। कवड्डी, लूणाक्यारी, मीया घोडी, गुल्ली डण्डा से लेकर कुश्ती लडने तक सभी खेलो मे उसकी अवाध रुचि थी। शारीरिक क्षमता, अल्हडता और परिहास–प्रियता के कारण शिवनारायण का व्यक्तित्व निखरा-निखरा रहता था और सभी वालक उसके आकर्षण मे वंधे उसकी आज्ञा का अनुसरण करते थे। मुक्त वचपन का भरपूर आनन्द लूटता हुआ शिवनारायण यौवन के उन्मुक्त द्वार की ओर अग्रसर होता गया।

तेरह-चौदह साल की उम्र आते-आते शिवनारायण मे यौवन की सुघड़ाई और जवानी का वांकपन झलकने लगा। वालूरामजी उम्र के तकाजे को समझते थे, अतः उन्होने सूरजगढ निवासी नाथराम डरोलिया की सुशील कन्या नानीवाई के साथ शिवनारायण का विवाह कर दिया। शिवनारायण जितना तेज-तर्रार था, नानीवाई उतनी ही शांत और शालीन थी। सुसस्कृत घराने मे पली नानीवाई ने वडी समझदारी से अपने आपको शिवनारायण की इच्छा-आकांक्षाओ के अनुकूल ढाल लिया। नानीवाई ने अपने पति को भरपूर प्यार और सम्मान दिया। उसके मृदु-व्यवहार और कर्तव्य-परायणता की शिवनारायण के मन पर भी गहरी छाप पडी। वह भी नानीवाई की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखता।

विवाह के बाद शिवनारायण का दायित्व-बोध गहरा होने लगा। पारिवारिक कर्तव्यो के प्रति अब वह अधिक जागरूक और सक्रिय रहने लगा। पिता के कंधों पर बोझ बनकर रहने की अपेक्षा अब वह अपने पांवो पर खड़े होने और पिता के कार्यों मे हाथ बँटाने मे दिलचस्पी लेने लगा। बालूरामजी अपने सयाने होते पुत्र के प्रत्येक कार्यकलाप और चेष्टाओ पर बराबर नजर रखते थे। मौका देखकर उन्होने कलकत्ता-यात्रा के समय शिवनारायण को भी अपने साथ ले जाने का निश्चय किया। शिवनारायण तो इस अवसर की प्रतीक्षा मे ही था, अतः वह बड़े उत्साह से पिता के साथ यात्रा के लिये प्रस्तुत हो गया।

शिवनारायण की सपाट जिन्दगी का यह पहला मोड था। आज पहली बार उसे भान हो रहा था कि उसका भी अपना व्यक्तित्व है। जीवन के कर्म-क्षेत्र में उसे भी कोई महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। अचानक ही उसे लगा, जैसे वह अपनी उम्र से पांच वर्ष बडा हो गया है। एक चुनौती-भरा भविष्य जैसे उसे पुकार रहा है। विदाई का समय जैसे-जैसे समीप आता गया, उसके चचल मन का उद्वेग बढता गया। कैसा लगेगा वह क्षण, जब माँ का ममत्व और आशीर्वाद-भरा हाथ हवा मे उठा रहेगा और वह मुँह फेरकर चल देगा किसी अजनबी नगर की अनजानी राह पर। कैसी होगी वह घडी, जब बात-बात मे रूठने और प्यार करने वाले हमजोली साथी अपनी मोहक मुद्राओ मे मेरी ओर निहारते-निहारते निरीह हो जायेगे और पीछे छूटती चली जायेगी गाँव की वे गलियाँ, जहाँ हमारा किलकारियाँ भरता बचपन दौड लगाया करता था। कैसा होगा वह कलकत्ता महानगर जिसका आजतक मैं स्वप्न देखता रहा, आगे जो अचानक ही सामने आ खड़ा होगा।

कल्पनाओ की उधेड़-बुन मे जाने समय कब खिसक गया और वह दिन आ गया, जब शिवनारायण अपने पिता श्री बालूरामजी के साथ कलकत्ता के लिये विदा होने के लिये तैयार खडा था। विदाई के समय शिवनारायण का मन जाने कैसा-कैसा हो रहा था। एक ओर नया नगर देखने का उत्साह हिलोरें ले रहा था और दूसरी ओर माँ को अकेली छोडकर जाते हुए कलेजा मुँह को आ रहा था। बूढी दादी के लिये तो यह अत्यन्त कठिन परीक्षा की घडी थी। बालूरामजी के प्रवास के समय शिवनारायण ही तो उसके एकाकी जीवन का सहारा था, और वही आज अपने पिता के साथ प्रवास पर जा रहा था। उसने आगे बढ़कर शिवनारायण को अपनी बाँहो मे भर लिया। सिर पर हाथ फेरते हुए उसने अपने पुत्र की निर्विघ्न और मगलमय यात्रा के लिये मन ही मन भगवान से प्रार्थना की। माँ के ममतामय आशीर्वाद से आश्वस्त होकर शिवनारायण ने बड़ी श्रद्धा से माँ के चरण छुए और पिता के साथ विदा हुआ।

बूढी दादी अपने जवान बेटे को पिता के साथ जाते देर तक खडी-खडी देखती रही। वह सोचती रही—शिवनारायण पहली बार कलकत्ता जैसे बडे शहर मे जायेगा, गगा नहाएगा, भूतनाथ और कालीमाई के दर्शन करेगा। अपने पिता के साथ घूम-घूम कर कारबार करते लोगो को देखेगा, कुछ काम की बाते सीखेगा और जब लौट कर वापिस आएगा तो कैसा बदला-बदला-सा लगेगा। एक ही साँस मे बूढी दादी इतना कुछ सोच गई। उसे लगा जैसे वह बहुत थक गई है। धीरे-धीरे वह अपनी खटिया के पास आई और धम से लुढक गई। रात के घिरते अँधेरे ने बूढ़ी दादी की पलको को बड़े स्नेह से सहलाया और सोचते-सोचते वह नीद की गहराइयो मे उतर गई, जहाँ स्वप्नो की भीड मे वह रात भर भटकती रही।

कलकत्ता पहुँचकर शिवनारायण का साक्षात्कार एक नई दुनिया से हुआ। महानगर के विस्तार और फैलाव को खुली आँखो से देखा। गगा मे तैरते वड़े-वड़े जहाज, माल लादते-उतारते कुलियो की भारी भीड और चिल्ल-पों, सडको पर दौड़ लगाती मोटरो, घोडागाडियो और ठेला गाडियो का अटूट सिलसिला। देर रात गए तक गद्दियो के चक्कर लगाते मुनीम–गुमास्तो, दलाल और दरवानो की भीड। वगाली, विहारी, मारवाडी, गुजराती और खत्री आदि विभिन्न भापा और वेशभूपा वाले लोगो का आपस मे मिलजुल कर रहना, और कारोवार करना। शाम के समय विक्टोरिया मैदान मे हाथ-मे-हाथ डाले गोरे मेम साहवो की टहल कदमी। चौरगी के होटलो और क्लबो मे अग्रेज साहवो की अफरा-तफरी। वडे-वडे भवन, लम्वी-लम्वी सड़कें। विजली की रग-विरगी रोशनी मे जगमगाता शहर, शिवनारायण को स्वर्गलोक सा आकर्पक लगा।

वडावाजार मारवाडियो की हलचल का प्रमुख केन्द्र था। हरिसनरोड और मल्लिक स्ट्रीट के मोड पर वने काली गोदाम-भवन मे प्रमुख करोडपति मारवाडी सेठो की गद्दिया थी, जहाँ करोडो रुपयो का कारोवार होता था। अधिकाश मारवाडी अँग्रेजो की वेनियनशिप, व्रोकरी या दलाली मे लगे हुए थे। कुछ मारवाड़ी जूट के वोरे वनाने की फैक्ट्रियाँ खोलकर उद्योग क्षेत्र मे भी प्रवेश कर चुके थे। अफीम चौरास्ते पर अफीम की नीलामी और सौदे होते थे। तीसी के वाडे मे वहुत से मारवाड़ी सौदा-फाटका करने मे लगे रहते।

शिवनारायण के उत्साह की कोई सीमा नही थी। वह सवेरे सूर्योदय से पहले उठ जाता तैयार हो नाश्ता करता और पिता के साथ चलने के लिये तैयार हो जाता। वालूरामजी जव भी वाहर जाते शिवनारायण को अपने साथ ले जाते। वड़ावाजार की गद्दी-दूकानो से लेकर डलहौजी स्क्वायर मे स्थित अग्रेजी कम्पनियो के आफिसो तक वह चक्कर लगाते और अपने जाने-चीन्हे लोगो के साथ शिवनारायण का परिचय करवाते। शिवनारायण जव अकेला होता, तव वह शहर के अनजान इलाको मे घूमने निकल जाता और नये-नये दृश्यो का अवलोकन करता। अपनी प्रथम यात्रा का समय इसी प्रकार घूमते-देखते विता कर साल खत्म होते-होते वह अपने पिता के साथ वापिस राजगढ लौट आया।

कलकत्ता से लौटकर आए शिवनारायण की गिनती अव गाँव के प्रतिष्ठित नागरिको मे होने लगी। अव राजगढ के लोग उसे शिवनारायणजी सरावगी के नाम से पहचानने लगे। पारिवारिक और सार्वजनिक कार्यो मे शिवनारायणजी को सम्मान के साथ याद किया जाता और उनकी सलाह को महत्वपूर्ण समझा जाता। कलकत्ता मे रहकर शिवनारायणजी ने मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, विशुद्धानन्द विद्यालय, कुमारसभा पुस्तकालय आदि संस्थाओ से जुडे प्रतिष्ठित मारवाडियो के कार्यकलापो को वहुत नजदीक से देखा था। तभी से सार्वजनिक सेवा-कार्यो के प्रति उनका रुझान वढने लगा था। विद्यालय, औपधालय, गौशाला, मन्दिर आदि सर्व-जन-हितकारी संस्थानो की गति-विधि मे वे स्वय भाग लेते और अपने साथियो को भी प्रेरित करते। शारीरिक और आत्मिक वल तो उनमे जन्म से ही था, शिक्षा और प्रवास के कारण उन मे वौद्धिक प्रौढता का विकास भी हुआ। उलझे हुए कार्यो को सुलझाने और लोगो के झगडे सलटाने की अद्भुत क्षमता थी उनमें। दोनो पक्षो की वातें सुनकर, स्थिति का ठीक-ठीक विश्लेपण कर वे सही निर्णय पर पहुँच जाते थे। उनके द्वारा दिये गए पच फैसले से प्राय दोनो पक्षो को सतोप हो जाता था। राजगढ मे उस समय अग्रेजी का तार पढ़ने वाले दो ही व्यक्ति थे, एक शिवनारायणजी और दूसरे

उन्ही के साथी हीरालालजी नाहटा। अपने काम चलाऊ अग्रेजी ज्ञान के कारण भी राजगढ़ मे उनकी विशेष पूछ थी।

शिवनारायणजी की मित्रमण्डली मे अनेक लोग थे, जिनके साथ उनकी मित्रता जीवनभर निभती रही। श्री प्रह्लादराय तोला, फूलचन्दजी सरावगी, चौधरी, जयनारायणजी चगोईवाला, अनेचन्दजी मोहता, भीमराजजी पारिख, रिद्धकरणजी सुराणा, मुरलीधरजी सुराणा और कालूराम जी वर्मा आदि उनके प्रमुख सखा और मित्र थे।

प्रतिष्ठित नागरिको की श्रेणी मे पहुँचकर भी उनकी सहज परिहासप्रियता, सरलता, मिलनसारिता और मस्ती मे कोई परिवर्तन नही हुआ। अमीर-गरीब, छोटे-बड़े का भेद-भाव किए विना वे सब के जनम-मरण, विवाह आदि कार्यो में हाथ बँटाते। संकट के समय सबसे आगे रहकर लोगो का उत्साह वढ़ाते। कलकत्ता से मुसाफिरी करके लौटते तो दो-दो वर्ष राजगढ में ही टिके रहते। वूढी दादी और वालूरामजी अपने पुत्र की वढ़ती हुई लोकप्रियता और प्रतिष्ठा से बेहद खुश रहते।

जब तक शिवनारायणजी राजगढ़ में रहते, बाजार मे सौदा-सट्टा करके कुछ न कुछ उपार्जन करते रहते। वाकी समय अपने मित्रो के साथ विताते। ताश-चोपड़ खेलने के शौकीन थे, कभी किसी के बराण्डे मे और कभी किसी चबूतरी या पीपल गट्टे पर चौपड़ या ताश की वाजी लगती, जो दिन ढले तक चलती रहती। खेलने वालो के अतिरिक्त उत्साह बढाने वाले दर्शक भी साथ जुटे रहते। हार-जीत के दाँव-पेंचो के साथ खिलाड़ियों का घटता-वढता जोश-खरोश भी देखते ही वनता। उन दिनो चिलम पीने का प्रचलन था। चिलम का पुराना गुल झाड़कर उनमे नई तम्बाकू लगाना, मूज की गट्टी जलाकर अंगार तैयार करना, साफी सलीके से लपेटना और धीरे से लम्बी फूँक तानकर चिलम को प्रज्वलित करने वाले विशेषज्ञ अलग होते थे। चिलम चेतन होने के वाद वह वड़ी अदा से एक से दूसरे के हाथो मे घूमती रहती और लोग अपने अपने अदाज से दम लगाकर लपट उठाते रहते। शिवनारायणजी भी बीच बीच मे चिलम का सुट्टा लगा लेते। जब नशा गहराने लगता और आँखो के डोरे लाल हो जाते, तो चोपड़ की बाजी भी जमाव पर आ जाती।

कभी कभी पक्की वाजी भी लग जाती। ऐसे मे पुलिस का भय बना रहता था। इन पक्के खिलाड़ियो के अपने खुफिया लोग भी होते थे, जो आसपास की स्थिति पर नजर रखते थे। गाँव मे दूसरे मोहल्लो मे भी इस प्रकार के अड्डे यदा-कदा लगते रहते थे। एक बार चूरू मे चोपड़ की पक्की वाजी लगी हुई थी और शिवनारायणजी भी उसमे दाँव लगा रहे थे। उसी समय किसी ने आकर अपनी कोड भाषा मे वहाँ वैठे एक सेठ से कहा 'घर से भैसा व्याया है।" अर्थात्—पुलिस आने वाली है। इतना सुनना था कि शिवनारायणजी ने चौपड पाँसे समेट कर एक खाली घड़े मे रख लिया और घड़ा सिर पर रखकर कुएँ की ओर चल पड़े। सिपाही उनको रास्ते में मिले, पर घड़े में चोपड़-पाँसे भरे है, यह वात उनकी समझ मे नही आई। शिवनारायणजी वड़ी सफाई से बच गए। इस प्रकार उनमे प्रत्युत्पन्न मति और निर्भीकता कूट-कूट कर भरी थी।

कोई भी त्यौहार या पर्व हो, शिवनारायणजी पूरी उमग से ही उसे मनाते थे। होली के समय तो हफ्तो पहले ही उनपर रंग चढ जाता था। अपने हँसौड स्वभाव के कारण वे सब को गुदगुदाते रहते थे। प्रतिदिन रात के समय चौराहे पर गवैयो, और ढप-बजाने वालों की टोली

सजती। शिवनारायणजी भी बड़ी मस्ती से नाच-गान मे भाग लेते। सारी टोली मे उनके जोरदार ठहाके दूर से ही सुनाई देते थे। होली के अतिम दिनो मे तो वे रग से सरोबोर होकर हुड़दग मचाये रखते।

इतना ही नही, नाटको मे अभिनय करने का भी उन्हे बेहद शौक था। उन दिनो राजगढ़ मे समय-समय पर नाटक खेले जाते थे, जिसमे स्थानीय नागरिक ही भाग लिया करते थे। शिवनारायणजी भी नाटको मे भाग लेते और अपनी मौलिक अभिनयात्मकता से सबको मुग्ध कर देते।

वे जीवट वाले व्यक्ति थे। गजब की ऊर्जा थी उनमे। मीलो पैदल घूम आने पर भी उनको थकावट नही होती थी। मन के खरे और साफ होने के कारण वाणी मे अद्भुत ओज था। उनकी कार्य-क्षमता और बुद्धिमता से प्रभावित होकर तात्कालिक नाजिम ने उन्हे राजगढ़ की नगरपालिका का सदस्य मनोनीत किया। वर्षो वे नगरपालिका के सदस्य बने रहे। अपने लम्बे कार्यकाल मे उन्होने नगरपालिका के माध्यम से नगर-विकास के अनेक महत्वपूर्ण कार्यो का सफलतापूर्वक सम्पादन किया। अपनी रचनात्मक प्रतिभा के कारण उन्होने अनेक जन-हितकारी योजनाओ को जन्म दिया और उनको क्रियान्वित करने मे अपनी सक्रिय भूमिका निभाई। आवश्यकता पडने पर वे सरकारी अफसरो को भी खरी-खोटी सुनाने मे हिचकते नही थे। जन्मजात निर्भीकता और सच्चरित्रता के कारण वे छोटे से बड़े सभी श्रेणी के लोगो मे लोकप्रिय बने रहे। कीमती कपड़े पहनने और ऊपरी ठाट-बाट दिखाने की प्रवृत्ति उनमे बिल्कुल नही थी। खाने पर सदा जोर दिया करते थे। फल और मिठाइया उनका प्रिय भोजन था। समय-समय पर वे अपने मित्रो के सहयोग से सामूहिक भोज या गोठ का आयोजन भी करते थे, जहाँ रुचिप्रद स्वादिष्ट भोजन तैयार किया जाता था।

अपने प्रखर स्वभाव और न्यायप्रियता के कारण शिवनारायणजी राजगढ के शेर कहलाते थे। कहा जाता है कि उनका स्वभाव एक साथ ही वज्र की तरह कठोर और कुसुम की तरह कोमल था। दुराचार, दभ और कपट को वे किसी भी हालत मे बर्दाश्त नही करते थे। दूसरी ओर दुःखी तथा सकट-ग्रस्त लोगो के प्रति उनके हृदय मे अपार करुणा थी। गलती करनेवाले को वे पहले शांति से समझाते थे, इस पर भी कोई बदमाशी पर उतारू होता, तो वे हाथ उठाते भी देर नही लगाते थे। ऐसे ही एक प्रसग का उल्लेख करना यहाँ उचित होगा—

राजगढ़ मे उन दिनो अंध-विश्वास का जोर था। शिक्षा के अभाव मे लोग भूत-प्रेत, डायन-चुडैल, देवी-देवता और मत्र-तत्र आदि मे गहरा विश्वास रखते थे। परिणामस्वरूप अनेक योगी-फक्कड और टोना-टोटका करने वाले, लोगो को तरह-तरह से डरा कर ठगा करते थे। एक विचित्र वेश-भूषा वाला जटाजूटधारी कनफड़ा योगी भी गाँव के एक किनारे धूनी रमा कर रहता था। वह गांजा, भांग, शराब आदि पीकर धुत्त रहता था और आंखे लाल किए तरह-तरह के क्रिया-कलापो से लोगो को डराता रहता था। वह अपनी उम्र हजारो साल बताता था। लोग उसे वचन-सिद्ध योगी मानते थे। वह चाहे जिसको आँख दिखाकर फटकार लगा देता था। भय के मारे सभी उसका हुक्म मानते थे और वह जो चीज मांगता था, दे देते थे। तग आकर कुछ मित्रो ने शिवनारायण जी को बाबा के कारनामे बताकर कुछ उपाय करने का आग्रह किया। शिवनारायणजी उसी समय अपने मित्रो को साथ लेकर बाबा की धूनी पर जा पहुँचे। उन्होने बाबा की आंखो मे आंख डाल कर पूछा—"बाबाजी आपकी उम्र कितनी है?"

बाबा ने आँखें मूँद कर कहा—"सीतली के ब्याह का चावल जीमेड़ा तो मने याद है। (सीता के विवाह के चावल खाये हुए तो मुझे याद है)"

इतना सुनते ही शिवनारायणजी का पारा गरम हो गया। उन्होने तड़ाक से एक थप्पड़ बाबा के मुँह पर जमाते हुए कहा—"झूठ बोलते हो ? जनक के यहाँ चावल परोसने वाला तो मैं ही था। मैंने तो तुमको बिल्कुल नही देखा।"

बाबा को काटो तो खून नही। दूसरा झापड़ पडने से पहले ही उसने हाथ जोड़ कर शिवनारायणजी से क्षमा माँग ली। दूसरे ही दिन बाबा अपना झोली-डडा लेकर किसी दूसरे गाँव की ओर चल दिया।

शिवनारायणजी जब २४ वर्ष के थे, तभी उनको प्रथम पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। नाम रखा राधाकिसन। सम्भव है नानीबाई के हृदय मे राधा-कृष्ण की जुगल जोड़ी के प्रति अपार भक्ति रही हो और उसी का आशीर्वाद समझकर अपने पुत्र का नाम राधाकिसन रख दिया हो। जो भी हो, राधाकिसन के जन्म से पूरे परिवार मे खुशी छा गई। बालूरामजी और बूढी दादी तो पोते का मुँह देखकर अपार आनन्द से भर गए। नानीबाई मे धार्मिक सस्कार प्रबल होने के कारण वह अत्यन्त दयालु, विनम्र और सहनशील थी। अपने पति के प्रखर स्वभाव को वह सहज भाव से ही सह जाती थी। पूजा-पाठ और दान-धर्म मे उसकी विशेष आस्था थी। शिवनारायणजी का मन न होने पर भी वह गुप्त रूप से गरीबो और दीन-दुखियो की सहायता करती रहती थी। अपने जीवनकाल मे उसने अनेक गरीब ब्राह्मण-कन्याओ का विवाह अपने खर्चे से करवाया। नानीबाई बडे परिवार से आई थी और अपने परिवार को भी भरा-पूरा देखने की आकांक्षा रखती थी। भगवान की कृपा से उसने एक-एक कर चार पुत्रो और चार पुत्रियो को जन्म दिया। पुत्र क्रमश.—राधाकिसनजी, बिहारीलालजी, बनारसीलालजी और काशीरामजी हुए तथा पुत्रियाँ—रुकमणीबाई, गोदावरी बाई, बसतीबाई और सरवनी बाई हुई। नानीबाई ने अपनी सभी सतानों को प्यार से पाला और सद्संस्कारो से सँवारा।

शिवनारायणजी अत्यत अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। उनकी इच्छा और अनुमति के बिना परिवार मे कुछ भी नही हो सकता था। सबको पारिवारिक मर्यादा का ध्यान रखकर ही चलना पड़ता था। अनुशासन भग करने वाले और झूठ बोलनेवाले को जोरदार फटकार सुननी पडती थी। गलती स्वीकार कर लेने वाले को माफ कर दिया जाता था। लेकिन की हुई गलती को दुहराना घोर अपराध समझा जाता था। बच्चे शिवनारायणजी के क्रोध का शिकार न बनने पाये इस बात का ध्यान नानीबाई को सदा बना रहता था। वह सदा ढाल बनकर अपनी सतान की सुरक्षा किया करती थी। बच्चो की भूल का जिम्मा वह स्वय अपने ऊपर लेकर शिवनारायणजी को शात कर दिया करती थी। वस्तुतः नानीबाई के चरित्र मे जो पवित्रता और गरिमा थी, उसे शिवनारायणजी भी स्वीकार करके चलते थे।

शिवनारायणजी जब ३२ वर्ष के थे, तभी बालूरामजी का देहांत हो गया। पारिवारिक देखरेख की सम्पूर्ण जिम्मेवारी अब शिवनारायणजी के कधो पर ही आ पडी थी। निरंतर बडे होते जाते परिवार को उन्होने बडी योग्यता से सँभाला और अपनी सतानो के सुव्यवस्थित विकास के लिये जी-तोड कोशिश की। उन्होने अपने चार लडको और चार लड़कियों के भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा और विवाह आदि का दायित्व सफलतापूर्वक पूरा किया। उन्होने अपने पिताश्री के

संघर्षमय जीवन को नजदीक से देखा था। आर्थिक अभाव में गृहस्थ-जीवन के समुचित निर्वाह मे कितनी कठिनाइया उठानी पडती हैं, इस बात का उनको गहरा अनुभव था। अतः पारिवारिक सुख साधनो मे किसी-प्रकार की कमी न रहने पाए, उसके लिए वे सदा सचेष्ट और जागरूक रहे। न केवल पारिवारिक, बल्कि समाज-हित के कार्यों के प्रति भी वे सदा अग्रणी और कर्मशील रहे। अनेक सस्थाओ के प्रमुख के रूप मे उन्होने जीवन-पर्यन्त समाज-सेवा का धर्म निभाया। प्रखर बुद्धि, तात्कालिक सूझ-बूझ निर्भयता एव स्वच्छन्द प्रकृति तथा इन सबसे भी बढकर सहज विनोद-प्रियता आदि विशेषताओ ने उन्हे सर्वजनप्रिय बना दिया। उनका विशाल व्यक्तित्व सम्पूर्ण नगर के साथ एकाकार हो गया था। कोमलता और कठोरता इन दो विपरीत स्वभावो का सामजस्य उनके चरित्र मे और जीवन मे इस प्रकार गुंथ गया था कि नजदीक से जानने वाला व्यक्ति भी एक बार धोखा खा जाता था।

धर्म के प्रति आस्था और श्रद्धा तो उनमे बचपन से ही थी। किन्तु अपनी धर्मपत्नी नानीबाई की दयालुता, दानप्रियता और धर्मपरायणता ने उनकी आस्था को और अधिक गहरा कर दिया। जीवन के संध्याकाल मे एक ही झटके मे उन्होने चिलम पीने, ताश खेलने आदि का परित्याग कर दिया और व्रत-उपासना, तपस्या के प्रति उनका झुकाव निरतर बढता गया। सनातन और जैन धर्म के मिश्रित प्रभाव ने उनकी दृष्टि को अत्यत उदार और समन्वयकारी बना दिया था। वे गरीब और अमीर दोनो के समान भाव से हित-चिंतक और परम मित्र थे। वे एक साथ ही नेता, सेवक और सखा थे।

शिवनारायणजी को कविता करने का भी शौक था। सामयिक विषयो पर राजस्थानी भाषा मे तुकबदिया करने मे उनको सिद्धि प्राप्त थी। इस विशेषता के कारण वे आशु कवि कहे जाते थे। एक बार किसी ने उनके लोहे के काम पर व्यंग करते हुए कहा —

रूइया सुख सोइया, घी विणजे घी खाय,
लोहा लक्कड वेचता, जनम अकारथ जाय।

अर्थात्—रूई का काम करने वाले सुख से बिछौने बिछा कर सोते है, घी का व्यापार करने वालो को घी खाने को मिलता है, परन्तु लोहा-लक्कड वेचने वालो का जीवन तो अकारथ (व्यर्थ) ही चला जाता है।

शिवनारायणजी ने उसी समय तुक मिलाते हुए कहा—

लोहिया सुख सोइया, घी ने गण्डक खाय,
रूई के लागी बासते, तो सिर कूटतो जाय।

अर्थात्—लोहा वेचने वाला सुख की नीद सोता है, क्योकि न तो उसके जलने का डर है, न चुराये जाने का। घी को तो कुत्ते चाट जाते है और रूई मे आग लग जाए तो माथा पीट कर रह जाना पडता है।

इस प्रकार वे नहला पर दहला लगाने वाले हाजिर-जवाब व्यक्ति थे। यही कारण था कि किसी गभीर विषय पर विचार-विमर्श करना होता था तो शिवनारायणजी को याद किया जाता था। आर्थिक सम्पन्नता न होते हुए भी कर्मठता, निर्भीकता, सेवा-परायणता और अपने बलिष्ठ शरीर के कारण सब जगह इनका सम्मान था। साठ वर्ष की उम्र मे इन्होने कारोबार की जिम्मेवारी अपने पुत्रो को सौप दी और स्वय वानप्रस्थ हो गए। अन्तिम दिनो मे इनके रहन-सहन मे

अद्‌भुत परिवर्तन आ गया था। उनका खान-पान एकदम सात्विक और स्वभाव शांत हो गया। निराहार रहकर लम्बी-लम्बी तपस्याएँ करते। सासारिक माया-मोह का त्याग कर आत्म साधना मे अधिक से अधिक समय विताते, सबके लिये कल्याण कामना करते और भक्तिभावना मे डूबे रहते। कई बार आठ-आठ दिन के उपवास भी किए।

शिवनारायणजी के चारो पुत्रो मे श्री बिहारीलालजी अधिक होशियार और समझदार थे। वे अपने पिताश्री की सेवा का पूरा ध्यान रखते थे। व्यवसाय के सिलसिले में प्रायः उनको प्रवास पर जाना पड़ता था। घर वालो को इस बात की विशेष हिदायत थी कि जब भी पिताजी अस्वस्थ हो, उन्हे सूचना दी जाये। पिताजी की रुग्णता का समाचार मिलने पर वे तुरन्त दौड़े आते और सेवा मे लग जाते। सभी भाई-बहनो को भी सूचना देकर बुला लेते। शिवनारायणजी का यह सौभाग्य रहा कि अन्तिम समय मे उनका पूरा परिवार उनकी सेवा मे उपस्थित था।

मृत्यु से पन्द्रह-बीस दिन पूर्व ही वे अस्वस्थ रहने लगे थे। एक दिन जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्म की साध्वीजी महाराज गौरांजी उनको दर्शन देने पधारी। स्थिति की गभीरता को देखते हुए उन्होने शिवनारायणजी से पूछा कि क्या आप का मन सथारा पचकने का है? उस समय तो शिवनारायणजी ने सिर हिलाकर अस्वीकार कर दिया, किन्तु अन्तिम समय जब उनको मृत्यु का आभास होने लगा तो उन्होने परिवारजनों की उपस्थिति मे संथारा स्वीकार कर लिया। सथारा पचकने के सवा तीन घण्टे बाद उन्होने देह-त्याग कर दिया। उनके अतिम आदेश का अनुसरण करते हुए परिवार वालो ने रोना-धोना न करके शांति से भजन-कीर्तन ही किया। कहा जाता है कि गौरांजी महाराज उस समय अपने ठिकाने में ध्यान मग्न बैठी थी कि अचानक उनको आकाश मे तीव्र प्रकाश दिखाई दिया। उन्होने अपनी शिष्याओ से कहा कि लगता है, शिवनारायण जी का महाप्रयाण हो गया है। यह एक दैविक सयोग ही था कि गोरांजी की बात सही निकली।

उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्रो ने बड़ी श्रद्धा से अपने पिताश्री का मृत्यु-संस्कार और क्रिया-कर्म पूर्ण किया। उनके सारे क्रिया-कर्म सनातन विधि के अनुसार ही सम्पन्न किए गए। ब्राह्मण भोजन और दान-पुण्य किया गया। उनकी शव-यात्रा मे नगर के सैकड़ो लोगो ने भाग लिया। नगर के गण्यमान्य नागरिको ने उनको भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। सबकी जबान पर एक ही बात थी—"आज राजगढ का शेर चला गया, उनके जीवन मे शाश्वत सजीदगी थी और मृत्यु मे अध्यात्म की चिर शांति।"

शिवनारायणजी के देहावसान से नानीबाई के हृदय पर गहरा आघात लगा। सहनशीलता और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति नानीबाई ने इस भीषण आघात को बड़े धीरज और शाति से सहा। धर्म-प्राण नानीबाई जीवन के अनेक रंग देख चुकी थी। धार्मिक आचरण और सत्सग के प्रभाव से वह इस रहस्य को समझ चुकी थी कि मनुष्य की देह नश्वर है। एक न एक दिन आत्मा को उसका त्याग करना ही पड़ता है। मृत्यु के हाथो पराजित होना मनुष्य की नियति है। जीवन की सार्थकता उसे सत्कर्मो मे लगा देने मे ही है। इसी सहज ज्ञान के कारण वह कभी अशांत नही हुई। विपरीत परिस्थितियो मे भी उसने सदा साहस और हिम्मत का परिचय ही दिया। निष्कप दीप-शिखा की तरह सदा सजग रहकर वह अपनी संतानो का मार्ग-दर्शन करती रही। सामायिक व्रत उपासना, दान और सेवा-कार्य ही उसकी दिनचर्या बन गई।

नानीवाई मे एक भारतीय आदर्श महिला के सभी गुण विद्यमान थे। वह अत्यंत संवेदनशील, उदार-हृदया और दयालु महिला थी। विना किसी ऊँच-नीच और जात-पाँत का भेद किए सवके काम आना वह अपना परम धर्म समझती थी। अनेक महिलायें उसके पास सहायता मांगने के लिये आती थी और वह किसी को खाली हाथ या निराश नही लौटने देती थी। अपनी सतानों के लिये मगल कामना करते समय वह यही कहा करती थी कि—भगवान सवको इतनी कमाई दे, कि मेरे वांटने से उसमे किसी प्रकार की कमी न आये। यह भी शुभ सयोग ही कहा जायेगा कि जीवन के अन्तिम क्षणो तक वह अवाध रूप से दान-पुण्य करती रही। एक वार किसी आकस्मिक वीमारी के कारण नानीवाई का सारा शरीर फूल गया और वचने की आशा धूमिल हो गई। अस्वस्थता की खवर पाकर मिलने वाली परिवार और पास-पड़ोस की वहन-वेटियो का तांता लग गया। वह सभी से वडे प्रेम से मिलती। किसी को कपडे, किसी को रुपये और किसी को फल-मिठाइया भेंट देकर आशीर्वाद देती। दो हफ्तो तक यही क्रम चलता रहा। धीरे-धीरे सवकी सद्भावना और आशीर्वाद से नानीवाई स्वस्थ हो गई। ऐसी उदारता और दानशीलता के कारण न केवल महिला समाज मे, वल्कि पूरे नगर मे वह "रुपया वांटने वाली सेठानी" के नाम से पहचानी जाती थी। सच तो यह है कि धन के कारण नही, वल्कि एक धनी और समृद्ध मन के कारण ही वह रुपयो वाली सेठानी के रूप मे सम्मानित हुई। वह ऐसी पवित्र आत्मा थी जो सुरसरि के समान सदा सवका हित-साधन ही करती रही।

परमार्थ-साधना मे लगी हुई नानीवाई अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व के प्रति भी सदा सजग रही। उसे अपने वेटे-वेटियो और पोते-पोतियो की सुख-सुविधा का वरावर ध्यान रहता था। प्रत्येक की अभिरुचि के अनुसार खाने को मिल सके, इस वात का ख्याल रखती थी। खाने के समय वह सवको स्वयं अपने हाथ से परोसती और पास वैठकर पंखा झलती रहती थी। घर पर कोई अतिथि आने पर वह प्रेम-पूर्वक सत्कार करती और आग्रह-पूर्वक खाना खिलाती। सवके स्वास्थ्य के वारे मे निगरानी रखती और आवश्यक निर्देश करती रहती। घर की वहू-वेटियो पर तो उसका विशेष स्नेह रहता था। सवको पारिवारिक मर्यादा का पालन करने और धार्मिक आचरण करने का उपदेश देती और उनकी सुविधा-असुविधा का विचार कर कार्यभार सौपती। उसकी मान्यता थी कि वहुएँ घर की लक्ष्मी होती हैं। उनका पूरा आदर-सत्कार रहना चाहिये।

शिवनारायणजी के वाद पूरे परिवार पर नानीवाई का अनुशासन रहा। पर इस अनुशासन के मूल मे किसी प्रकार का भय या दवाव नही था। नानीवाई के सहज स्नेह और प्यार की डोर मे वँध कर ही पूरा परिवार चलता था। छोटे-वड़े सभी ने एक ऐसी अघोपित आचार सहिता को स्वीकार कर लिया था, जिसका नियामक नानीवाई ही थी। परिवार ही क्यो, वह अपने परिचित परिवारो और पास-पडोसियो के सुख-दुख मे भी वडी तत्परता से हाथ वटाती रहती थी। नानीवाई के प्यार का खजाना सवके लिए समानभाव से खुला रहता था। जीवन भर उसने लोगो के आँसू पोछे और खुशियाँ वाँटी। उसके विशाल हृदय की अपार करुणा ने उसके व्यक्तित्व को चलती-फिरती शुभकामना का प्रतीक वना दिया था। अनेक लोग उसके आशीर्वाद को अपनी कार्य-सिद्धि और सफलता का आधार मानकर चलते थे।

शिवनारायणजी की मृत्यु के चौदह वर्ष वाद नानीवाई का देहांत हुआ। मृत्यु पूर्व ध्यान करते करते वह अपनी सुध-वुध खो चुकी थी। वेहोश रहने के कारण विधिवत् सथारा नहीं ले

सकी। पर जिसकी प्रत्येक श्वास और धड़कन धर्म–भावना से प्रेरित रही हो, उसके लिये औप-चारिकता की उपयोगिता भी कहाँ रह जाती है। सवके साथ रहकर भी सवसे अलग अनासक्त रहने वाली नानीवाई सहज भाव से ही चिर शाति की गोद मे सो गई। उस पुण्यात्मा की विदाई पर शोक नही, संकीर्तन ही गूँजता रहा।

नानीवाई का जीवन जितना गौरवशाली रहा, मृत्यु भी उतनी ही महिमामयी रही। जैसे ही लोगो ने सुना कि आज रुपये वाँटने वाली सेठानी नही रही, उसके अतिम–दर्शन के लिये भीड उमड पडी। उसकी शव–यात्रा मे सम्मिलित होने के लिये दूर–दराज के गाँवो से भी सैकड़ो लोग आए। नानीवाई की वैठी वैकुंठी निकाली गई और पूरे नगर मे उसके सम्मान मे शोक प्रकट किया गया। वाजार मे एक भी दुकान उस दिन नही खुली। आवाल-वृद्ध सभी ने यह अनुभव किया, जैसे उनके सिर से करुणा और प्यार का साया उठ गया है।

नानीवाई के पुत्रो ने सनातन विधि से व्राह्मण-भोज, दान-दक्षिणा आदि से विधि-पूर्वक सारे सस्कार सम्पन्न किए। राजगढ़ के अतिरिक्त जहाँ–जहाँ वे रहते थे, वहाँ अलग–अलग भी व्राह्मण–भोज आदि किए गए। नानीवाई का पार्थिव शरीर आज नहीं रहा, पर मानव-जीवन के उच्च आदर्शो के रूप मे वह आज भी सर्वत्र विद्यमान हैं। साधारण परिवार मे जन्म लेनेवाली नानीवाई अपने अनुपम गुणो और त्यागमय जीवन के कारण जनमानस पर अपना असाधारण प्रभाव छोड़ गई। ससार मे ऐसी विभूतियां कम होती हैं, जिन्हे सभी अपना समझते हो। नानी वाई ऐसी ही ममतामयी, करुणामयी, स्नेहमयी, सेवाभावी आदर्श भारतीय नारी थी, जिसने सवको अपना समझा और स्वय भी सवके हृदय मे अपना स्थान वनाने मे सफल रही। परिवार मे वेटे–वेटियाँ, वहुएँ और पोता-पोती सव यही समझते थे कि वह सवसे अधिक उन्हें ही प्यार करती है। शिक्षित न होते हुए भी उच्च-विचार और सद्-सस्कारो के रूप में जो सुधा-निधि अपने परिजनो को सौप गई, वह आज भी पूरे सरावगी घराने को एकात्मकता के सूत्र मे पिरोये हुए है। आज भी इस परिवार मे यह परम्परा जीवित है कि प्रातः उठकर सभी अपनो से वडो को प्रणाम कर आशी-र्वाद लेते हैं। चार भाइयो का भरा-पूरा सयुक्त परिवार अनुशासन की डोर मे वँधा सुखी और समृद्ध जीवन का उपयोग कर रहा है। नानीवाई के पद्-चिन्हो पर चलकर सभी निरतर उन्नति-मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं।

शिवनारायणजी का परिवार

रुकमणीवाई—

शिवनारायणजी की आठ सतानो मे रुकमणीवाई सवसे वड़ी थी। नानीवाई ने उसे वडे लाड–प्यार से घर का कामकाज सिखा कर तैयार किया। जव वह विवाह योग्य हुई, तो शिवनारायणजी ने उसके लिये उपयुक्त वर की तलाश शुरू की। सयोग से उनका ध्यान कानपुर निवासी वसल गोत्रीय जालानो के फर्म रामप्रसाद श्याम सुन्दर की ओर गया। कपडे का कारोवार करने वाले इस जालान परिवार का कानपुर मे काफी सम्मान था। रामप्रसाद सुन्दर व्यक्तित्व वाला होनहार युवक था। दुकान का कारोवार सँभालने के अतिरिक्त वह सामाजिक गति-विधियो मे भी भाग लेता था। घर मे धार्मिक वातावरण होने के कारण वह सुशील और सात्विक वृत्ति वाला कर्मठ युवा था। शिवनारायणजी ने रुकमणीवाई का विवाह रामप्रसाद के साथ कर दिया।

रुकमणीवाई ने भी अपने स्त्रियोचित गुणों से जालान परिवार मे अपना सम्मानजनक स्थान वना लिया। सुखी और शात जीवन व्यतीत करते हुए रुकमणीवाई ने एक पुत्री और तीन पुत्रो को जन्म दिया, जिनके नाम फूल बाई, बद्रीप्रसाद, गणेश प्रसाद व गौरीशंकर हैं। किन्तु सुहाग का लम्बा सुख उसके भाग्य मे वदा नही था। अभी वह छत्तीस वर्ष की ही थी कि रामप्रसादजी अकस्मात् ही चल वसे। रुकमणीबाई ने इस अनभ्र वज्रपात को वड़े धैर्य से सहा और अपनी सतानो को सुयोग्य वनाने मे जुट गई। जव तक वह जीवित रही, उसने जालान परिवार की प्रतिष्ठा पर कभी आँच नही आने दी। इसी वीच वह अपने सवसे छोटे पुत्र गौरीशकर से हाथ धो वैठी।

राधाकिसनजी—

राधाकिसनजी वचपन से ही स्वस्थ और मस्त रहे। प्रथम पुत्र होने के कारण इन्हे माता-पिता और दादा-दादी का भरपूर प्यार मिला। उनकी प्राथमिक शिक्षा राजगढ मे ही हुई। वचपन मे खेलकूद और कसरत का शौक था। युवावस्था आते-आते इनके शारीरिक सौष्ठव मे निखार आ गया। इनका गठीला शरीर और रोवीला व्यक्तित्व देखकर कोई भी इनसे टकराने की हिम्मत नही करता था। ढाई मन की धान की वोरी ये दोनो हाथो से उठाकर ऊपर कर देते थे। चार सूत के लोहे के सरिये को ये अपने हाथ पर इस प्रकार लपेट लेते थे जैसे कोई रेशम की डोर हो। चिंता-फिक्र से दूर अपनी ही धुन मे मस्त रहने वाले राधाकिसनजी कमाई के लिये विशेष कभी दिसावर नही गए। उन दिनो छोटी उम्र मे ही विवाह कर देने का रिवाज था। राधाकिसनजी का विवाह भी तेरह वर्ष की उम्र मे ही वडवा गाँव के उदमीरामजी भाउठडीवाल की पुत्री परमेश्वरी वाई के साथ कर दिया गया। परमेश्वरी वाई धार्मिक सस्कार और सरल स्वभाव वाली पतिव्रता स्त्री रही। सनातनी सस्कारो के कारण वह नियमित रूप से भागवत-गीता का पाठ और व्रत-पूजा आदि किया करती थी। आगे चलकर जैन पद्धति से सामायिक, उपवास तथा खान-पान का सयम आदि भी करती रही। पति को परमेश्वर की तरह सम्मान देने वाली परमेश्वरी वाई ने राधाकिसनजी के परिवार की वडी योग्यता से देखभाल की: राधाकिसनजी राजगढ मे ही हार्डवेयर की दुकान चलाते रहे। उससे और जमीन-जायदाद व खेती-वाडी की देखभाल से जो आमदनी होती, उसी से परिवार का खर्च चलता। दोनो सतोषी स्वभाव के होने के कारण अधिक धन कमाने की लालसा ने उन्हे कभी अशात नही किया। परमेश्वरी देवी के एक-एक कर करीव दस सताने हुईं, किन्तु दैवयोग से एक लडका और एक लडकी को छोड़ कर सभी भगवान की प्यारी हो गई। मार्च १९८२ मे ७५ वर्ष की उम्र मे राधाकिसनजी का देहान्त हो गया। उनकी सन्तानो मे महावीर प्रसाद और पारवती मौजूद है। सरस्वती वाई व श्रीकृष्ण ४५ वर्ष की अवस्था के आसपास चल वसे। आज भी उनका राजगढ मे लोहे का व्यवसाय व काठमाण्डू मे भी दुकान है। यद्यपि विहारीलालजी छोटे थे, परन्तु राधाकिसनजी के परिवार मे विवाह आदि सभी कार्यो मे विहारीलालजी ही आगे रह कर काम किया करते थे। राधाकिसनजी विहारीलालजी का वहुत आदर करते थे। वे भी उनकी सुख-दुख की हर घडी मे सहभागी वनकर रहे। प्रत्येक कार्य मे तन-मन-धन से सहयोग किया करते।

गोदावरी देवी—

गोदावरी बाई वह भाग्यशाली महिला थी, जिसे बचपन मे जितना अधिक लाड-प्यार पीहर मे मिला, उससे कही अधिक सम्मान और सुख अपनी ससुराल मे प्राप्त हुआ। अपने हँसमुख स्वभाव और मधुर व्यवहार के कारण वह सभी को अपना बनाकर रखने मे कुशल थी। उसका विवाह मुजफ्फरपुर के पास बखरा गाँव के निवासी महादेवलालजी पोद्दार (मारवाडी) के साथ हुआ। महादेवलालजी अपने समय के सम्पन्न और सम्मानित व्यक्ति थे। उनके पास खासी अच्छी जमीदारी थी। उनका फलों का बगीचा बहुत प्रसिद्ध था, जिससे काफी आय हो जाया करती थी। कहा जाता है कि उनको केवल नमक बाजार से खरीदना पड़ता था, बाकी सभी जरूरत की चीजे उनके बगीचे मे उपज जाती थी। मुजफ्फरपुर मे उनका कपड़े का व्यवसाय था। प्रतिष्ठित जमीदार होने के कारण उनका रहन-सहन भी ठाटबाट वाला था। गोदावरी बाई ने महादेवलालजी की बड़ी सेवा की। दैवयोग से उनके कोई सतान नही हुई।

बसंती बाई व सरबती बाई—

बसती बाई सुन्दर नाक-नक्श वाली समझदार लड़की थी। माँ-बाप ने बड़े प्यार से उसे पालपोस कर बड़ा किया। जब वह विवाह योग्य हुई, तो कानपुर के चुन्नीलाल नन्दलाल भरतिया परिवार मे उसका सबन्ध कर दिया गया। उसके पति नन्दलालजी बडे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। कानपुर मे उनकी कपड़े की दुकान थी, जिससे अच्छी आमदनी हो जाया करती थी। उन्होने बसती बाई को भरपूर प्यार और सम्मान दिया। किन्तु बसती बाई के भाग्य मे ससुराल का सुख बदा नही था। विवाह को अभी दो साल भी नही हुए थे कि बसती बाई का अचानक स्वर्गवास हो गया। नन्दलालजी इस आकस्मिक वज्रपात से मर्माहत हो गये। शिवनारायणजी ने इस विपत्ति के समय बड़े धीरज और समझदारी से काम लिया। उन्होने नन्दलालजी के जीवन मे आए अभाव की पूर्ति करने के लिये अपनी छोटी लड़की सरबती बाई का विवाह नन्दलालजी के साथ कर दिया। सरबती बाई को पाकर नन्दलालजी को जैसे नया जीवन मिल गया। सरबती बाई ने बडी लगन से अपने पति की देखभाल की। काफी उम्र हो जाने पर उनके एक लडका भी हुआ। जन्माष्टमी की रात को होने के कारण लड़के का नाम रखा श्रीकृष्ण।

बनारसीलालजी—

बनारसीलालजी का जन्म सम्वत् १९३१ की मिगसर सुदी तीज को हुआ। करीब पाँच साल की उम्र मे ही उनको राजगढ के सरकारी स्कूल मे भरती करवा दिया गया। हाई स्कूल तक शिक्षा प्राप्त करके ये अपने पिताश्री के कामो मे हाथ बँटाने लगे। १८ साल के होते-होते इनका विवाह भिवानी के प्रसिद्ध फर्म दुलीचन्द भोलानाथ के परिवार मे मनोहरलालजी उमरिया की लड़की गुलकी देवी के साथ कर दिया गया। मनोहरलालजी पक्के जैनी हैं। खान-पान मे कठोर नियमो का पालन करते है। एक समय भोजन करते हैं। आचरण की पवित्रता का पूरा खयाल रखते हैं। व्यवसाय में भी धार्मिक नियमो का उल्लघन नही करते। आयकर की चोरी को घोर पाप समझते हैं। सामयिक, व्रत-उपासना आदि के माध्यम से आत्मसाधना मे लगे रहते हैं।

गुलकी देवी पर अपने पिता के पवित्र जीवन की गहरी छाप पड़ी है। वह अत्यंत सहनशील, सेवा-परायण और दयालु हैं। पतिसेवा को अपना सबसे बड़ा धर्म समझती हैं। तीर्थ, व्रत, सेवा-पूजा आदि धार्मिक कार्यों मे विश्वास रखने के कारण अत्यत सवेदनशील और भावुक है। बच्चो की देखभाल और घर-गृहस्थी का सारा कार्य वह कुशलता पूर्वक सँभालती है। ऐसी सुयोग्य पत्नी के कारण बनारसीलालजी घर की ओर से प्रायः निश्चिन्त रहते हैं।

प्रारम्भ से ही बनारसीलालजी के सिर पर इनके ज्येष्ठ भ्राता स्व० बिहारीलालजी का वरद-हस्त रहा। सासारिक जिम्मेवारियो से मुक्त रहने के कारण इनकी प्रकृति मे एक प्रकार की निश्चिन्तता और मस्ती का आलम छाया रहा। जैन-धर्म को स्वीकार करने पर भी वैष्णव सस्कार अधिक प्रबल रहे। नियमित रूप से सामायिक करने के साथ-साथ पवित्र धार्मिक स्थलों की यात्रा करने का रुझान भी बना रहा। सन् १९४८ मे ये कलकत्ता आ गये और अपना कारोबार करना प्रारम्भ कर दिया। पहले ये अपने बड़े भ्राता की साझीदारी मे लोहे का कारबार करते रहे और बाद मे कलकत्ता में ही कपड़े की दुकान कर ली। इन्होने बड़ी लगन और परिश्रम-पूर्वक अपने व्यवसाय को जमाया और कपडा बाजार मे अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की।

कपड़े की दुकानदारी होने के कारण बनारसीलालजी को सुबह से शाम तक उसी में व्यस्त रहना पडता। सार्वजनिक कार्यो मे भाग लेने या पर्यटन के लिये समय निकाल पाना उनके लिये कठिन ही था। फिर भी सेवा-भावी सस्थाओ को वे समय-समय पर यथायोग्य आर्थिक अनुदान देते रहते। लड़के जब बडे होकर कारोबार सँभालने के योग्य हो गये, तो उन्होने अपना अधिकांश समय धर्माचरण मे ही लगा दिया। अब इनके सुयोग्य पुत्र कम्प्यूटर व कपड़े का काम करते हैं। बनारसीलालजी प्रातः चार बजे उठकर सामायिक करते, और नियमित रूप से भ्रमण के लिए विक्टोरिया मेमोरियल जाते हैं। तीर्थाटन, व्रत, उपवास, आदि धार्मिक दिनचर्या का पालन करते हुए स्वस्थ और प्रसन्न हैं। इनके चार पुत्र व दो पुत्रियाँ मौजूद हैं, जिनके नाम हैं: बजरग, सुशील, दिलीप, सुरेश तथा गीता एव मधू।

काशीरामजी—

काशीरामजी का जन्म सन् १९२७ मे हुआ। अपने पिता के सबसे छोटे पुत्र होने के कारण इनको माता-पिता के साथ-साथ बडे भाइयो और भाभियो का भी भरपूर प्यार मिला। हाई स्कूल तक की शिक्षा इन्होने राजगढ मे रहकर ही प्राप्त की। सन् १९४५ मे अट्ठारह वर्ष की अवस्था मे इनका विवाह लायकरामजी बडवेवाले की पुत्री कैलाशी देवी के साथ कर दिया गया। बगाल-बिहार मे लायकरामजी का विस्तृत कारोबार है। करस्यांग, सिलीगुडी और पटना मे इनके व्यापारिक प्रतिष्ठान हैं, जहाँ चाय, हार्डवेयर, दवा आदि वस्तुओ का कारोबार चलता है। कैलाशीदेवी अपने पारिवारिक सत्-सस्कार लेकर आई थी। उसने अपनी व्यवहार-कुशलता और विनम्र स्वभाव से शीघ्र ही सबको अपना बना दिया।

काशीरामजी गुवाहाटी व सिलचर मे लोहे का व्यवसाय करते हैं। बाजार मे इनकी अच्छी साख है। अपने क्षेत्र के प्रभावशाली व्यक्ति हैं। सौभाग्य से इनके दस सन्तानें हुई, जिनमे छ लड़के व एक लडकी मौजूद है। सुखी और भरेपूरे परिवार के धनी काशीरामजी की धर्म के प्रति गहरी आस्था है। इनके परिवार मे सालासर-हनुमानजी की विशेष मान्यता है। वर्ष मे

एकबार दर्शन करने अवश्य जाते है। जब जाते है, तो ब्राह्मण-भोजन कराते है। मदिर मे चढ़ावा और दान-दक्षिणा मे हजारो रुपये खर्च करते है। कठोर अनुशासनप्रियता इनका पैतृक गुण है। अपने पिताश्री शिवनारायणजी की तरह ही निर्भीक एव दबग है। इनके जीवन पर अपने बड़े भाई श्री बिहारीलालजी का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्ही के प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रेरणा लेकर ये आगे बढ़े। बिहारीलालजीने इनको भरपूर सहयोग और स्नेह देकर खड़ा किया। उन्होने ही इनकी शिक्षा, विवाह आदि मे मार्गदर्शन किया। व्यवसाय के क्षेत्र मे भी इनका उचित मार्ग-दर्शन किया, जिससे ये अपने पैरो पर खड़े हो सके। इनकी वर्तमान सन्तानो के नाम है, हनुमान, ओम, अजय, अनिल, प्रदीप, प्रवीण तथा उमा।

बिहारीलालजी पूरे परिवार की धुरी बनकर रहे। छोटे-बड़े सभी की आवश्यकताओ की पूर्ति का सदा ध्यान रखते। उन्होने परिवार के सुख-दुःख के साथ अपने आपको एकाकार कर लिया था। बड़ो को कोई असुविधा होती, तो वे विह्वल हो जाते, कोई बीमार पड़ जाता तो उन्हे पीड़ा होने लगती, किसी को कठिनाई होती तो वे सहायता के लिए मचल उठते। कोई निराश होता तो वे पीठ थपथपाकर आशा बँधाते, उलझन के समय मार्ग-दर्शन करते। सब स्वस्थ और प्रसन्न रहे, यही लगन लगी रहती। जिसको उनके जिस रूप की आवश्यकता होती, वे उसे उसी रूप मे सहायता करते। वे सदा समर्थ का सहारा और दुर्बल की ढाल बनकर रहते। सबसे छोटे होने के कारण काशीरामजी पर बिहारीलालजी का विशेष स्नेह रहा। उनके आकर्षक व्यक्तित्व, मिलनसारिता, स्पष्टवादिता, और परोपकारिता आदि का गहरा प्रभाव काशीरामजी के जीवन पर पडा। उनकी स्नेहमयी छत्र-छाया मे रहकर काशीरामजी के हृदय मे धार्मिक सस्कारो का उदय हुआ। आगे चलकर दूर आसाम मे रहने पर भी उनका मन सदा अपने पूज्य भ्राता द्वारा प्राप्त सद्-विचारो मे रमा रहता। यह बिहारीलालजी के तपोनिष्ठ जीवन का प्रभाव ही था कि चारो भाई अलग-अलग स्थानो और अलग-अलग व्यवसाय मे रहते हुए भी परिवार से अलग होने या विधिवत बँटवारा कर लेने का विचार कभी किसी के मन मे नही उठा। बिहारीलालजी ने उन्हे अलग-अलग उँगलियो की दुर्बलता और बँधी मुट्ठी की ताकत का रहस्य भली-भाँति समझा दिया था। काशीरामजी सदा बिहारीलालजी के पद चिन्हो पर चलकर ही सुखी जीवन का उपयोग करते रहे।

बालक बिहारीलाल

१ जुलाई सन् १९१३ संवत् १९७० (आषाढ़ सुदी १२) को राजगढ निवासी श्री शिवनारायणजी सरावगी (जैन) के घर की मेड़ी पर थाल घनघना रहा था। यह शुभ सूचना थी परिवार मे किसी नए प्राणी के मगलमय आगमन की। हर्ष और उल्लास की एक तरग सरावगीजी के आंगन से उठी और आसपास के परिवारो को भी आनन्द-विभोर कर गई। नवजात शिशु का मुँह देखने की उत्सुकता और नानीबाई को बधाई देने के उत्साह से भरी महिलाओ का सरावगीजी के घर पर तांता लग गया। परिजन, प्रियजन हफ्तो तक बधाइयाँ और मिठाइयाँ बाँटते रहे। जच्चा-बच्चा के लिए मगल कामना भरे गीत आँगन मे गूँजते रहे। नानीबाई का हृदय अपार आनन्द के समुद्र मे डूबता-उतराता रहा। पिछले नौ मास से जिस सुकुमार स्वप्न को वह अपनी कोख मे पाल रही थी, वही साकार होकर उसकी गोद मे किलकारियाँ भर रहा था।

सारा दिन वह सुखद शुभकामनाओ से घिरी रहती और रात्रि को निद्रालस पलको मे सुनहरे स्वप्न तैरते रहते। कभी लगता जैसे नीलाकाश मे चमचमाता रुपहला चाँद धीरे से उसकी बाँहो मे उतर आया है। कभी लगता नन्हे-मुन्ने रग-बिरगे सितारे फुदकते-नाचते उसके चारो ओर वर्तुलाकार घूम रहे हैं। कभी भान होता, सुगंधित फूलो की नदी मे सतरण करती हुई वह किसी आनन्द लोक मे प्रवेश कर रही है। मदिर-मधुर रहस्यमयी अनुभूतियो से वह पुलकाकुल हो उठती। वार-वार नवागत का मुख चूमती और छाती से लगा लेती। सरलमना नानीवाई को यह स्पष्ट आभास हो रहा था कि यह वालक वडा होकर सरावगी परिवार का सशक्त प्रहरी और वाहक वनेगा। वह रह रहकर उसे पुचकारती, दुलारती और उसकी आँखो मे झाँककर आने वाले भविष्य को निहारती।

पल–पल वीतते समय जाने कव खिसक गया और शिशु के नामकरण महोत्सव का सुप्रभात आ पहुँचा। यज्ञ-धूम से सुवासित वेदी के पास आसन पर विराजमान ब्राह्मण–देवता ने वालक की गृह-दशा का अवलोकन कर नाम रखा "विहारीलाल"। यह नाम इस वात का सकेत था कि वालक वडा होकर पुरानी लकीर से हटकर कुछ नई लकीरें वनाएगा, नये रास्तो और नई दिशाओ की ओर विहार करेगा।

लीका तो गाडी चले लीका चले कपूत।
इतरा लीका ना चले, सायर, सिह, सपूत।

नानी वाई ने अपने लाडले वेटे को प्यार के पालने मे झुलाया और दूध भरी लोरियाँ सुनाकर पाला। जैसे ही वालक विहारीलाल घुटनो के वल रेंगते-रेगते खडा होने लगा, वैसे ही उसकी वाल-सुलभ क्रीडाओ का वैशिष्ट्य प्रकट होने लगा। दूध पीते-पीते वह आँचल से मुँह निकाल कर माँ के चेहरे की ओर टुकुर-टुकुर ताकता और मुस्कराता रहता। माँ को लगता जैसे वह उसके मन की वात को समझ रहा है। दूसरो की वातो को वह वडी एकाग्रता से सुनता। प्रत्येक वस्तु को छूकर या चख कर वह उसका अर्थ समझने का प्रयास करता। अपने मन का उल्लास और क्षोभ अस्फुट तोतली भाषा, विभिन्न मुद्राओ और सकेतो द्वारा प्रकट करता। "खग समझे खग ही की भाषा" के अनुसार उसके नन्हे मन की पुकार को माँ का ममत्व सहज ही समझ जाता था।

वालक विहारीलाल जव थोडा और वडा हुआ, उसकी चचल क्रीडाओ का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया। अव वह आँगन से रसोई घर और रसोई घर से माँ के कमरे तक दौड लगाता रहता। कभी-कभी मुख्य द्वार की देहरी पर खडा होकर वाहर की दुनिया मे भी ताक-झाँक करता रहता। अपनी भोलीभाली हरकतो और हँसमुख प्रवृत्ति के कारण सभी उसे वडे चाव से गोद मे लेकर खिलाते और प्यार करते। वालूरामजी और शिवनारायणजी को देखते ही वह दौडकर उनकी टाँगो से लिपट जाता और गोद मे लेने के लिए मचल उठता। वे उसे गोद मे लेकर कभी आकाश मे चमकता चाँद दिखाते, कभी उडते हुए पक्षियो को नाम लेकर वुलाते और कभी घर की चीजो से परिचय करवाते। उनकी हर वात को वह खेल समझ कर ही हँसता रहता।

पाँच वर्ष का होते-होते विहारीलाल घर की देहरी लाँघकर गलियो मे उतर आया। अपनी वरावरी के गुड्डे-गुड्डियो से वालको के साथ खेलते हुए उसे अपनी भूख–प्यास का ख्याल

भी नही रहता था। उसे घर मे न देखकर नानीबाई विह्वल हो जाती। वह दौडकर घर के वाहर गली मे खेलते विहारीलालको हाथ पकडकर भीतर खीच लाती। उसे खाना खिलाती और घर से वाहर न जाने की हिदायत करती। उसे हर पल यही डर लगा रहता कि वह कही दौडते-दौडते गिरकर चोट न खा जाये, कोई शैतान वालक उसको पीट न दे। किन्तु नटखट विहारीलाल अपनी हरकतो से वाज नही आता। जिस काम के लिये उसे रोका जाता, उसी को करने के लिये और अधिक मचल उठता।

शिवनारायणजी स्वयं अपने समय के हिसाव से पढे-लिखे प्रवुद्ध व्यक्ति थे। शिक्षा के महत्व को भली-भाँति समझते थे। सात वर्ष की अवस्था मे ही उन्होने विहारीलाल को राजगढ की राजकीय मिडिल-स्कूल में भर्ती करवा दिया। उन दिनों गुरु-शिष्य का सम्वन्ध आजकल की तरह औपचारिक नही होकर अपनत्व और आत्मीयता का होता था। स्कूल-प्रवेश के कुछ ही दिनो मे विहारीलाल अपने गुरुओं और सहपाठियो के साथ घुल-मिल गया। वह ठीक समय पर स्कूल जाता। जो कुछ कक्षा मे पढाया जाता, उसे ध्यान से पढता और घर आकर उसे याद करता। अपने अध्यापको को श्रद्धा-पूर्वक प्रणाम करता, उनकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करता। अनुशासन-प्रियता और गुरु-भक्ति के कारण सभी शिक्षको का विहारीलाल पर विशेप स्नेह रहता था। श्री जिनसेनजी सिहल उन दिनो मिडिल-स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। वे विद्वान् होने के साथ-साथ बडे सवेदनशील व्यक्ति थे। विद्यालय मे सर्वोच्च पद पर रहते हुए भी वे अपने कर्मचारियो के प्रति गहरी आत्मीयता रखते थे। अध्यापन-कार्य को अपना धधा मात्र नही, जीवन का पवित्र उद्देश्य मानते थे। अपने उद्देश्य के प्रति वे पूर्ण रूप से समर्पित थे। प्रत्येक विद्यार्थी पर वे व्यक्तिगत रूप से ध्यान देते और उसे आदर्श विद्यार्थी वनने की प्रेरणा देते। एक होनहार विद्यार्थी होने के नाते विहारीलाल पर उनका विशेप स्नेह रहा। सहृदय जिनसेनजी से जो प्यार और दुलार विहारीलाल को अपने विद्यार्थी काल मे मिला, वह आदर्श गुरु-भक्ति के रूप मे परिणित हो गया। उनके विनम्र व्यवहार, उच्च-चरित्र और आदर्श विचारो की जो छाप विहारीलाल के वाल-मन पर पडी, वह अमिट हो गई। जीवन-पर्यन्त जिनसेनजी के प्रति उसकी भक्ति वनी रही। आगे चलकर व्यावसायिक जीवन मे व्यस्त रहने पर भी, परिवार मे जव कभी खुशी का अवसर आता, वे अपने प्रधानाध्यापक व उनके परिवार के सदस्यो को अवश्य याद करते। जब भी उनसे साक्षात्कार होता, श्रद्धापूर्वक आदर-सत्कार करते।

विहारीलाल के चरित्र-निर्माण मे सवसे प्रभावशाली भूमिका रही विद्यालय के सस्कृत-अध्यापक श्री गगाप्रसादजी पाठक की। मऊ-निवासी श्री गगाप्रसादजी सस्कृत और सस्कृति के विशेपज्ञ थे। धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र आदि विषयो मे उनकी गहरी पैठ थी। वे अपने छात्रो को कितावी पाठ पढ़ाने के साथ-साथ धर्म, नीति और सदाचार की शिक्षा भी देते थे। गभीर से गभीर वातो को भी वे छोटी-छोटी कहानियो के माध्यम से, सरल और सरस भापा मे समझाते थे, जिससे वे सीधी विद्यार्थियो के हृदय मे उतर जाती थी।

प० गगाप्रसादजी विद्या-दान को अपने जीवन का परम धर्म और मिशन समझते थे। वे कहा करते थे—"विद्यालय तो माँ सरस्वती का पावन मदिर है और उसमे पढाने वाला प्रत्येक शिक्षक उसका परम पुजारी। विद्यालय मे पढने वाला प्रत्येक छात्र समाज द्वारा सौपी गई अमूल्य थाती है, जिसको सँभाल कर रखना सारे शिक्षको का दायित्व है। हर विद्यार्थी विकास की

अनन्त सभावनाएँ साथ लेकर विद्यालय मे आता है। उसे सत्-शिक्षा और सुसंस्कार देकर उदात्त जीवन की ओर अग्रसर करना ही गुरु-कार्य है। आज का विद्यार्थी ही कल का राष्ट्र-निर्माता बनता है। अत. प्रशिक्षण-कार्य को मात्र जीविकोपार्जन का साधन मान कर चलना उचित नही है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उत्थान द्वारा मनुष्य को ईश्वरत्व की ओर ले जाने वाला यह गुरु-कर्म है।"

धर्म, सदाचार, राष्ट्र-भक्ति और ईश्वर-प्रेम से सम्बन्धित जिन विचारो की चर्चा वे अपने विद्यार्थियो के सामने करते थे, उन्हे उन्होने अपने आचरण मे भी ढाल लिया था। "सादा जीवन, उच्च विचार" वाला अत्यत सरल और सात्विक जीवन था उनका। स्वाध्याय, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, ध्यान करने वाले तपोनिष्ठ ब्राह्मण थे वे। किसी प्रकार का लालच नही, किसी से ईर्ष्या नही, किसी पर क्रोध नही। सब को समदृष्टि से देखने वाला ऋषिवत् व्यक्तित्व। उनकी स्नेहिल दृष्टि और अमृतमयी वाणी ने छात्रो मे आध्यात्मिक जिज्ञासा जगा दी थी।

बालक बिहारीलाल प० गगाप्रसादजी की प्रत्येक बात को ध्यान से सुनता और उसका अर्थ समझने का प्रयास करता। धर्म और ईश्वर सम्बन्धी चिन्तन ने बिहारीलाल को उम्र की परिपक्वता से पहले ही सयाना बना दिया। एक दिन कक्षा मे गगाप्रसादजी ने बिहारीलाल से पूछा—"बताओ, तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है?" बिहारीलाल ने बडे सहज भाव से उत्तर दिया—"ईश्वर-प्राप्ति।" उत्तर सुनकर प० गगाप्रसादजी अभिभूत हो गए। उन्होने बिहारीलाल की पीठ थपथपाई और सिर पर हाथ रखकर उसके उज्ज्वल और सफल भविष्य-जीवन के लिए प्रभु से प्रार्थना की। छठी कक्षा मे पढने वाले बालक बिहारीलाल को क्या पता था कि प्रश्न के उत्तर मे सहज भाव से कही गई ईश्वर-प्राप्ति की बात ही एक दिन उसके जीवन का रूपान्तरण कर देगी।

बिहारीलाल का विद्यार्थी-जीवन काफी उत्साहजनक रहा। अपनी कक्षा मे पढ़ने वाले विद्यार्थियो मे से कुछ को उसने अपना अतरग मित्र बना लिया था। रामनारायण वर्मा और भेरूँदान खत्री के साथ उसकी खूब पटती थी। तीनो मित्र साथ-साथ पढते और साथ-साथ खेलते थे। कक्षा मे हर बात मे आगे रहते थे। उन दिनो बच्चो को अधिक पढाने का रिवाज नही था। चौथी-पाँचवी कक्षा तक पढकर प्राय. विद्यार्थी स्कूल छोड़ देते थे। ऊपर की कक्षाओ मे इने-गिने छात्र ही दिखाई देते थे। ये तीनो मित्र सभी कक्षाओ मे साथ रहे।

नानकराम शर्मा (पारीक) स्कूल मे चतुर्थ श्रेणी का कर्मचारी था। वह सबको पानी पिलाया करता था। पढा-लिखा न होने पर भी उसमे समझ और शालीनता की कमी न थी। वह अपना कार्य पूरी जिम्मेदारी से करता था। बडो का आदर और छोटो को प्यार करना उसका स्वभाव था। तीनो विद्यार्थियो की मित्रता से वह बहुत प्रभावित था। धीरे-धीरे वह भी इन तीनों के साथ घुलमिल गया। तीनो मित्रो ने भी नानकराम को पूरी हार्दिकता से अपना लिया। चारों मित्र इतने गुणी थे, कि इनका सम्बन्ध प्रगाढ़ से प्रगाढतर होता गया। अपनी कक्षा के अतिरिक्त नीचे की कक्षा मे पढने वाले छात्र रामलाल राजगढिया, बृजलाल, जुगल किशोर आदि के साथ भी बिहारीलाल की गहरी दोस्ती थी। आठ साल के स्कूल-जीवन मे बिहारीलाल ने अपने योग्य शिक्षको और विश्वस्त मित्रो से बहुत कुछ सीखा।

मिडिल पास करने के बाद भेरूँदान तो आगे की पढाई करने के लिए बीकानेर चला गया। वह निरतर उन्नति करते हुए एक दिन सरकारी शिक्षा-विभाग मे सहायक निर्देशक के पद

पर पहुंच गया। विहारीलाल और रामनारायण दोनो "विड़ला कालेज, पिलानी" मे पढने के लिये गए। यह सन् १९२८ की घटना है। राजगढ से बाहर पढने के लिए जाने वाला यह पहला बैच था। यद्यपि शिवनारायणजी की मनस्थिति ऐसी नही थी कि वे अपने बेटे को विडला-कालेज भेज सके। फिर भी उन्होने विहारीलाल को पिलानी जाने की अनुमति दे दी। वे स्वय प्रवुद्ध व्यक्ति थे और शिक्षा के महत्व को भलीभाँति समझते थे। फिर भला बिहारीलाल जैसे मेधावी पुत्र को आगे पढ़ने से कैसे मना कर देते? रामनारायण वर्मा तो बिहारीलाल का पक्का मित्र था ही, वह भी इस महत्वपूर्ण अभियान मे साथ ही रहा।

उन दिनो राजगढ़ से पिलानी जाने का एकमात्र साधन ऊँट की सवारी ही था। दोनो मित्र ऊँट की पीठ पर लदे-लदे ही पिलानी जाते और छुट्टियाँ विताने राजगढ आते। पिलानी-कालेज मे पढते समय दोनों होस्टल के एक ही कमरे मे रहते। प्रत्येक कार्य मे वे सदा साथ ही रहा करते। दोनो ही मेहनती, आज्ञाकारी और प्रतिभा-सम्पन्न थे। व्यवहार-कुशलता और अनुशासन-प्रियता के कारण दोनों ने कालेज मे सम्मान-जनक स्थान वना लिया। पढाई के साथ-साथ कालेज के खेल-कूद और वाद-विवाद प्रतियोगिता मे दोनो वडे उत्साह से भाग लिया करते। फुटवाल, वालीवाल आदि खेलो की अपेक्षा विहारीलाल को हाकी खेलने का विशेप शौक था। उन दिनो क्रिकेट का प्रचलन नही था। शारीरिक क्षमता और साहसिक वृत्ति के कारण विहारीलाल हाकी का कुशल खिलाडी वन गया था।

एक वार एक विचित्र घटना घटी। विहारीलाल होस्टल की मेस मे खाना खाने वैठा था। उसी समय एक विद्यार्थी दौडते हुए मेस मे आया। उसने हांफते हुए विहारीलाल से कहा—"तुम्हारे मित्र रामनारायण को कुछ लडके पीट रहे हैं।" इतना सुनना था कि विहारीलाल ने परोसी हुई थाली वापिस खिसका दी, और अपनी हाकी-स्टिक उठा कर मैदान की ओर दौड पडा। लेकिन वहाँ पहुँचने पर पता चला कि ऐसी कोई वात नही थी। रामनारायण को जव पूरी बात मालूम हुई, तव उसने अपने मित्र को वाँहो मे भर लिया। विहारीलाल की मित्रता की जो छाप उस दिन रामनारायण के हृदय पर पड़ी, उसे वह जीवन भर नही भूल सका।

प्रखर प्रतिभा और चरित्रगत उज्ज्वलता के कारण विहारीलाल विडला कालेज का आदर्श छात्र वनकर रहा। कालेज के वायस-प्रिंसपल श्री सूर्यकरणजी पारीक का तो विहारीलाल पर असीम स्नेह रहा। दो वर्ष पिलानी मे रहकर विहारीलाल अनुभव और विचारो की दृष्टि से परिपक्व हो गया। पारिवारिक सुख-सुविधाओ से दूर, होस्टल मे एकाकी जीवन व्यतीत करते हुए उसने स्वावलम्वन की महत्ता को समझा। अनजानी जगह, अपरिचित लोगो को अपना बना लेने वाली व्यवहार-कुशलता का विकास हुआ। परिस्थितियो के अनुसार निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त हुई। ज्ञान–विज्ञान के विस्तृत आयामो के द्वार खुले। आत्म-विश्वास का उदय हुआ। चरित्र-गत विशेपताओ के प्रस्फुटन और आकलन का सुअवसर प्राप्त हुआ। जीवन को एक नई दृष्टि मिली। वे स्काउटिंग के भी सक्रिय सदस्य वने और अपने गोलमटोल शरीर को वही पर ठीक किया तथा शरीर मे स्फूर्ति और स्पदन की अनुभूति प्राप्त की।

पिलानी मे हाई-स्कूल पास कर विहारीलाल राजगढ लौट आया। दो वर्प के छात्र–जीवन मे विहारीलाल ने विडला-कालेज के अधिकारियो के हृदय मे अपने अच्छे चाल–चलन और प्रतिभा की जो छाप डाल दी थी, उसका लाभ बाद मे पिलानी पढने जाने वाले छात्रो को सदा

मिलता रहा। विहारीलाल सन् १९३० मे अपनी पढाई समाप्त कर राजगढ़ आ गया था। सन् १९३१ मे राजगढ से श्री रामलाल राजगढिया, श्री बृजलाल और जुगल किशोर पिलानी के विडला कालेज मे शिक्षा प्राप्त करने गए। राजगढ़ से जाने वाले छात्रो का यह दूसरा वैच था। सयोगवश जव तक ये छात्र पिलानी पहुँचे, तव तक कालेज मे प्रवेश वन्द हो चुका था। यह जानकर तीनो छात्र वड़े चिंतित हुए। उन्होने कालेज के प्रिंसिपल से मिल कर कालेज मे प्रवेश ले लेने के लिए प्रार्थना की, किन्तु कोई लाभ नही हुआ। तीनो निराश होकर वापिस राजगढ़ लौटने की सोच ही रहे थे, कि उनकी भेट कालेज के वायस-प्रिंसपल श्री सूर्यकरणजी पारीक से हो गई। उन्होने तीनो को आश्वस्त करते हुए कहा कि "दोपहर के समय मैं प्रिंसिपल के कमरे मे वैठता हूँ, उस समय एक बार तुम लोग फिर आना।" उनकी वात से तीनो को कुछ आशा वँधी और वे निर्धारित समय पर प्रिंसिपल के कमरे मे जा घुसे। उनको दुवारा आया देखकर प्रिंसिपल ने उनसे कहा—"कक्षा मे पैंतीस छात्रो की जगह है, और वे सव भर गई है। अव और जगह नही है।" प्रिंसिपल की वात सुनकर सूर्यकरणजी ने उनको याद दिलाते हुए कहा कि पिछले वर्ष अपने कालेज मे राजगढ से जो दो छात्र पढने आये थे, उन्ही मे से विहारीलाल ने इनको यहाँ पढने क लिए भेजा है। विहारीलाल का नाम सुनते ही प्रिंसिपल को सव कुछ स्मरण हो आया, और उन्होने तुरन्त तीनो को कॉलेज मे दाखिल कर लिया। विहारीलाल का ऐसा प्रभाव देखकर तीनो को वडी प्रसन्नता हुई। उन तीनो ने भी अनुशासित जीवन विताते हुए वडी निष्ठापूर्वक अपनी पढाई पूरी की। तीनो ने अच्छे डिवीजन से हाई स्कूल की परीक्षा पास की। इस प्रकार कालेज मे राजगढ़ के आदर्श छात्र विहारीलाल द्वारा जमाई हुई साख को इन्होने जरा भी कम नही होने दिया। वस्तुत: विहारीलाल ने प्रारम्भ से ही अपने जीवन को आदर्शोन्मुख वना लिया था। यही कारण है कि उसका जीवन-स्तर निरतर उच्च से उच्चतर ही होता गया।

नव-जीवन की ओर—

पिलानी से पढ-लिखकर लौटे विहारीलाल ने नव-जीवन मे प्रवेश किया। अव उसकी गिनती नगर के योग्यतम युवा कार्यकर्त्ता के रूप मे होने लगी। शिवनारायणजी ने सामाजिक और सार्वजनिक जीवन मे जो प्रतिष्ठा स्थापित की थी, विहारीलाल को उसका भरपूर लाभ मिला। धीरे-धीरे वह नगर की अनेक सस्थाओ के साथ जुड कर जन-कल्याणकारी गति-विधियो मे सक्रिय रहने लगा। साथ ही उसने अपने पिता द्वारा चलाये जा रहे लोहे के कारोवार मे भी गभीरता-पूर्वक हाथ वटाना शुरू किया। थोडे ही समय मे उसने लोहे के व्यवसाय से सवधित विस्तृत जानकारी प्राप्त कर ली। अपनी शिक्षा-दीक्षा के अनुसार उसने परम्परागत व्यवसाय को और अधिक विस्तृत और सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया।

सुयोग्य और तेजस्वी युवक विहारीलाल के साथ अपनी लडकी का सम्वन्ध लेकर अनेक लोग शिवनारायणजी के पास आने लगे। भिवानी के उमरिया अग्रवाल श्री भोलानाथजी जैन भी आये। उन्होने अपनी सुपुत्री मीरा के साथ विहारीलाल का विवाह कर देने का अनुरोध किया। शिवनारायणजी भोलानाथजी के परिवार से भलीभाँति परिचित थे। भिवानी के अग्रवाल जैन-समाज मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। कपड़े का व्यवसाय करने वाले भोलानाथजी जैन-धर्म के नियमो का कठोरता से पालन करने वाले धार्मिक व्यक्ति थे। परिवार का रहन-सहन, खान-पान

आदि धार्मिक मान्यतानुसार शुद्ध और सात्विक था। अनुशासन और मर्यादा का पालन करनेवाला परिवार शिवनारायणजी को अपने अनुकूल ही लगा। प्रथम दृष्टि मे ही उन्होने मीरा को पसन्द कर लिया और विवाह की वात पक्की कर ली।

विवाह की वात ने विहारीलाल के युवा मन मे एक अजीव तरह की हलचल मचा दी। अपनी होने वाली पत्नी की एक झलक देख लेने के लिए वह व्याकुल हो उठा। कई वार उसकी इच्छा हुई कि वह माँ के सामने अपना मन खोल दे। किन्तु पिताश्री के कठोर अनुशासन के आगे किसी की नही चलेगी, यही सोचकर वह चुप रहा। वह युग ही ऐसा था, जव विवाह से पहले लड़के-लडकी का आपस मे मिलने, देखने या वात करने को पाप समझा जाता था। परिवार के वड़े-वूढे जो सम्वन्ध निश्चित कर देते थे, वही होता था। प्रवुद्ध हृदय विहारीलाल को यह सव अटपटा तो लगा, पर उसे अपने पिताश्री की पसन्द पर पूरा भरोसा था।

विहारीलाल का विवाह पारम्परिक रीति से वडी धूमधाम से किया गया। वारात रेल द्वारा राजगढ़ से भिवानी गई, जिसमे विहारीलाल के मित्र और राजगढ़ के अनेक प्रतिष्ठित नागरिक सम्मिलित हुए। प्रचलित रीति के अनुसार विहारीलाल को वींद (दूल्हा) वनाकर घोडी की सवारी पर वारात और वैण्ड वाजे के साथ ससुराल तक ले जाया गया। वारात मे कागज की वागवाडी, चाँदी के हौदो से सजे ऊँट और घोडे भी सम्मिलित किए गए। रास्ते भर कच्ची घोड़ी का नाच और रंग विरंगी आतिशवाजी होती रही। जव वारात ससुराल की हवेली पर पहुँची तो भोलानाथ के परिवार वालो ने जोरदार स्वागत किया। चार दिनो तक वारात की आवभगत चलती रही। दोनो समधी एक दूसरे की प्रशंसा करते नही अघाए। परस्पर हास-परिहास का आनन्द छाया रहा। विदाई के समय लड़की वालो ने अपने सम्वन्धियो और वारातियो को नियमानुसार भेंट देकर सम्मानित किया। अपनी लाड़ली पुत्री मीरा को विदा करते समय भोलानाथजी की आँखो मे प्रेमाश्रु छलछला आए। परिवार की महिलाएँ और सहेलियाँ वधू को गले से लगाकर उसके अमर सुख-सुहाग की कामना करती रही। वेटी के ससुराल जाने का सुख और परिवार से विछुडने का विषाद, दोनो ने मिलकर ऐसी मन-स्थिति बना दी थी, कि न रोना ही आता था और न खुल कर हँस पाते थे। प्यार और करुणा के अमित प्रवाह मे सभी देर तक डूवते-उतराते रहे।

शिवनारायणजी जव पुत्र-वधू को लेकर राजगढ़ पहुँचे, तो परिवार की सजी-धजी महिलाओ के साथ नानीवाई ने हवेली के मुख्य द्वार पर वहू का भाव-भीना स्वागत किया। विधि-पूर्वक पूजा करवा कर हवेली में प्रवेश करवाया। वहू का चाँद सा मुख देखकर नानीवाई को लगा जैसे साक्षात् लक्ष्मी हवेली मे आई है। परिवार और पास-पडौस की महिलाएँ नव-वधु का मुँह देखकर प्रशंसा करती रही। प्यार और आशीर्वाद से घिरी मीरारानी को पीहर को याद करने का अवकाश ही नही मिला। वह अपने नये ससार से परिचय वढाने और अपने आप को सँभाले रखने मे ही व्यस्त रही। कभी वह घूँघट की आड़ से देवरो की ओर निहारती, कभी अपनी जिठानी और ननदो की वातो को ध्यान से सुनती। विवाह पर आए सगे-सम्वन्धियो की ओर भी वार-वार उसका ध्यान आकर्पित होता रहता। अनजाना परिवार, अपरिचित लोग और ढेर सारा प्यार! मीरा रानी तो चकित रह गई।

शालीन और सुसंस्कृत परिवार से आई सरल-हृदया, मित-भाषी, लाजवती मीरा ने प्रथम साक्षात्कार मे ही विहारीलाल का मन मोह लिया। विहारीलाल को लगा कि उसकी जीवन

सगिनी उसकी कल्पना और आकांक्षा के अनुकूल ही है। उन्हे विश्वास हो गया कि मीरादेवी माता पिता की सेवा और सरावगी घराने के अभ्युत्थान मे उसकी सहगामिनी वन सकेगी। मन की जो सरलता, सेवा-परायणता और मर्यादित-जीवन की गरिमा, मीरादेवी साथ लेकर आई थी, उसे विहारीलाल ने सहज ही समझ लिया। उसने मीरा देवी को भरपूर प्यार दिया।

मीरादेवी अधिक पढ़ी-लिखी तो नही थी, पर समझदार लोगो के वीच पली और वडी हुई थी। यही कारण था कि उसमे आदमी को पहचानने और भले-बुरे, उचित-अनुचित को समझने का सहज ज्ञान था। धीरे-धीरे उसने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव और इच्छा-आकांक्षाओ को भलीभाँति समझ लिया। उसने अपने आचरण को भी पारिवारिक आवश्यकता के अनुसार ढाल लिया। वह सवकी सुविधा का ध्यान रखती और सास-ससुर की सेवा मे लगी रहती। घर के प्रत्येक कार्य को वह पूरी सावधानी और सलीके से पूरा करती। नानीवाई भी मीरा को वड़े लाड़-प्यार से रखती। सयुक्त परिवार की जिम्मेदारियो और सामाजिक रीति-रिवाजो के वारे मे उसको ज्ञान करवाती रहती। थोड़े ही समय मे मीरा के जीवन मे उन सव गुणो का प्रवेश हो गया, जो एक आदर्श गृहिणी के लिये आवश्यक होते हैं। अपने मृदु-व्यवहार, सेवा-परायणता और सरल स्वभाव के कारण परिवार के छोटे-वड़े सभी लोगो के हृदय मे उसने अपने लिए जगह वना ली।

विवाह के वाद विहारीलाल ने अपने पैतृक व्यवसाय की तरफ विशेष ध्यान देना आरम्भ किया। उन्ही दिनो वीकानेर रेलवे की पतली लाइनो को हटाकर कुछ मोटी लाइनें विछाई जा रही थी। रेलवे का अनेक प्रकार का सामान विक रहा था। विहारीलाल ने वह सामान खरीदना प्रारम्भ किया। वह सस्ते दामो मे लोहा खरीदता और अच्छे दामो मे वेच देता। इस व्यवसाय मे विहारीलाल ने अच्छा पैसा कमाया। वाजार मे व्यापारी उसे लोहे के कुशल व्यापारी विहारी-लालजी सरावगी के रूप मे पहचानने लगे। विहारीलालजी मे अव प्रौढ़ता और परिपक्वता आने लगी थी। कारोवार के सिलसिले मे जव भी उन्हे वीकानेर जाना पड़ता था, वे अपने वचपन के साथी और मित्र रामनारायजी वर्मा के यहां ही ठहरते थे। दोनो मे खूव घुटती थी। स्कूल और कॉलेज-जीवन की वातो का स्मरण कर अभिभूत हो जाते थे। रामनारायण के साथ विहारीलालजी की मित्रता इतनी प्रगाढ थी कि दूसरे लोग उन्हे दो शरीर और एक प्राण के रूप मे देखते थे। विहारीलालजी जव तक वीकानेर मे रहते, रामनारायणजी अपना अधिक से अधिक समय उन्ही के साथ व्यतीत करते। वरसाती मौसम मे दोनो मित्र साइकिलो पर घूमने निकल पड़ते। कभी शिववाडी, कभी देवीकुण्ड सागर आदि स्थानो के चक्कर लगाते और प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द उठाते। अपने परम मित्र के साथ रहते हुए विहारीलालजी को व्यावसायिक भाग-दौड़ और उठा पटक से उत्पन्न थकान का कभी भान नही होता था। वे हर समय स्फूर्ति और उत्साह से भरे-भरे रहते।

मित्र वनाना और मित्रता निभाना विहारीलालजी का विशेष गुण था। उनके मित्रो की जो टोली वनी, उसमे वीकानेर के केवलचन्दजी दाधीच, लक्ष्मणगढ के मन्मथनाथ मिश्र, राजगढ के गजानन्दजी शर्मा, चिरजीलालजी शर्मा, रतनलालजी मोहता रामकुमारजी मोहता, हरिरामजी चगोईवाला और रामलालजी राजगढिया आदि कई व्यक्ति थे। विहारीलालजी अन्त तक इन सवके मित्र वने रहे।

रेलवे की खरीद से जो आर्थिक लाभ हुआ, उससे विहारीलालजी की पारिवारिक और सामाजिक प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि हुई। अव उनका दायित्व-वोध भी गहरा होने लगा। अपने माता-पिता और छोटे भाई-वहनों की सुख-सुविधा के प्रति वे अधिक सजग और सचेष्ट रहने लगे। वच्चों की पढ़ाई-लिखाई और विवाह आदि की जिम्मेदारी वे अपने ऊपर ही समझने लगे। विहारीलालजी को व्यवसाय मे मिलने वाली सफलता और निरंतर विकसित होते हुए दायित्व-वोध को देखकर शिवनारायणजी भी पूर्ण संतुष्ट और आश्वस्त रहने लगे।

विहारीलालजी ने जव कर्म-क्षेत्र मे प्रवेश किया, वह राजनैतिक उथल-पुथल और वैज्ञानिक प्रगति का युग था। राजगढ़ अव वैसा ही नही रह गया था, जैसा वालूरामजी के समय था। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे होनेवाली प्रगति ने राजगढ की भी काया-पलट कर दी थी। शहर में कच्चे मकानों और झोपड़ियो की जगह पक्के मकान और शानदार हवेलियाँ उभर आई थी। पक्की सड़कों का जाल विछने लगा था। वाजार मे चहल-पहल और रौनक रहने लगी। वसो और गाड़ियों के आवागमन से यातायात पहले की अपेक्षा अधिक सुलभ हो गया। यातायात की सुविधा के कारण छोटे-छोटे उद्योग-धंधे और रोजगार के साधन विकसित होने लगे। शिक्षा के प्रसार और वड़े शहरों के सम्पर्क ने नागरिकों के रहन-सहन और खान-पान मे भी परिवर्तन ला दिया। शहर मे अनेक डॉक्टर, वकील और मास्टर दिखाई देने लगे। स्त्री-समाज मे भी नई जागृति के संकेत मिलने लगे। पहले की तुलना में अस्पतालों मे चिकित्सा का स्तर सुधर रहा था। राजगढ़ अव सब प्रकार से आधुनिक शहर वन रहा था।

सन् १९३० से १९३३ तक का समय भारतीय स्वाधीनता सग्राम का सर्वाधिक उत्तेजक समय रहा। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक स्वाधीनता के लिए झूमने वाले देश-भक्त, व्रिटिश सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये विद्रोह का झंडा फहराते हुए, वलिपथ पर अग्रसर हो रहे थे। १४ जनवरी १९३२ को गोलमेज सम्मेलन से लौटे महात्मा गांधी को गिरफ्तार कर लिया गया। वम्बई मे राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल भी वन्दी वना कर पिंजड़े मे डाल दिये गये। नेताजी सुभाष वोस को पहले ही पकड़ कर मध्य प्रदेश की सिवनी जेल मे भेज दिया गया था। अग्रेजों का दमन-चक्र पूरे जोर से चल रहा था। समाचारपत्रो मे छपी इन गिरफ्तारियों की खवरों से सारे देश मे वगावत की आग भडक रही थी।

विहारीलालजी का मन होता था कि वे भी हजारो स्वाधीनता सेनानियो की तरह सिर पर कफन वाँध कर स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़ें। परन्तु राजगढ़ वीकानेर स्टेट मे होने के कारण वहाँ किसी प्रकार के राजनैतिक आन्दोलन के लिये अनुकूल स्थिति नही थी। तत्कालीन वीकानेर महाराज गंगासिंहजी ने अपनी स्टेट मे स्वाधीनता-आन्दोलन पर कड़ा प्रतिवन्ध लगा रखा था। उनका आतंक और दवदवा इतना अधिक था कि वीकानेर स्टेट मे रहने वाला कोई नागरिक खद्दर पहनने और गांधी-टोपी लगाते हुए भी डरता था। विहारीलालजी को याद था कि उनके परम आदरणीय गुरु श्री गगाप्रसादजी पाठक को खद्दर धारण करने और गांधी टोपी लगाने के जुर्म मे वीकानेर स्टेट से निष्कासित कर दिया गया था। स्वतत्रता सेनानी श्री वद्रीप्रसादजी सरावगी को राज्य-सरकार द्वारा किए गए अमानुषिक अत्याचार का शिकार हो जाना पड़ा था। इन घटनाओं से विहारीलालजी को यह समझ आ गई थी कि जन-आन्दोलन के अभाव मे व्यक्तिगत विद्रोह कभी सफल नही हो सकता। अतः उन्होने अपनी भावना को आन्दोलनात्मक रूप न

देकर रचनात्मक-पथ की ओर मोड दिया। राजनैतिक गतिविधि मे भाग न लेकर उन्होने अपने आपको अनेक शिक्षण-सस्थाओ के साथ जोड लिया। वही अपने प्रेरक विचारो द्वारा विद्यार्थियो मे प्रखर राष्ट्र-भक्ति और स्वाधीनता-प्रेम का जागरण करते रहे। बिहारीलालजी द्वारा राजनीति मे भाग न लेने का एक दूसरा कारण भी था, शिवनारायणजी के परिवार में चारो भाइयो मे वही सबसे योग्य और विचारवान थे। उन्होने घर की जिम्मेदारियो को कुछ इस प्रकार से स्वीकार कर लिया था कि पूरे परिवार का जीवन-विकास उन्ही पर निर्भर करने लगा था। वे नही चाहते थे कि उनके द्वारा उठाए गए किसी कदम से पूरा परिवार असुविधा और सकट मे फँस जाये।

राजनीति मे प्रत्यक्ष भाग न लेते हुए भी वे राजनीति पर निगाह रखते थे। इसके बारे मे उनका अपना चिन्तन भी था। वे कहा करते थे कि राजनीति एक कठोर कर्म है। उसके प्रत्येक कार्य के पीछे दाव-पेंच रहते हैं। राजनीति मे आज जो मित्र है, वही कल शत्रु बनकर सामने खडा हो जाता है। लचीली होने के कारण इसमे सिद्धान्त की पकड जल्दी ही ढीली पड़ जाती है और आदमी अपने महान् लक्ष्य से इधर-उधर भटक जाता है। तात्कालिक लाभ और प्रभाव की दृष्टि से राजनीति उपयोगी हो सकती है, पर आदर्शोन्मुख जीवन की रचना मे उसकी कोई स्थाई भूमिका नही हो सकती। राजनीति मे कोई काम ईमानदारी और प्रेम से नही होता। उसमे दूसरो की भलाई की जगह अपना लाभ और अपनी विजय ही प्रमुख रहते हैं। मुझ जैसे ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को प्रत्यक्ष राजनीति से सम्बन्ध न रखना ही उचित है।

कर्म को वे मनुष्य के लिए अनिवार्य मानते थे। उनका विचार था कि कोई भी आदमी बडे घर मे जन्म लेने या किसी महान व्यक्ति की सतान होने मात्र से बडा नही समझा जाता। मनुष्य अपने भले-बुरे कर्मो द्वारा अपने भाग्य का निर्माण करता है। इसलिये हमे सदा सत्-कर्म मे प्रवृत्त रहना चाहिए। कर्म करते समय सफलता-असफलता की चिंता नही करनी चाहिए। सफलता आज नही तो कल मिल जाएगी, इस भावना के साथ कर्म मे लगे रहना ही हमारा कर्तव्य है।

सफल व्यवसायी—

ऐसे ही स्पष्ट चितन के कारण वे सदा कर्म मे लगे रहते। पैतृक व्यवसाय के साथ-साथ वे अन्य कर्मो के बारे मे भी जानकारी करते रहते। सन् १९३५ मे जब उन्होने रेलवे का सामान खरीदना आरम्भ किया, उसी समय से लोहे के व्यापारी उन्हे एक जिम्मेदार व्यापारी के रूप मे जानने लगे थे।

सन् १९३७ मे जब सादुलपुर से लुहारू होते हुए रेवाडी तक रेल चालू हुई, तो उन्होने श्री सोहनलालजी तोला के साथ लुहारू मे भी व्यापार आरम्भ कर दिया। सोहनलालजी बिहारी लालजी के साफ-सुथरे व्यवहार और ईमानदारी से बहुत प्रभावित थे। दोनो मे घनिष्ट मित्रता थी। एक दूसरे पर पूरा भरोसा और विश्वास होने के कारण दोनो ने अच्छा पैसा कमाया। व्यापार मे मिली प्रारम्भिक सफलता से बिहारीलालजी का आत्म-विश्वास बढता गया। धीरे-धीरे उन्होंने लोहे के काम के साथ-साथ रूई, ऊन, गल्ला, साबुन आदि के कारोबार मे भी अपने पैर फैलाने शुरू किए। लुहारू के अतिरिक्त उन्होने उकलाना मण्डी, भटिण्डा और हिसार मे भी काम आरम्भ कर दिया।

निहित स्वार्थ वाले लोगो ने बाधा खडी करने का भी प्रयास किया। पर बिहारीलालजी परिस्थितियो के आगे पराजय स्वीकार करने वाले नही थे। उन्होने बडे साहसपूर्वक उस सघर्ष को झेला और सफलता प्राप्त कर ली। प्रेस का काम बहुत सतोषप्रद ढग से चलता रहा। उन्होने हजारो गाँठे अमेरिका को निर्यात की और उसमे अच्छा मुनाफा हुआ। लेकिन यह कार्य अधिक लम्बे समय तक नही चल सका।

फरवरी सन् १९४८ मे लुहारू भारतीय सघ-राज्य मे सम्मिलित हो गया। लुहारू ही पहला मुस्लिम राज्य था, जो भारत के साथ रहा। अधिकाश मुस्लिम स्टेट तो पाकिस्तान मे मर्ज हो चुके थे। सत्ता के इस परिवर्तन के कारण फैक्ट्री को सरकार के द्वारा मिलने वाली सुविधाओ मे बाधा आ पडी। मुस्लिम स्टेट होने के कारण लुहारू के विकास की तरफ भारत सरकार का ध्यान उस समय कम ही रहा। ऐसी स्थिति मे फैक्ट्री चालू रखना सभव नही था। बिहारीलालजी ने पजाब सरकार से कुछ सहायता प्राप्त करने के लिए लिखा-पढी की, किन्तु उसका भी कोई अनुकूल परिणाम नही निकला। अत: बाध्य होकर फैक्ट्री बन्द कर देनी पडी। सन् १९५१ मे बिहारीलालजी फैक्ट्री उठाकर कलकत्ता चले गये और वहीं अपना कारोबार आरम्भ कर दिया।

लुहारू, उकलाना और हिसार-मण्डी मे चाँदमलजी और बिहारीलालजी की साझीदारी मे जो कारोबार हुआ, उन दिनो की याद करते हुए चाँदमलजी अपने सस्मरण मे लिखते है—"बिहारीलालजी उसूलो के पक्के और साहसी व्यक्ति थे। वे कठिन परिस्थिति मे भी हताश नही होते थे। एक समय ऐसा भी आया था, जब लुहारू के अधिकाश व्यापारी हमारे विरोधी हो गए थे, किन्तु उस भीषण स्थिति मे भी बिहारीलालजी बडी बुद्धिमता और सूझ-बूझ से काम चलाते रहे। यद्यपि मैं कभी-कभी निराश भी हो जाता था, पर वे सदा उत्साह बढाते रहते थे। सबसे बडी बात तो यह है कि उस समय उनकी स्वय की स्थिति डावाँडोल होने पर भी वे कभी हताश नही हुए। वे बात के धनी और पकड के मजबूत व्यक्ति थे।"

बिहारीलालजी ने अपने परम्परागत व्यापार से आगे बढ कर उसे नया आयाम और विस्तार दिया। एक कुशल व्यापारी मे जो पडता निकालने और रिस्क उठाने की क्षमता होनी चाहिए, वह उनमे प्रारम्भ से ही परिलक्षित होने लगी थी। लोहे-लक्कड के व्यापार से सर्वथा भिन्न और नवीन क्षेत्रो मे उन्होने साहसिक प्रयोग किए। उकलाना मण्डी और हिसार मे उन्होने गल्ले व रूई का कारोबार किया और लुहारू मे ऊन की फैक्ट्री चलाई। यहाँ तक कि उन्होने साबुन का कारखाना भी सफलतापूर्वक चलाया। सभी कार्य एक दूसरे से सर्वथा भिन्न प्रकृति के थे। प्रत्येक कार्य का अलग क्षेत्र और अलग बाजार रहा। किन्तु यह एक अद्भुत तथ्य है कि उन्होने सभी कार्य एक विशेषज्ञ और कुशल व्यापारी की तरह आत्म-विश्वास पूर्वक किये। व्यापार मे कई बार ऊँच-नीच और विषम स्थितियो का सामना भी करना पडा। कभी आशातीत सफलता मिली, कभी अनपेक्षित असफलता। परन्तु व्यापारिक जगत मे होने वाली उथल-पुथल ने उनके आत्म-विश्वास को कभी कमजोर नही होने दिया। परीक्षा की घडियो मे भी उन्होने अपना मानसिक सतुलन बनाये रखा। सच्चाई, ईमानदारी और प्रखर विवेक के कारण घाटे की स्थिति मे भी अपने साझीदार को उन्होने असन्तुष्ट होने का कभी अवसर नही दिया। नैतिक बल इतना अधिक था कि कोई उनकी ओर अँगुली उठाने का साहस नही करता था। प्रत्येक नये व्यापार को उन्होने नवीन उत्साह, और पहले से अधिक विश्वास के साथ ही आरम्भ किया।

कलकत्ता आकर बिहारीलालजी व्यापार की दुनिया में प्रवेश कर गए। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत व्यापार और उद्योग के क्षेत्र मे तेजी से प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा था। बड़े-बड़े मारवाडी व्यापारियो ने अंग्रेज कपनियो को खरीद लिया था। भारत सरकार की पचवर्षीय योजना प्रकाशित हो चुकी थी। जिन बडे-बडे व्यापारिक घरानो ने स्वाधीनता-सग्राम मे काग्रेस का साथ दिया था, उन्होने सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधाओ का भरपूर उपयोग किया। कई प्रतिष्ठित घराने व्यापार से अपनी पूँजी समेट कर उद्योग–स्थापना मे लगा रहे थे। मारवाडी व्यापारियो ने अग्रेजी तरीके से व्यापार को सगठित करने और चलाने की क्षमता प्राप्त कर ली थी। बंगाल की जूट मिलो, कपडा मिलो और चीनी मिलो पर अधिकांशतः मारवाडी व्यापारियो का आधिपत्य था। आसाम के बड़े-बड़े चाय बगान मारवाडियो ने खरीद लिये थे। कागज-उद्योग में भी मारवाड़ियो का प्रवेश हो चुका था। इसके अतिरिक्त मशीनो के कल-पुर्जे बनाने वाले कारखाने पावरलूमे, होजियरी, आदि छोटे उद्योगो का जाल फैलता जा रहा था। सन् १९५१ से ६४ तक का समय औद्योगिक विकास का समय कहा जा सकता है।

कलकत्ता आने पर बिहारीलालजी को व्यापार और उद्योग के क्षेत्र मे होने वाले परिवर्तन को जानने-समझने का अवसर मिला। बिहारीलालजी ने कलकत्ता को ही अपने कारोबार का मुख्य केन्द्र बना लिया और यही से अन्य प्रान्तो मे भी अपना व्यवसाय फैलाया। कलकत्ता मे बिहारीलालजी ने लोहे का कारोबार आरम्भ किया। उनके छोटे भाई बनारसीलालजी भी काम मे हाथ बँटाते रहे। आगे चलकर बनारसीलालजी ने अलग से कपड़े का व्यवसाय आरम्भ किया। बिलासराय कटरा मे उन्होने अपनी दुकान खोल ली और बाजार मे अच्छी साख जमा ली। बिहारीलालजी ने आसाम मे तिनसुकिया मे भी कारोबार किया। आसाम मे ही गोहाटी मे इनके छोटे भाई काशीरामजी ने लोहे का अच्छा व्यवसाय जमा लिया। अपने छोटे भाइयो के व्यवसाय को जमाने और आगे बढ़ाने मे बिहारीलालजी का पूर्ण सहयोग रहा। अलग-अलग काम करने पर भी सारे भाई बिहारीलालजी के अनुशासन मे ही रहे। इस प्रकार की पारिवारिक एकता के कारण परिवार की प्रतिष्ठा तो बढी ही, प्रचुर धनोपार्जन भी हुआ। बिहारीलालजी के लड़के भी पढाई समाप्त कर कलकत्ता आ गए और अपने पिता के काम मे सहयोग करने लगे।

प्रारम्भ मे कलकत्ता के बड़ाबाजार अचल मे ४ न० नारायण प्रसाद बाबू लेन मे बिहारीलालजी की गद्दी थी, जो आज भी है। यही से वे अपना कारोबार चलाते थे। कलकत्ता आने पर भी अपने बचपन के मित्रो के साथ बिहारीलालजी का आत्मीय सम्बन्ध बना रहा। वे बीच-बीच मे जब भी राजगढ जाते, अपने मित्रो से अवश्य मिलते। उनके परम मित्र भैरूँदानजी खत्री के दो लडके कलकत्ते की प्रसिद्ध फैक्ट्री टैक्समैको में नौकरी करते थे। उन्ही को सभालने के लिए भैरूँदानजी कलकत्ता आए। वे बिहारीलालजी के पास ही ठहरे। भैरूदानजी उस समय तक राजस्थान सरकार के शिक्षा-विभाग मे सहायक निरीक्षक बन चुके थे। शिक्षा के क्षेत्र मे उनका पूरा मान-सम्मान था। इतने बड़े पद पर पहुँच कर भी उनके मन मे किसी प्रकार का घमण्ड या अहकार नही था। वे बडे विनम्र और मिलनसार व्यक्ति थे। बिहारीलालजी के प्रति उनके हृदय मे बडा सम्मान था। जब भी वे कलकत्ता आते, उन्ही के पास ठहरते। दोनो साथ-साथ घूमने जाते। बिहारीलालजी के विस्तृत परिचय और प्रभाव को देखकर उन्हे बडी प्रसन्नता होती। एक दिन बिहारीलालजी का ध्यान उनकी दिनचर्या की तरफ गया। उन्होने देखा की भैरूँदान जी

प्रातःकाल विना पूजा किए या भगवान का नाम लिये ही चाय-नाश्ता कर लेते है। अपने मित्र की यह आदत उन्हे अच्छी नही लगी। दूसरे दिन नाश्ते के समय विहारीलालजी ने भैरूँदानजी को अपने मन की वात वता दी। उन्होने कहा कि—"आचरण की पवित्रता और मन की शांति के लिए ईश्वर का ध्यान करना आवश्यक है। प्रात काल स्नान के पश्चात थोडी देर परमात्मा का ध्यान करके अपना कर्म प्रारम्भ करना चाहिये। इससे दिनभर मन प्रसन्न वना रहता है और आत्मविश्वास मे भी कमी नही आती। परमात्मा को याद करने से मुक्ति या मोक्ष मिले या न मिले, पर आदमी अनायास ही अनेक वुरे कर्मो से वच जाता है। आप जैसे शिक्षित व्यक्ति को नियमित रूप से ध्यान और स्वाध्याय करते रहना उचित ही नही, आवश्यक है।" विहारीलालजी की वातो का भैरूँदान जी के मन पर गहरा असर पड़ा। मित्रता और भाईचारे की भावना से कही गई सीधी-सादी वात मित्र के हृदय मे उतर गई। उसी दिन से उन्होने प्रतिदिन गीता-पाठ और ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया। विहारीलालजी के धार्मिक और सात्विक विचारो का प्रभाव उनके सान्निध्य मे रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर पडता था। व्यापार मे व्यस्त रहते हुए भी वे अपने मित्रो के सुख-दुख मे शरीक होना नहीं भूलते थे। मन-कर्म-वचन की एकता और सामजस्य ही उनके व्यक्तित्व का प्रमुख आकर्षण था।

अपने कारवार का विस्तार करते हुए विहारीलालजी ने महाराष्ट्र मे मेगनीज की खान का काम किया। इसमे राजगढ निवासी फतेहपुरिया-परिवार की साझेदारी थी। खान के काम के साथ ही साथ ये कानपुर मे सी० ओ० डी० के नीलाम का माल खरीद करके कानपुर, दिल्ली और राजगढ के वाजारो मे वेचते थे। खान के काम मे विहारीलालजी को काफी परिश्रम करना पडा। महाराष्ट्र मे मास-मछली का खान-पान होने के कारण कभी-कभी उनको खाना भी हाथ से वनाकर ही खाना पडता था। जी तोड मेहनत करने के वाद भी खान के काम मे कोई संतोषप्रद लाभ नही हो सका। अत' उसे वद कर देना ही उचित समझा। उधर कानपुर मे सी० ओ० डी० के माल की खरीद भी विशेप कारणवश वद कर देनी पडी।

१९५४ मे उन्होने राजगढ-निवासी मित्तल परिवार की साझेदारी मे हिन्दुस्तान सी० पी० यार्ड का माल खरीदना प्रारम्भ किया। यह कार्य लाभदायक रहा। इस कार्य को प्रारम्भ किए अभी दो साल ही हुए थे कि विहारीलालजी के वडे भाई के दामाद सागरमलजी कन्दोई का अकस्मात ही निधन हो गया। पारिवारिक अव्यवस्था के कारण कारवार की देखभाल उचित रीति से नही हो सकी। परिणामस्वरूप घाटे की स्थिति वनते देखकर उसे भी वन्द कर देना पडा। इस प्रकार साझेदारी के कामो मे जी तोड़ मेहनत करने पर भी पूर्ण सफलता प्राप्त नही हो सकी। फिर उन्होने आसाम मे गुवाहाटी और तिनसुखिया मे स्वय का काम कर लिया जो व्यवस्थित रूप से चलता रहा।

१९६८ मे उन्होने मध्यप्रदेश के रायपुर मे खरीद-विक्री का काम किया, जिसमे काफी रुपया कमाया। सन् १९७९ मे उन्होने विलासपुर मे प्रथम रोलिंग मिल की खरीद की। इस मिल से उनको प्रचुर लाभ हुआ। उसके तीन साल वाद सन् १९८२ मे उन्होने रायपुर मे भी एक रोलिंग मिल विठा ली। इससे भी उनको लाभ ही हुआ। विहारीलालजी के लड़को ने इन मिलो का वड़े सुचारुरूप से संचालन किया। इस सफलता ने उनके उत्साह मे वृद्धि की और सन् १९८४ मे उन्होने रायपुर और विलासपुर मे एक-एक नई रोलिंग मिल और आरम्भ कर दी। चारो रोलिंग मिलो को आज भी उनके सुपुत्र सफलतापूर्वक चला रहे हैं।

सन् १९८२ मे उन्होने वंगलोर मे रोटो ग्रेवियर फैक्ट्री और पैकेजिग यूनिट का नया काम खोला। वंगलोर में ही उन्होंने कन्स्ट्रक्सन का काम भी चालू किया। इस प्रकार पारिवारिक आवश्यकता के अनुसार वे अपने कारवार का निरतर विस्तार करते रहे। उनके पाँचो पुत्रो ने भी अपने पिताश्री के द्वारा प्रारम्भ किए गए व्यापारिक प्रतिष्ठानो की देखभाल वडी योग्यता, सूझबूझ और निष्ठा-पूर्वक की।

कानपुर का काम इनका सवसे वड़ा लड़का तोलाराम सभालता था। दुर्भाग्यवश ४५ वर्ष की उम्र मे ही उसका देहान्त हो गया। विलासपुर और रायपुर के काम की देखभाल राजेन्द्र कुमार और सांवरमल करते है। वंगलौर का काम मुरारीलाल देखता है। कलकत्ता के हेड आफिस से ट्रेडिंग तथा एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट का काम होता है, जिसकी देखभाल वड़ा लड़का जगदीश प्रसाद करता हैं। वैसे सारे कार्यो का संचालन कलकत्ता से ही होता है। जगदीश प्रसाद सबसे वडा होने के कारण व्यापारिक और पारिवारिक सभी कार्यो को सभालने का दायित्व उसी पर रहता है।

वैवाहिक सम्बन्ध

विहारीलालजी ने अपनी सतानो के वैवाहिक सम्वन्ध प्रतिष्ठित व्यापारिक परिवारो मे ही किए। इनके पांच पुत्र और दो लड़कियो मे तोलाराम सवसे वडा था। अत्यन्त परिश्रमशील सेवा-भावी और शालीन होने के कारण उसका सभी सम्मान करते थे। वह माता-पिता के प्रति श्रद्धा और भाई-वहनो के प्रति अपार स्नेह रखता था। कर्तव्यपरायण और होनहार युवक था। तोलाराम का विवाह१३ दिसम्बर १९५८ मे भगवतीप्रसादजी सिघानियां की सुपुत्री उर्मिला के साथ कलकत्ता मे ही सम्पन्न हुआ। सिघानियाजी राजस्थान मे रतनगढ के निवासी है। कलकत्ता मे इनका शेयरो का कारवार है। वाजार मे अच्छी प्रतिष्ठा है। उर्मिला को उन्होने मैट्रिक तक पढ़ाया और घरेलू कामो की अच्छी शिक्षा दी। समझदार होने के कारण वह शीघ्र ही विहारी-लालजी के परिवार के साथ घुल-मिल गई। उर्मिला ने दो पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया जिनके नाम—सुरेन्द्र, रवीन्द्र और शीला हैं। ४५ वर्ष की उम्र मे ही तोलाराम का स्वर्गवास हो गया।

दूसरा लड़का जगदीश प्रसाद पिता की तरह ही सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक सस्थाओ मे रुचि रखनेवाला प्रभावशाली युवक है। कलकत्ता और राजगढ की अनेक सार्वजनिक सस्थाओ से जुडा रहकर सेवा-रत है। व्यापारिक सूझ-बूझ, मिलनसारिता और त्याग-भावना के कारण युवावर्ग मे विशेष प्रिय है। विहारीलालजी के वाद जगदीश प्रसाद ही पूरे परिवार की वागडोर थामे हुए हैं। चारो भाइयो के अलग-अलग कारवार होते हुए भी सारा व्यापार इसी के निर्देशन और मार्ग-दर्शन से सचालित होता है। आराम-बीमार, शादी-विवाह, लेन-देन, रीति-रिवाज आदि सभी पारिवारिक कार्यो का दायित्व इसी के कन्धो पर है। अपने स्वर्गवासी पिता के अनेक गुण ज्यो के त्यो इसके जीवन मे परिलक्षित होते है। सारे भाइयो और उनके परिवार के प्रति समान स्नेह और प्यार का वर्ताव रखने के कारण सभी इसके अनुशासन की डोर मे वँधे हुए अपना-अपना कर्तव्य करते हैं। अखिल भारतीय मारवाड़ी-सम्मेलन, लायन्स-क्लव, विकास आदि सस्थाओ मे सक्रिय भाग लेने के कारण कलकत्ते के सार्वजनिक जीवन मे इसकी अपनी अलग

पहचान और नाम है। विहारीलालजी की तरह ही जैन श्वेताम्वर तेरापथी धर्म संघ के प्रति पूर्ण आस्था और श्रद्धा रखता है। जगदीश प्रसाद का विवाह २३ नवम्वर १९६१ मे लक्ष्मीनारायणजी ढढारिया की पुत्री विमलादेवी के साथ वादा मे हुआ। ढढारियाजी मूलत: राजस्थान मे झुझनू के रहने वाले है। वादा मे इनका अच्छा व्यवसाय है। पेट्रोल, केरोसन और सीमेट की एजेसी है। समाज मे सम्मान और प्रतिष्ठा है। पूरा परिवार सनातन संस्कारो से ओत-प्रोत है। इन्होने अपनी पुत्री विमला को इण्टर तक पढाया और घर के कामो मे निपुण बनाकर विवाह किया। यह अत्यन्त विनम्र, सेवाभावी और मिलनसार है। सनातनी परिवार की होते हुए भी इसने अपने आप को सरावगी परिवार के साथ एकाकार कर लिया। शालीनता और सवेदनशील स्वभाव के कारण पूरे परिवार के लोग इसका आदर और सम्मान करते है। भारतीय आदर्श गृहिणी महिला के सभी गुण—धैर्य, निर्भीकता, सहनशीलता, विनम्रता, सेवाभावना आतिथ्य-सत्कार आदि के कारण इसका व्यक्तित्व सहज, आकर्षक और प्रभावशाली है। सनातन धर्म के साथ-साथ जैन धर्म के प्रति भी पूर्ण निष्ठा रखती है। पूरे परिवार की देखभाल का दायित्व प्राय इसे ही वहन करना पडता है। दो पुत्र और एक पुत्री हैं, जिनके नाम—कमलेश, जीतेन्द्र और नीलिमा है।

तृतीय पुत्र मुरारीलाल कुशाग्र-बुद्धि व होनहार युवक है। अनुशासन और मर्यादा का पालन करते हुए इसने अपने पिताश्री और बडे भाइयो से बहुत कुछ सीखा और ग्रहण किया है। कलकत्ता की प्रसिद्ध फर्म "माधव एण्ड कम्पनी" के मालिक श्री हरिराम जी झुनझुनवाला की पुत्री अचला के साथ इसका विवाह दिसम्बर सन् १९६५ मे कलकत्ता मे ही सम्पन्न हुआ। झुनझुन-वालाजी सामाजिक रुचि वाले सेवाभावी व्यक्ति है। कलकत्ता मे इनकी एलोम्यूनियम की फैक्ट्री और शो-रूम है। शिक्षा-प्रेमी और सुरुचि-सम्पन्न होने के कारण इन्होने अपनी पुत्री को वी० ए० तक पढाया। अचला को घर के कामो के साथ-साथ अध्ययन और लेखन मे विशेप रुचि है। आजकल के फैशन-परस्त जीवन के विपरीत विदुषी अचला ने सात्विकता और शालीनता द्वारा ही छोटे-बडे सभी के हृदय मे अपने लिये स्थान बनाया है। घर के प्रत्येक कार्य को अपने हाथ से और सलीके से करने मे ही विश्वास रखती है। भावुकता, लज्जाशीलता और कलात्मक अभिरुचि के कारण महिला-समाज मे इसका विशेप आदर और सम्मान है। धार्मिक ग्रन्थो के अतिरिक्त महिलाओ से सवधित पत्रिकाओ को पढने मे विशेप रुचि लेती हैं। एक पुत्र और एक पुत्री विनय एव निधि है।

चतुर्थ पुत्र राजेन्द्रकुमार आकर्पक व्यक्तित्व का धनी, प्रतिभा सम्पन्न और कर्मठ युवा हैं। करीने का रहन-सहन और सटीक बात करने का अन्दाज इसकी मौलिकता है। राजेन्द्र का विवाह ९ जुलाई सन् १९७० मे स्व० श्री श्रीकिशनजी चोखानी की पुत्री व स्व० श्री रामदेवजी चोखानी की पौत्री अजुला के साथ हुआ। श्री रामदेवजी चोखानी अपने समय मे केवल कलकत्ता के ही नही, पूरे मारवाडी समाज के गौरव थे। देश, समाज और साहित्य-सेवा के लिए समर्पित चोखानी जी की चहुमुखी सेवाओ का एक लम्बा इतिहास रहा है, जिसपर मारवाडी समाज को गर्व है। अजुला ने वी० ए० पास करने के अतिरिक्त अपने दादाजी के विपुल साहित्य-भण्डार से भी विविध विपयो का ज्ञान अर्जित किया। गहरी समझ और उच्च सस्कारो के कारण अजुला ने शीघ्र ही अपने आपको सरावगी परिवार के साथ समरस कर लिया। उसको कभी कुछ कहने-सिखाने की

आवश्यकता नहीं हुई। देख-देख कर ही वह सब कुछ समझ लेती थी। बिहारीलालजी का अजुला पर कुछ विशेष ही स्नेह रहा। दुर्भाग्यवश छोटी उम्र मे ही अजुला का देहान्त सड़क-दुर्घटना में हो गया। वह अपने पीछे तीन पुत्रियो को छोड गई जिनके नाम—श्वेता, नूपुर और श्रद्धा हैं।

बिहारीलालजी का कनिष्ठ पुत्र सांवरमल बुद्धिमान, मित-भाषी और सूझबूझ वाला युवा है। अपनी सीमाओ और क्षमताओ को समझकर कदम बढाने वाला, दायित्व के प्रति सजग और मिलनसार है। सांवरमल का विवाह सन् १९७३ मे श्री ओकारमलजी झुनझुनवाला की पुत्री प्रमिला के साथ हुआ। ओकारमलजी मूलतः राजस्थान के मलसीसर गांव के रहने वाले है। कलकत्ता मे इनका स्टील और आयरन की सप्लाई का धधा तथा एक रोलिंग मिल है। जयपुर मे भी लोहे की फैक्ट्री है। अपने समाज मे इनकी प्रचुर प्रतिष्ठा हैं। घर मे धार्मिक वातावरण रहने के कारण प्रमिला को पवित्र विचार और सु-संस्कार विरासत के रूप मे मिले। ससुराल मे आने पर उसे जैन धर्म के बारे मे भी बहुत कुछ जानने का अवसर मिला। छोटी होने के कारण सास और जिठानियो का भरपूर प्यार भी इसे ही मिलता है। एक पुत्र और एक पुत्री है, जिनके नाम—श्रेयान्स और स्वाति है।

बिहारीलाल जी के दो पुत्रियां है, जिनके नाम गायत्री और इन्द्रकुमारी है। दोनो पुत्रियो को इन्होने अच्छी शिक्षा और धार्मिक-सस्कार देकर पाला-पोसा। सामाजिक सम्बन्धो, रीति-रिवाजो और घरेलू काम-काज के सम्बन्ध मे पूरा ज्ञान करवा कर तैयार किया। दोनो के सम्बन्ध भी प्रतिष्ठित व्यापारी परिवारो मे किए, जिससे वे सुखी और सम्मान-जनक जीवन बिता सके। गायत्री का सम्बन्ध उन्होने कानपुर के प्रसिद्ध फर्म "पन्नालाल बाबूलाल" के परिवार मे स्व० कैलाशनाथ जी के सुपुत्र सुरेन्द्रकुमार के साथ सन् १९७३ मे किया। कानपुर मे इनका एलोम्यूनियम का काम, जनरल स्टोर तथा शो-रूम है। पूरे अग्रवाल समाज और व्यापारी वर्ग मे इनका सम्मान है।

दूसरी पुत्री इन्दुकुमारी का विवाह सन् १९८४ मे प्रसिद्ध फर्म "लच्छीराम बसन्तराम" के परिवार मे स्व० श्री सागरमलजी के पौत्र और स्व० श्री रामगोपालजी नाथानी, दूधवेवाला के पुत्र दीपक कुमार के साथ हुआ। नाथानाजी के प्रोपर्टी, सप्लाई और आयात-निर्यात का बडा काम है। लोहे को प्रोसेसिंग करने की फैक्ट्री है। इसके अतिरिक्त भाड़े की लाखो रुपयो की आमदनी है। भरा-पूरा सम्पन्न और प्रतिष्ठित परिवार है। स्वभाव से विनम्र और मिलनसार है। इन्दुकुमारी का अपनी ससुराल मे पूरा सम्मान है। वह सुखी और प्रसन्न है।

इस प्रकार बिहारीलालजी अपने पारिवारिक दायित्व के प्रति सदा सजग और सावधान रहे। उन्होने अपनी सन्तानों को सुयोग्य बना कर उनके जीवन-विकास के लिये ऐसी व्यूह-रचना की, जिससे सभी सम्पन्न और सम्मानित जीवन बिताते हुए पारिवारिक प्रतिष्ठा को उज्ज्वल से उज्ज्वलतर बनाते रहे।

सेवा-कार्यो में सहयोग

बिहारीलालजी ने अपने व्यवसाय-प्रसार के माध्यम से प्रचुर धन कमाया। सामाजिक प्रतिष्ठा और पारिवारिक जीवन-निर्वाह के लिए वे धन की महत्ता को स्वीकार करते थे। सन्यासी

जीवन विताने वालो के लिए गरीबी किसी सीमा तक उचित हो सकती है, परन्तु गृहस्थ जीवन मे रहने वालो के लिए तो गरीबी घोर अभिशाप ही कही जायेगी—ऐसा उनका विचार था। कविवर दिनकर ने अपनी डायरी मे लिखा है—"धन मनुष्य को दूषित बनाता है, भ्रष्ट करता है, किन्तु गरीवी तो आदमी को नीचे गिराती है। गरीबी मनुष्य की आत्मा को तोड़ देती है। उसकी इज्जत छीन लेती है और अन्त मे उसे मार डालती है।"

अत उन्होने अपने अध्यवसाय और पुरुषार्थ से निरन्तर धनोपार्जन किया। किन्तु धन के उपयोग के सम्बन्ध मे उनके विचार वैयक्तिक सकीर्ण-भावना से ग्रसित न होकर, सर्वहितकारी उदार भावना से प्रेरित थे, यही कारण था कि उन्होने अपने उपार्जित धन को जन-हितकारी कार्यो मे भी खर्च किया। वे राजगढ की अनेक सेवा-भावी सस्थाओ से जुडे रहे और उनके द्वारा सचालित योजनाओ मे तन-मन-धन से सहयोग करते रहे।

राजगढ के सर्वागीण विकास मे सबसे प्रभावी भूमिका "श्री सर्वहितकारिणी सभा" की रही है। २९ फरवरी सन् १९२० को इस सभा की स्थापना के साथ ही राजगढ के इतिहास मे एक क्रान्तिकारी अध्याय का प्रारम्भ हुआ। अठारहवी शताब्दि के मध्य मे धर्म, साहित्य और चिन्तन के क्षेत्र मे पुनर्जागरण की जो प्रकिया प्रारम्भ हुई थी, उससे उन्नीसवी सदी के अन्त तक भारतीय जीवन मे कई क्रान्तिकारी परिणाम घटित हुए। स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द आदि युग-पुरुषो की ओजस्वी वाणी और प्रखर विचारो ने व्यक्तिपरक जडता को तोडकर उसे सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना मे रूपान्तरित कर दिया। आर्यसमाज, ब्राह्म-समाज, रामकृष्ण मिशन जैसी सस्थाओ के द्वारा प्रचारित एकता, सहिष्णुता, समाज-सेवा, अनुशासन, देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय विचारो से अनुप्राणित होकर देश के कोने-कोने मे अनेक सेवा-भावी सस्थाओ का उदय हुआ। श्री सर्व हितकारिणी सभा भी उसी शृ खला की एक सुदृढ कड़ी है। जन्म काल से लेकर आजतक इस सस्था का एक शानदार इतिहास रहा है। इस इतिहास के साथ जुड़े हुए है—टीकमाणी, मोहता, लोहारीवाला, फतेहपुरिया, सरावगी, मरोदिया, वैद्य और दाधीच परिवारो के अनेक उदारचेता, सेवाभावी श्रेष्ठ पुरुषो के नाम। विहारीलालजी के परिवार वालो ने भी इस सस्था को अपने खून-पसीने से सीचा है। सन् १९७१ से ही विहारीलालजी सभा की गतिविधियों मे भाग लेने लगे थे। अपने जीवनकाल मे उन्होने सभा के माध्यम से अनेक जन-हितकारी कार्यों का सम्पादन किया।

सर्व हितकारी सभा के सस्थापक के रूप में किसी व्यक्ति विशेष का नाम लेना उचित नही है। कोई भी सार्वजनिक सस्थान अपने समय की परिस्थितियो, भावनाओ, विचारो और आवश्यकताओ की उपज होता है। इसके निर्माण मे अनेक सामाजिक प्रतिमानो और चेतनाओ का सयुक्त प्रयास रहता है। विना किसी भेद-भाव के नगर के प्रतिभावान, कर्मठ कार्यकर्त्ताओ का सहयोग लेकर इस सस्था ने सेवा, शिक्षा और नगर विकास के त्रिविध उद्देश्यो की पूर्ति का सतत् प्रयास किया है। सभा के ऊपर उठते कीर्ति-कलशो की नीव मे विहारीलालजी भी एक आधारभूत ई ट वनकर जुडे हुए हैं।

सन् १९७२ मे सावनी फसल बुरी तरह असफल रही। परिणामस्वरूप गरीव लोग भूखो मरने लगे। नवयुवक-सेवादल, रामवास, के कार्यकर्त्ताओ ने कुछ दिन राहत कार्य किया, पर यह उनके सामर्थ्य के वाहर की वात थी। उन्होने चांदमलजी अग्रवाल को सहायता के लिए अनुरोध

किया। राहत कार्य के लिए धन इकट्ठा करने के उद्देश्य से कलकत्ता चले आए। बिहारीलालजी चाँदमलजी के परम मित्र थे। उन्होने तुरन्त इकत्तीस सौ रुपये अपने पास से दिए और चाँदमलजी को साथ लेकर चन्दा इकट्ठा किया। दस हजार रुपए इकट्ठा करके उन्होने राजगढ के श्री परमेश्वरी प्रसाद वैद्य को भेज दिये। साथ ही यह सदेश भी भेज दिया कि "किसी योग्य सस्था के माध्यम से राहत-कार्य जारी रखा जाये। इसके लिए धन की कमी नही रहने दी जाएगी।" उनके सदेश के अनुसार वैद्यजी ने सर्व हितकारिणी सभा के अन्तर्गत पन्द्रह आदमियो की "अकाल-राहत समिति" का गठन कर दिया और विधिवत् कार्य चलाते रहे। इस सारे कार्य के लिए कलकत्ता मे चन्दा जुटाने के लिए बिहारीलालजी ने रात-दिन एक कर दिया। स्वय चाँदमलजी का कहना था कि इस महत्वपूर्ण अभियान की सारी सफलता का श्रेय बिहारीलालजी को ही जाता है। उनके अथक परिश्रम और सहयोग के अभाव मे चन्दा इकट्ठा कर पाना कठिन ही था।

बिहारीलालजी की खूबी यह थी, कि वे जिस काम को हाथ मे लेते थे, उसको पूरी निष्ठा से ही किया करते थे। कार्य को पूरा किये बिना उन्हे चैन नही मिलता था। वे पहले अपना अनुदान घोषित करते थे और फिर दूसरो को आग्रह करते थे। उनके त्याग और निःस्वार्थ भावना का ही यह प्रभाव था कि जब झोली फैलाते थे, तो कोई उन्हें निराश नही लौटाता था।

सर्व हितकारिणी सभा का कार्य क्षेत्र बहुत व्यापक रहा। सब को साथ लेकर, सबके सहयोग से, सबके हित में कार्य करना, यही इसका प्रमुख उद्देश्य है। राजगढ के सैकड़ो कर्मठ कार्यकर्त्ताओ के सहयोग से यह सस्था विपतग्रस्त परिवारो को राहत पहुँचाने का पुण्य-कार्य निरतर करती आ रही है। अनावृष्टि हो या अतिवृष्टि, बाढ़ आए चाहे सूखा पड़े हर संकट की घडियो मे इसके कार्यकर्त्ता आगे बढकर सेवा कार्य मे जुट जाते है। कही आग लगे, या महामारी फैले, दुर्घटना-ग्रस्त लोगो तक राहत सामग्री पहुँचाना, विस्थापित लोगो के लिए पुनर्वास की व्यवस्था करना और रोगियो को चिकित्सा उपलब्ध करवाना आदि सेवा-कार्यो का एक लम्बा इतिहास रहा है। अनेको बार अकाल के समय चारे के अभाव मे मरते गोवश की रक्षा के लिए कैम्प लगाए गए। गरीबी और भुखमरी की चपेट मे आए परिवारो को आर्थिक सहायता देकर उन्हे रोटी-रोजी उपलब्ध करवाने का प्रयत्न किया। विद्यालय, पुस्तकालय आदि की स्थापना करके बालक-बालिकाओ की उचित शिक्षा का प्रबन्ध किया। मेधावी छात्र-छात्राओ को छात्र-वृत्ति देकर उन्हे उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार सभा द्वारा होने वाले सेवा-कार्यो के विविध आयाम, विविध क्षेत्र और विविध अवसर रहे। बिहारीलालजी ने सभा द्वारा सम्पादित कार्यो मे तन-मन-धन से सदा योगदान दिया। उनका विश्वास था कि गिरते हुए को सहारा देकर उठाने और डूबते हुए को उबारने से बढकर पुण्य–कार्य कोई दूसरा नही होता। वे स्वय तो प्रत्येक कार्य मे सहयोगी बनते ही थे, दूसरो का सहयोग जुटाने की भी क्षमता रखते थे। कलकत्ता मे अपने व्यवसाय मे व्यस्त रहते हुए भी वे राजगढ़ की उन्नति और विकास के लिये सदा सचेष्ट रहे। सस्था के लिये जब भी आवश्यकता पड़ती, वे कलकत्ता से चन्दा जुटाकर हजारो रुपये भेज देते। इतना ही नही, समय-समय पर स्वय भी समय निकाल कर राजगढ आते और विकास कार्यो मे हाथ बढ़ाते। आर्थिक अवदान से कही बढकर उनके समृद्ध विचारो ने सस्था को आगे बढ़ाने मे महती भूमिका निभायी। उनके विचार इतने स्पष्ट, सुलझे हुए और प्रेरक होते थे कि कार्यकर्त्ताओं को कभी हतोत्साहित नही होने देते थे। वे जहाँ भी रहे, जन-हित के कार्यों से सदा जुड़े रहे।

परोपकार करने वालो की सहायता स्वय परमात्मा करता है—इसी आस्था और विश्वास के साथ उन्होने कर्म-रत जीवन को अगीकार किया।

राजगढ मे अग्रवाल समाज का कोई अपना भवन नही था। जब अग्रसेन भवन बनाने की योजना बनी तो बिहारीलालजी मे उसमे तन-मन-धन से सहयोग किया। वे भवन के ट्रस्टी और अध्यक्ष-पद पर अन्त तक बने रहे। जैन-विश्व-भारती लाडनूँ मे उन्होने अपने स्वर्गवासी पुत्र तोलाराम की स्मृति मे एक अतिथि-कक्ष का निर्माण भी करवाया। इस प्रकार जहाँ भी उनकी आवश्यकता हुई, वे सदा आगे बढकर सहयोग करते थे।

नगरपालिका में

बिहारीलालजी नगर-विकास मे रुचि रखने वाले लोकप्रिय व्यक्ति थे। उनके पिता श्री शिवनारायणजी ने नगरपालिका के सदस्य रहकर राजगढ के सर्वागीण विकास के लिए महत्व-पूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। अपने पिता की परम्परा को आगे बढाते हुए बिहारीलालजी सन् १९४७ मे राजगढ नगर-पालिका के सदस्य चुने गये। सन् १९५२ तक वे लगातार नगर-पालिका के सदस्य रहे। महावीर प्रसाद जी जोशी की अध्यक्षता और अपने कार्यकाल मे उन्होने जो रचनात्मक कार्य किए, वे उल्लेखनीय है। वे इस बात को जानते थे कि नगरपालिका की आय के साधन जितने व्यापक होगे, नगर-विकास की प्रक्रिया भी उतनी ही गतिशील होगी। अत: उन्होने सर्वप्रथम पालिका की माली हालत को सुधारने पर बल दिया। इसके लिए उन्होने तीन बातो की ओर विशेष ध्यान दिया। नगरपालिका द्वारा लागू किये गये करो की समुचित अदायगी, अधिक से अधिक सरकारी अनुदान की प्राप्ति और नगर-निर्माण के कार्य मे धनपतियो का आर्थिक सहयोग। इस प्रकार त्रिविध प्रयत्नो से उन्होने नगरपालिका की आर्थिक स्थिति को सुदृढ करने का प्रयत्न किया। नगरपालिका मे होने वाली आय का सदुपयोग हो, इसके लिए भी वे सदा सतर्क और जागरूक रहे। उनका विचार था कि कार्य के लिए पैसा तो चाहिए ही, साथ ही साथ पालिका के सदस्यो मे ईमानदारी और सेवा की भावना का होना भी आवश्यक है। वे अपनी ओजस्वी वक्तृता द्वारा सदस्यो को सेवा-पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देते रहते थे।

नगरपालिका का प्रमुख कार्य होता है नगर की साफ-सफाई रखना। किन्तु साफ-सफाई करनेवाले हरिजन-कर्मचारियो को यदि वेतन उचित और समय पर न मिले, तो वे उत्साह-पूर्वक काम नही कर सकते। उन्होने जोर देकर हरिजनो के वेतन मे सुधार करवाया और ऐसी व्यवस्था की, जिससे सबको समय पर वेतन मिल सके। बीमार और सकटग्रस्त कर्मचारियो को विशेष सहयता देने का प्रावधान रखवाया। सफाई कार्य सुचारुरूप से हो सके, इसके लिए नई सडको के निर्माण और पुरानी सडको की मरम्मत की ओर भी ध्यान दिलाया। कचरा इधर-उधर बिखरे नही, इसके लिए मोहल्लो मे कूडा-घर बनवाने या कूडापात्र रखवाने का प्रस्ताव भी रखा। बरसात का पानी नगर मे न जमने पाये, इसके लिये पक्की नालिया बनाने की योजना प्रस्तुत की।

सादुलपुर बस्ती उन दिनो राजगढ नगरपालिका के अन्तर्गत नही थी। वहा पर सफाई, रोशनी आदि की ठीक व्यवस्था न होने के कारण वहाँ के नागरिको को बहुत तकलीफ उठानी पडती थी। बिहारीलालजी ने सादुलपुर को राजगढ नगरपालिका मे मिलाने के लिए पालिका की

ओर से जोरदार प्रयत्न किया और उसमें सफलता प्राप्त की। वहाँ के लोगों को सफाई, पानी, रोशनी की सुविधा प्राप्त करवाई। सादुलपुर राजगढ़ का स्टेशन और रेलवे का बड़ा जक्शन होने के कारण उसका राजगढ-नगरपालिका के अन्तर्गत रहना अनेक दृष्टियो से उपयोगी और महत्वपूर्ण था। इससे नगरपालिका की आय मे वृद्धि हुई और नगर को बड़ा आयतन मिला।

राजगढ़ पुराना नगर होने के कारण अधिकांश घरो मे शौचालय की व्यवस्था नही थी। सम्भ्रान्त घरो की महिलाओ को खुले मैदान में शहर से वाहर शौच के लिये जाना पडता था। विहारीलालजी ने नगरपालिका को सार्वजनिक शौचालय निर्माण करने का सुझाव दिया और उस काम के लिये आर्थिक साधन जुटाने का भी प्रयास किया। वाजार को सुन्दर वनाने, गली-गली मे लालटेन की वत्तियाँ लगाने और पीने का पानी उपलब्ध कराने के लिये नगरपालिका की ओर से स्तुत्य कार्य किया गया। विहारीलालजी कहा करते थे कि नगरपालिका का अध्यक्ष नगरपिता कहलाता है, अतः पालिका के प्रत्येक सदस्य को नगरवासियों की हर तकलीक और असुविधा के प्रति सवेदनशील होना चाहिए। राजगढ के अनेक जवान सेना मे भर्ती होकर देश-रक्षा के लिए अपना वलिदान देते आ रहे हैं। विहारीलालजी ने नगरपालिका का ध्यान उन भूतपूर्व सैनिकों की ओर आकर्पित किया, जो आर्थिक तकलीफ भोग रहे थे। उन्होने पालिका की ओर से ऐसे सैनिको को अनुदान देने की भी पेशकश की। उनके विचार से नगरपालिका का कार्य नागरिको के लिये केवल भौतिक सुविधाये जुटाना नही, वलिक शिक्षा, सस्कृति और कला के प्रोत्साहन द्वारा नागरिक-भावना का विकास करना भी है। पालिका की ओर से प्रतिभा-सम्पन्न छात्रो को पुरस्कार और छात्र-वृत्तियाँ प्रदान करवाने मे भी उनका विशेष प्रयास रहा। इनके प्रयास से न॰ पा॰ द्वारा तीन नई प्राथमिक स्कूले भी खुली। पाँच साल के कार्यकाल मे विहारी-लालजी ने पालिका को अनेक महत्वपूर्ण योजनाएँ दी और उन्हें क्रियान्वित करने का सतत् प्रयास किया।

श्री महावीर प्रसादजी जोशी विहारीलालजी के परम मित्र व नगरपालिका के अध्यक्ष थे। नगरपालिका द्वारा सम्पादित प्रत्येक योजना मे विहारीलालजी के कधे से कधा मिलाकर सहयोग देते थे। वे विहारीलालजी के निर्भीक विचार, रचनात्मक-चिंतन और निष्काम सेवा-भावना का वड़ा आदर करते थे। विहारीलालजी जिस क्षेत्र मे कर्म-रत होते थे, उसके वारे मे गहराई से चिन्तन-मनन भी करते थे। नगरपालिका को वे नगर के व्यक्तित्व-निर्माण की कार्यशाला मानते थे। उनका विश्वास था कि नगरपालिकाए सही रूप मे अपना-कर्तव्य-निर्वाह कर सके, तो हमारे नगरो मे स्वर्ग उतर आए। गांवीजी के राम-राज्य की कल्पना को आकार देना नगरपालिका का धर्म है। नगर-निर्माण कार्य को छोटा और सकीर्ण मानकर नही चलना चाहिये। नगर तो राष्ट्र की इकाई है। यदि नगर का रूप साफ-सुथरा हो, समुचित शिक्षा का प्रवन्ध हो, सांस्कृतिक चेतना का विकास हो, उद्योग-धंधे और आजीविका के साधन उपलब्ध हो, स्वास्थ्य की देखभाल और रोगियो के उप-चार की व्यवस्था हो, नगरवासियो मे नागरिक-कर्तव्यो का वोध हो, भाईचारे और परस्पर सह-योग की भावना हो, नगर सुखी, सम्पन्न और जागरूक हो तो इसका शुभ परिणाम पूरे राष्ट्र-जीवन पर घटित होता है। अन्ततः नगर मिलकर ही तो राष्ट्र की रचना होती है। नगर पालिकाओ के प्रतिनिधि यदि चरित्र-सम्पन्न, अनुशासित, शिक्षित और सेवा-भावी हो, तो सारे राष्ट्र का रूपा-न्तरण सहज ही हो जाये। नगरपालिकाए जितनी चुस्त-दुरुस्त होगी, हमारा राष्ट्र भी उतना

ही शक्तिशाली और तेजस्वी होगा। राष्ट्र के कीर्ति-कलश नगरपालिकाओं की ठोस नीव पर ही ऊँचे उठते हैं। नगर-विकास के कार्य को हमे ऐसी ही उदार दृष्टि रखकर करना चाहिए। नगरपालिका मे पूरे नगर का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है, इसलिये उनका स्वरूप दर्पण की तरह स्वच्छ और साफ-सुथरा रहना चाहिये। अपने ऐसे ही आदर्श विचारो द्वारा बिहारीलालजी ने नगरपालिका का मार्ग-दर्शन किया और उसके माध्यम से नगर-विकास के कार्यो मे महत्वपूर्ण योग-दान दिया।

गो-भक्त

गो, गीता और गगा के प्रति बिहारीलालजी के हृदय मे असीम श्रद्धा थी। गाय के प्रश्न को लेकर जब भी कोई उनके पास सहायतार्थ जाता था, वे उत्साह-पूर्वक सहयोग दिया करते थे। राजस्थान मे प्राय तीन-तीन साल लगातार वर्षा न होने के कारण भयकर दुर्भिक्ष का सामना करना पडता है। अकाल के समय गायो के लिये चारा-पानी का अभाव हो जाने के कारण हजारो गाये भूखी-प्यासी भटकने लगती है। उनमे से बहुत-सी भूख के कारण मर जाती है और बहुत सी कसाइयो द्वारा बूचडखानो मे ले जाकर काट दी जाती है। गायो की ऐसी दुर्दशा देखकर बिहारीलालजी द्रवित हो जाते थे। माता की तरह दूध पिला कर हमारा पोषण करने वाली गायें बिलबिलाती फिरे, और हम शाति से बैठे रहे, यह उन्हे सर्वथा बेहयापन लगता था। गो-वश जब भी सकट-ग्रस्त होता, वे हजारो रुपये कलकत्ता से चन्दा करके सहायतार्थ भेजते। स्वयं राजस्थान मे विभिन्न स्थानो पर लगने वाले गायो के शिविरो का दौरा करते और वहां की व्यवस्था का निरीक्षण करते। सेवा-कार्य मे जुटे हुए कार्यकर्त्ताओ को प्रेरणा देते। रक्षा-व्यवस्था को और अधिक कारगर बनाने के लिये अपने सुझाव देते।

गो-वश की क्षति को वे भारतीय आत्मा की क्षति मानते थे। भारत का स्वास्थ्य गो-वश की कृपा पर निर्भर है। गो-माता की अनुकम्पा के हम सब ऋणी हैं। गगा-गाय-गीता भारतीय सस्कृति की त्रिवेणी है। इन्ही तीनो की सगम-स्थली होने के कारण यह पुण्य-भूमि, तीर्थ-स्थली कहलाती है। भारत का सारा अर्थ-तन्त्र गो-वश की भित्ति पर टिका हुआ है। यदि इसका विनाश हो गया तो भारत की धन-लक्ष्मी भी भिखारिन बन जायेगी। गोसवर्धन प्रत्येक भारतीय का पुनीत कर्तव्य है। जब तक गो-सेवा हमारी दिनचर्या का अनिवार्य अग बनी रही, तब तक इस देश मे दूध-दही की नदिया प्रवाहित होती रही। गो-सेवा के प्रति निरन्तर बढती हुई हमारी उदासीनता ने पूरे राष्ट्र-जीवन को पगु और बीमार बना दिया है। सामाजिक और राजकीय स्तर पर जब तक गो-पालन की समुचित व्यवस्था नही की जायेगी, हमारा देश न समृद्ध होगा, न शक्तिशाली। गाय को हमने माता का स्थान दिया है। जिस देश के बेटे अपनी मा की रक्षा से मुँह मोड लेंगे, उस देश को भगवान् भी नही बचा सकता।

बिहारीलालजी जीवन-भर गो-सेवा-कार्य के साथ जुड़े रहे और अपने उदात्त विचारो द्वारा सैकड़ो लोगो को गो-सेवा की ओर प्रवृत्त किया। श्री राजगढ जुबिली पिंजरापोल (गो-शाला) को वे निरतर आर्थिक सहायता पहुँचाते रहे। वे पिंजरापोल के स्थाई सदस्य रहे और एक हजार रुपया वार्षिक शुल्क के रूप मे वर्षो तक देते रहे। इतना ही नही, वे अपनी धर्मपत्नी मीरा देवी से और अपनी बहिन सरवती देवी द्वारा वार्षिक अनुदान के रूप मे लगातार आर्थिक

सहायता भिजवाते रहे। अपने परिवार वालों के अतिरिक्त हजार रुपये वार्षिक भेजनेवाले वीसों सदस्य वनाकर पिंजरापोल को सहायता पहुंचाई। अकाल-राहत कार्य के लिये इन्होने प्रचुर धन-राशि अतिरिक्त सहायता के रूप मे भेजी।

वे स्वय राजगढ मे कम ही रह पाते थे। लेकिन जब भी नगर मे आते थे, तो पिंजरापोल को सँभाल अवश्य लेते थे। पिंजरापोल का कार्य व्यवस्थित रूप से चलता रहे, इसके लिये वे राजगढ मे स्थायी रूप से निवास करनेवाले योग्य व्यक्तियो को कार्य-भार सँभालने के लिए अनुरोध किया करते थे। श्री मोतीमलजी सरावगी इन्हीं की प्रेरणा से पिंजरापोल का कार्य–भार सँभालने के लिये तैयार हुए। राजगढ के अतिरिक्त राजस्थान के विभिन्न नगरो मे चलनेवाली गोशालाओं को भी विहारीलालजी हजारों रुपये आर्थिक सहायता के रूप मे देते रहे।

विहारीलालजी अत्यन्त सवेदनशील और भावुक थे, साथ ही सतर्क और सावधान भी थे। जिस कार्य को हाथ मे लेते थे, उसे सोच-समझकर ही लेते थे। कार्य की उपयोगिता और उसके दूर-गामी परिणामो के वारे मे आश्वस्त हुए विना उनका सहयोग प्राप्त करना सम्भव नही था। गो-सेवा के वारे मे वे धार्मिक अध-विश्वास और सकीर्ण भावना से कभी ग्रसित नही रहे। राष्ट्र और मानवता के व्यापक हित मे ही उन्होने गो-सवर्धन को अपना सहयोग और समर्थन दिया।

पर्यटन

भारत के अप्रतिम प्राकृतिक-सौन्दर्य का दर्शन करने की उत्कट लालसा से उन्होने उत्तरा-खण्ड की यात्रा की। पवित्र तीर्थ-स्थानो के दर्शन द्वारा पुण्य-लाभ का आकर्षण तो मन मे था ही, अतः इस यात्रा मे वे सपरिवार ही गये। जाते समय उन्हे अपने मित्र-बन्धुओ का स्मरण भी हो आया। उन्होने वैद्य परमेश्वर प्रसादजी और रामनारायणजी वर्मा को पत्र लिखकर अपनी यात्रा के वारे मे सूचित किया, और साथ ही यह अनुरोध भी किया कि वे भी परिवार सहित ऋषिकेश मे स्वामी श्री पूर्णानन्दजी के आश्रम मे पहुँच जाये। रामनारायणजी तो विशेष कारणवश समय पर पहुँच पाने मे असमर्थ रहे। परमेश्वर प्रसादजी समय पर ऋषिकेश पहुँच गये। दूसरे दिन जब विहारीलालजी सपरिवार स्वामी जी के आश्रम पर पहुँचे तो वैद्यजी को देखकर वहुत प्रसन्न हुए। कुछ समय विश्राम करने के पश्चात् सब लोग कार द्वारा वदरीनारायण धाम की यात्रा के लिए निकल पडे। इस यात्रा मे विहारीलालजी के परम मित्र नानकराम शर्मा (पारीक) भी साथ थे। वचपन मे मिडिल-स्कूल मे पढते समय पानी पिलाने वाले नानक-राम से उनकी गहरी आत्मीयता हो चुकी थी। स्कूल छोडने के वाद वह अपनी खेती–वाड़ी का काम करता था। विहारीलालजी ने उसे आग्रह-पूर्वक इस महत्वपूर्ण यात्रा मे साथ ले लिया था।

ऋषिकेश से वदरीनाथ तक की यात्रा वडी आनन्ददायक रही। मित्र-मण्डली के साथ उन्होने मार्ग मे पड़ने वाले प्रत्येक पूजा-स्थल पर रुक-रुक कर देवी-देवताओ के दर्शन किये। हिमाच्छादित शैल-शिखरो और हरी-भरी वादियो के वीच सर्पाकार मार्ग से गुजरते उन्होने प्रकृति के वदलते हुए मनोहारी दृश्यो का अवलोकन किया। वलखाती नदियाँ, नर्तन करते झरनो, पुष्पित वृक्षावलियो का सघन विस्तार और मेघो मे लुका–छिपी करती सूर्य किरणो का धूप–छाँही इन्द्रजाल, विहारीलालजी को लगा, जैसे वे किसी देव-लोक मे विहार कर रहे हैं। परमात्मा की परम सृष्टि का चरम सौन्दर्य देखकर वे अभिभूत हो गये। वैद्य परमेश्वर प्रसादजी

रास्ते मे पडने वाले तीर्थ-स्थानो का माहात्म्य समझाते रहे। जगह-जगह स्नान-पूजा, देव-दर्शन आदि करते हुए विहारीलालजी आध्यात्मिक आनन्द मे डूबे रहे।

बदरीनाथ धाम पहुँचते-पहुँचते बर्फानी हवाओ के स्पर्श से शरीर मे झुरझुरी होने लगी। मन्दिर के पास ही बनी धर्मशाला मे सभी ठहर गये। गर्म कपडों और आग की सहायता से उन्होने कडाके की ठण्ड से अपना बचाव किया। हजारो यात्री वहाँ पहले से ही टिके हुए थे। हिमालय के उच्चतम शिखरो पर धर्म की विजय-ध्वजा फहराते हुए बदरीनाथ का भव्य मन्दिर देखकर विहारीलालजी ने श्रद्धावनत होकर प्रणाम किया। वहाँ के पवित्र जल मे स्नान कर देव-प्रतिमा के दर्शन किये। ब्राह्मणो को दान-दक्षिणा देकर कृतज्ञता प्रकट की। दो दिनो तक वे अपने मित्र वर्ग के साथ वही टिके रहे।

तुमुल कोलाहल-कलह से भरा ससार वे बहुत पीछे, बहुत नीचे छोड़ आये थे। भगवान बदरीविशाल की गरिमामयी गोद मे फैली आध्यात्मिक प्रशाति मे वे भाव-विभोर हो रहे। मन ही नही होता था स्वर्ग-शिखर से पुन· मर्त्य-लोक मे उतर जाने का। किन्तु अभी शिखर से शिखर तक की यात्रा का क्रम बना हुआ था। तीसरे दिन सभी लोग वहाँ से केदारनाथ धाम की यात्रा पर चल पडे।

बदरीनाथ से केदारनाथ तक का यात्रा-पथ आकाश गगा की तरह एक पर्वत से दूसरे पर्वत-शिखर को लाँघता हुआ चला जाता है। श्री जैन को पाण्डवो के स्वर्गारोहण का स्मरण हो आया। उन्हे लगा, जैसे आत्मा की इस ऊर्ध्वमुखी यात्रा मे सारे धर्मों का बोझ पीछे छूटता चला जाता है। रह जाता है एक हलका सा अहसास, पुण्य-प्रभा की एक पुलक भरी प्रतीति। प्रकृति के निश्छल सान्निध्य के बिना धरती के स्वर्गादपि गरीयसी रूप का भान होना कहाँ सम्भव है? सचमुच लाव-लाव और आपाधामी के अँधेरे गलियारो मे भटकते हुए आदमी को धार्मिक तीर्थ स्थानो की गौरव-गरिमा का बोध नही हो सकता।

बदरीनाथ की तरह ही भगवान् केदारनाथ के दर्शन कर वे भक्ति-भावना मे डूब गये। मुख्य धाम के आस-पास के पहाडी अचल मे अनेक देव-मदिर और तीर्थ-स्थान बिखरे पड़े है। सब लोग दो दिनो तक प्रमुख धाम मे रुक कर आस-पास के देव-स्थानो का दर्शन करते रहे। यहाँ पहुँच कर बिहारीलालजी ने अनुभव किया कि व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा सामूहिक-आनन्द अधिक प्रभावी और मूल्यवान होता है।

देव-स्थानो का भ्रमण करते हुए बिहारीलालजी ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ पितरों का तर्पण और पिण्डदान किया जाता है। ऐसी मान्यता है कि वहाँ तर्पण करने के बाद फिर श्राद्ध आदि करने की आवश्यकता नही होती। बिहारीलालजी ने बडी श्रद्धा-भक्ति से सभी पितरो का तर्पण और पिण्डदान किया। ऐसी जनश्रुति है कि उस स्थान पर पिण्ड-दान करने से समस्त पितरो को मोक्ष का पुण्य-लाभ प्राप्त होता है। श्री जैन इस यात्रा मे पूर्ण धार्मिक-भावना से प्रेरित रहे। यात्रा के उसी क्रम मे उन्होने तप्त-कुण्ड मे स्नान किया। विश्वास किया जाता है कि गर्म जल के उन स्रोत्रो मे स्नान करने से काया तो कचन होती ही है, मन का मैल भी धुल जाता है। विभिन्न देव-स्थानो का भ्रमण कर वे पुन: केदारनाथ लौट गये।

यात्रा समाप्त कर लौटते समय पूरी मित्र-मण्डली आनन्द-विभोर थी। सभी की इच्छा थी कि प्रति वर्ष ऐसे रमणीक स्थानो की यात्रा का सुअवसर मिलता रहे तो कल्याण हो जाये।

पूरी यात्रा मे नानक राम ने श्री जैन को किसी प्रकार की असुविधा नही होने दी। श्री वैद्यजी के शास्त्रीय ज्ञान ने इस धार्मिक यात्रा को और भी गरिमामय बना दिया। वस्तुतः श्री जैन की धार्मिक दृष्टि इतनी व्यापक थी कि वे किसी भी धर्म की अच्छाइयो को ग्रहण करने के लिये तत्पर रहते थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक धर्म के मूल मे मानव मात्र के कल्याण की भावना निहित है। कुछ स्वार्थी लोग अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए धर्म के वास्तविक स्वरूप को विकृत करते रहते हैं। धर्म तो जीवन को धारण करने वाली नियामक शक्ति है। इसी से जीवन को सही दिशा और गति प्राप्त होती है। धर्म-हीन जीवन कभी सार्थक नही हो सकता। श्री वैद्यजी कहा करते हैं कि आस्था, विश्वास और श्रद्धा से ओतप्रोत श्री जैन के मन और बुद्धि की थाह पाना कठिन था। वे प्रत्येक कार्य को ईश्वर का आदेश मानकर ही करते थे। अपने मित्रों को आत्मवत् समझते हुए प्राणी मात्र को वे अपनी सवेदना मे आवेष्ठित किये रहते थे। बदरीनाथ और केदारनाथ की यात्रा मे उनके साथ गये मित्र आज भी उनका स्मरण कर भाव-विह्वल हो उठते हैं।

बिहारीलालजी ने चारो धाम की यात्रा तो की ही, इलाहाबाद मे कुम्भ-स्नान भी किया। एकलिंगजी और नाथद्वारा के दर्शनार्थ भी गए। तीर्थाटन की उसी शृंखला मे उन्होने सवेद शिखरजी, पावापुरी, श्रवण बेलगोला आदि प्रमुख जैन तीर्थो का भ्रमण भी किया। इस प्रकार उन्होने अपने जीवन काल मे अनेक धार्मिक यात्राए सम्पन्न की।

शिक्षानुरागी

आप जीवन पर्यन्त शिक्षा एवं ज्ञान-प्रसार के लिए समर्पित रहे। राष्ट्रीय, सामाजिक और आर्थिक समस्याओ का मूल कारण वे अशिक्षा और अज्ञान को ही मानते थे। उद्देश्य-सिद्धि के लिये उन्होने अनेक नवीन विद्यालयो की स्थापना मे अपना पूर्ण सहयोग दिया। साथ ही नगर मे चलने वाली हर स्तर की शिक्षण-संस्था से निकट का सम्पर्क रखा और उनके सचालन मे सहभागी बनकर रहे। राजगढ मे "श्री नेहरू बाल मन्दिर" की स्थापना मे श्री जैन का अभूतपूर्व सहयोग रहा। बाल मन्दिर के मन्त्रीपद पर कार्यरत श्री फकीरचन्दजी के विचारो को यहाँ उद्धृत करना उचित होगा। वे लिखते हैं—

"श्री सूर्यनारायण ब्रह्मभट्ट विद्यालय-निरीक्षक, चूरू के सुझाव पर श्री सर्वहित कारिणी सभा के अन्तर्गत सभा की प्रथम मजिल पर "श्री नेहरू बाल मन्दिर" का श्रीगणेश स्व० श्री रतनलालजी मोहता के करकमलो से सम्भव हुआ। प्रथम तेईस बालको का प्रवेश हुआ। कु० किरण गुप्ता को प्रथम शिक्षक-पद पर नियुक्त किया गया। बालमन्दिर की स्थापना के पूर्व सात व्यक्तियो ने अथक प्रयास कर करीब तयालीस सौ रुपये चन्दे के रूप मे एकत्रित किये।"

विद्या मन्दिर मे शिशु-सख्या की वृद्धि के साथ-साथ व्यय की वृद्धि भी स्वाभाविक थी। शिक्षा-विभाग ने प्रथम पूर्व-प्राथमिक स्तर की मान्यता दी। बाद मे प्राथमिक-स्तर और १९७१ मे उच्च प्राथमिक स्तर की मान्यता प्राप्त हुई। शिक्षा-विभाग तथा समाज-कल्याण विभाग से अनुदान प्राप्त किया गया। सभा-भवन निरन्तर बढ़ती हुई छात्र-संख्या के कारण अपर्याप्त लगने लगा। किसी प्रकार वर्तमान भवन प्राप्त किया गया और उसी की मरम्मत करवा कर काम चलाया गया।

सचालक सदस्यो के सफल प्रयास से बालमन्दिर भवन के लिये बारह हजार रुपये की राशि इस शर्त पर प्राप्त हुई कि उतनी ही राशि जनता व बालमन्दिर वहन करे।

इस प्रकार सस्था के विकास को वनाये रखने के लिये तथा आर्थिक सन्तुलन रखने हेतु, जनता के जागरूक व समझदार व्यक्तियों के सहयोग की अपेक्षा रही। जिसमे स्व० श्री विहारीलालजी का सहयोग हर प्रकार से श्लाघनीय रहा। भवन-निर्माण हेतु अर्थ-संग्रह का कलकत्ता मे जो प्रयास किया गया, उसमे इनका वडा योगदान रहा। भवन-निर्माण के लिए अर्थ की कमी नही रहने दी जायेगी - ऐसा उनका पूर्ण समर्थन सदैव रहा, जिसके परिणामस्वरूप सस्था का भव्य-भवन वन सका। भवन के अतिरिक्त इस शिक्षण-सस्थान से उनका सदैव लगाव रहा, सम्पर्क रहा। अत विद्यालय के लिये अन्य आवश्यक उपकरण, फर्नीचर आदि की भी इनके प्रयास से व्यवस्था सभव हो सकी। इसके अतिरिक्त इनके समवयस्क मित्रो और साथियो से भी प्रचुर सहयोग मिला। जिनके लिये यही प्रेरक शक्ति रहे।

भवन व अन्य उपकरण आदि विद्यालय के भौतिक पक्ष की श्रेणी में आते हैं, जिसको यदि विद्यालय का शरीर कहा जाये तो युक्तियुक्त रहेगा। किन्तु विद्यालय की आत्मा—शैक्षिक पक्ष भी श्री जैन साहव के सहयोग से अछूता नही रहा। "वाल-शिक्षण वालको के हित मे, वाल विकास मे तथा वालको के लिये हो"—ऐसी उनकी दृढ धारणा व मनसा थी। वालक के लिये भवन, उपकरण, शिक्षक, सचालन-समिति आदि सव हैं। वालक ही मुख्य है, शेष सव गौण है। ऐसी थी श्री जैन की शिक्षा सम्वन्धी आतरिक धारणा। विद्यालय पर सव कुछ न्योछावर किया जा सकता है।

वे विद्याललय मे अनुशासन को सर्वोपरि स्थान देते थे। अनुशासन को वालक, शिक्षक, सचालन समिति आदि हर स्तर पर देखने के पक्षपाती थे। इसके लिए सघर्ष करना पड़े, कष्ट उठाना पडे तो भी डटे रहने की प्रेरणा देते थे। सस्था से सकट या सघर्ष के समय पलायन करने वालो के वे सदैव विरुद्ध रहते थे। हर कार्य मे सत्य व ईमानदारी के समर्थक थे। वे मानते थे कि जो व्यक्ति इनका पालन करेगा, अन्ततः उसी की विजय होगी।

वे जव-जव नगर मे पधारते, वाल-मन्दिर की जानकारी लिया करते। निष्क्रिय व निराश कार्यकर्त्ताओ को प्रभावशाली, ओजस्वी वाणी से उत्साही व क्रियाशील वना देते थे।

सस्था हो, चाहे व्यक्ति, हर एक के जीवन में अच्छे वुरे दिन तो आते ही हैं। वाल मन्दिर भी इसका अपवाद नही है। चाहे वे राजगढ मे रहे हो चाहे कलकत्ता मे, अपने व्यस्त और अमूल्य समय मे से समय निकालकर उचित मार्ग-दर्शन, सुझाव व प्रेरणास्पद योजनाये दी।

आर्थिक सहयोग से श्रम व समय देकर वाल मन्दिर का सचालन करनेवालो का स्थान सर्वोपरि है, परन्तु उनसे भी ऊपर स्थान व श्रेय उनको जाता है, जो ऐसे कार्यकर्त्ताओ को सँभाले रखते है। श्री जैन ने अनेक वार वाल-मन्दिर के वार्षिक उत्सवो पर मुख्य अतिथि पद को सुशोभित किया है। अनेको बार प्रचुर धन राशि विभिन्न कार्यों के निमित्त प्रदान की है। वालको को मिठाई-वितरण तो प्रायः इनके करकमलो से होता ही रहा है। ऐसे दृढ, प्रभावशाली व्यक्तित्व के वियोग की क्षति वाल मन्दिर सदृश्य सस्था के लिए अपूरणीय ही रहेगी।

श्री शिवनारायण सरावगी विद्यालय

"श्री शिवनारायण सरावगी विद्यालय" के भवन का निर्माण श्री जैन ने अपनी स्वर्गीया माताजी की स्मृति मे अपने पिताश्री के नाम से करवाया। अनेक शिक्षण सस्थाएँ नगर के टूटे-फूटे

भवनों में, दीन-हीन दशा में चल रही थी। उन्होने देखा कि उच्च माध्यमिक विद्यालयो पर जिस प्रकार धन खर्च किया जाता है, उस प्रकार प्राथमिक विद्यालयो पर ध्यान नही दिया जाता। समाज के नन्हे-मुन्ने उपेक्षा और अव्यवस्था के शिकार हो कर रह जाते है। लोगो का ध्यान शिखरो की ओर तो जाता है, पर नीव की ओर आँख उठा कर भी नही देखते। बच्चो की ऐसी अवहेलना देखकर उन्हे हार्दिक वेदना होती थी। इस दिशा मे उन्होने स्वय ही पहल की। प्राथमिक विद्यालय न० ३, सरकारी अस्पताल के पास किराये के टूटे-फूटे मकान मे चलता था। उन्होने इस विद्यालय के लिए शानदार भवन बनवा कर सरकार को हस्तातरित कर दिया। १ मई १९७३ को राजस्थान के वित्त एवं शिक्षा-मत्री श्री चन्दनमल वैद ने इस भवन का उद्‌घाटन किया। इस समारोह मे नगर के अनेक गण्य-मान्य नागरिक तथा शिक्षा-विभाग के अधिकारी उपस्थित थे।

विद्यालय शहर की मुख्य सड़क पर बना हुआ है, जो अपनी सुन्दर बनावट के कारण रास्ते चलते लोगो का ध्यान आकर्पित करता है। इस विद्यालय-भवन मे पाँच कक्षाओ के अतिरिक्त तीन कक्ष और बने हुए है जो कार्यालय, स्टोर रूम और प्याऊ के काम आते है। विद्यालय के चारो ओर चहारदीवारी बनी हुई है। इसके अहाते मे पन्द्रह पेड और फूलो के पौधे लगे हुए है, जो विद्यालय की शोभा बढाते है। श्री जैन ने इस विद्यालय के लिये फर्नीचर, दरियाँ और पट्टियाँ आदि उपकरणों की भी उचित व्यवस्था की है। बच्चो के लिये एक पुस्तक बैंक भी है।

विद्यालय के उद्‌घाटन के समय जैन साहब ने जो प्रेरक विचार प्रकट किये, वे आगे चलकर प्राथमिक विद्यालयो के विकास मे सहायक हुए। उन्होने कहा— 'सबसे बडी समाज सेवा, समाज मे उत्तम शिक्षा की सुविधा जुटाने मे है, क्योकि उपयुक्त शिक्षा से ही युवक-युवतियाँ स्वावलम्बी बन सकते हैं। किसी को रोटी देने की अपेक्षा उसमे रोटी कमाने की सामर्थ्य पैदा करना सबसे बडी सामाजिक सेवा है। जीवन की विभिन्न समस्याओ का समाधान हृदय के देवता को जगाने से होता है, और हृदय का देव उपयुक्त धार्मिक और सामाजिक शिक्षा से ही जागता है। इसीलिए भारत के हर बालक और बालिकाओ को सुसस्कारो की शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षा धर्म की भाँति व्यक्ति के आचरण मे झलकनी चाहिए।" छात्रो को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा—"तुम सब मन लगाकर पढो, परीक्षाओ मे कीर्तिमान स्थापित करो और अपने हृदय मे एक धार्मिक ज्योति प्रज्वलित करो। हम तुम्हे विश्वास दिलाते है कि तुम्हारा भविष्य परमोज्ज्वल होगा।" शिक्षको को सम्बोधन करते हुए कहा—"आप निष्ठा से काम करो, इन दीपको मे रोशनी प्रज्वलित करो, हम आपको विश्वास दिलाते है किसी भी अध्यापक को भौतिक अभावो का सामना नही करना पडेगा।" आगे कहा—"यदि राज्य सरकार इस विद्यालय को क्रमोन्नत करने का साहस करे, तो मेरा परिवार भी अपना दायित्व निभाने से कभी पीछे नही हटेगा। जितने कमरो और सामान की आवश्यकता होगी, उनकी पूर्ति कर दी जायेगी। बच्चो की शिक्षा और चरित्र-निर्माण ये दोनो कार्य साथ-साथ होने चाहिएं। इसके अतिरिक्त बच्चे मानसिक तथा शारीरिक रूप से कमजोर न रहे, इसका भी ध्यान रखना होगा। शिक्षको को वर्तमान पीढी के सर्वांगीण विकास के माध्यम से देश के भविष्य को सँवारने का सकल्प लेना चाहिए।"

बिहारीलालजी ने प्राथमिक विद्यालय के लिए भवन बनवा कर जो शुभ परम्परा स्थापित की, उसी से प्रेरित होकर नगर मे अनेक विद्यालय भवनो का निर्माण सम्भव हो सकता। यथा श्रीरतनलाल मोहता उच्च प्राथमिक विद्यालय, श्री मूलचन्द राजगढिया उच्च प्राथमिक विद्यालय

रामवास, कन्या प्राथमिक विद्यालय आदि। श्री जैन ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे इन सबके लिए प्रेरक का कार्य किया।

महिला-शिक्षा में योगदान

वालिकाओ मे उच्च शिक्षा के प्रसार के लिए उन्होने आजीवन समर्पित होकर कार्य किया। नगर मे केवल दसवी कक्षा तक पढने की व्यवस्था थी। वे चाहते थे कि छात्राओ को वी० ए०, एम० ए०, तक पढाई करने की सुविधा होनी चाहिए। उनका विचार था कि एक लडके को शिक्षित करने का अर्थ एक आदमी का शिक्षित होना होता है, परन्तु एक लड़की को शिक्षित करने से एक परिवार सु-सस्कृत हो जाता है। मातृ-शक्ति की अवहेलना कर हम समाज का समुचित विकास नही कर सकते। अव समय आ गया है, जब हमे 'मातृदेवो भव" के आदर्श को जीवन मे आचरण मे उतारना चाहिए। शिक्षा कामकाज की आधारभूमि वने, यह तो उचित ही है, साथ ही वह नैतिक चेतना की प्रेरक भी होनी चाहिये। आचरण के अभाव मे कोरा वौद्धिक ज्ञान समाज के लिये कल्याणकारी नही हो सकता। वह शिक्षा ही क्या है, जो व्यक्ति को सच्चा धार्मिक न वना सके? धर्म को हमे किसी सम्प्रदाय विशेष से जोड कर नही देखना चाहिए। धर्म तो नैतिक सस्कारो का पर्याय है।"

उनके विचारो से प्रेरित नगर के अनेक शिक्षा-प्रेमी और समाज-सेवी व्यक्तियो के सहयोग से "सर्व हितकारिणी सभा" के अन्तर्गत सभा-भवन के दूसरे तल मे छात्राओ के लिए उच्च-शिक्षा प्राप्त करने का प्रवन्ध किया गया। इस कोचिंग क्लास मे नाम मात्र की फीस देकर अनेक छात्राओ ने वी० ए०, एम० ए०, तक की परीक्षाएँ अच्छे अको से पास की। छात्राओ की निरन्तर वढती हुई संख्या के लिये सभा-भवन का स्थान अपर्याप्त और छोटा था। उसके लिये अलग से भवन-निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गई।

उन्होने अपने परम मित्र श्री चांदमलजी अग्रवाल को इस वात के लिये प्रेरित किया कि वे कोचिंग-क्लास के लिए एक अच्छा सा भवन वना कर सभा को सौंप दें। श्री चांदमलजी उनके विचारो से सहमत हो गये और परिणाम-स्वरूप "सीता-भवन" का निर्माण सम्भव हुआ। सीता-भवन के शिलान्यास समारोह की अध्यक्षता विहारीलालजी ने की। इस अवसर पर नगर के अनेक शिक्षा-प्रेमी और प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे। वर्षो से जो स्वप्न विहारीलालजी अपने हृदय मे पाले हुए थे, वही अव आकार धारण कर रहा था। उनके आनन्द की कोई सीमा नही थी। उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण मे भाव विभोर होते हुए कहा—"इस कालेज की छात्राओ के परि-मार्जित भाषा सौष्ठव और विशुद्ध उच्चारण से सम्पन्न वक्तृत्व-शक्ति, ज्ञान की आभा से विभूषित मुख-मण्डल और प्रेरणादायक उत्साह को देखकर आज मैं फूला नही समा रहा हूँ। जीवन मे मुझे पहली वार एक दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई है। फूल स्वय तो खिलता ही है, इसके साथ साथ दूसरो को भी खिलने के लिये प्रेरित करता है। जैसे फूलो मे सुगन्ध है, वैसे शिक्षा से भी हृदय ज्ञान-सुगन्ध से भर जाता है। भारतीय नारियो को ऐसी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। उन्हे आदर्श वहिन, पत्नी-सहचरी, आदर्श मा और आदर्श वश-निर्मात्री वनना है। आदर्श शिक्षा ही उन्हे यह सव कुछ वना सकती है। मैं इन होनहार छात्राओ के लिये सुनहरे भविष्य की कामना करता हूँ, और विश्वास दिलाता हूँ कि हम अभिभावक के रूप मे इनके लिये उच्च कोटि की शिक्षा व्यवस्था नगर-स्तर पर करने मे कोई कमी नही रखेंगे।"

वे अपने जीवन की उन घड़ियो को सबसे अधिक सार्थक मानते थे जो उन्होने महिला शिक्षा के कार्य मे व्यतीत की। उक्त सस्था के प्रारम्भ काल से ही वे उचित धन राशि मासिक सहायता के रूप मे वर्षो तक देते रहे। धनीमानी दानी मित्रो के सहयोग से मेधावी छात्राओ के लिए छात्र-वृत्तियो और पुरस्कारो की व्यवस्था करते रहे। नारी की पारिवारिक मर्यादा के कट्टर समर्थक होते हुए भी उन्होने शिक्षा और विचार-क्रान्ति को सदा प्रोत्साहन दिया।

संस्कृत और संस्कृति

देवभाषा सस्कृत को वे भारत की आत्मा की भाषा मानते थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सारे भारत मे अग्रेजी भाषा के प्रति अप्रत्याशित आकर्षण देखकर उन्हे बहुत दुःख होता था। व्यवसायी और उद्योगपति वर्ग ही नही, स्वदेशी की वकालत करने वाले खद्दरधारी नेता और मन्त्री भी अपने बच्चो को उन्ही स्कूलो मे भेजना पसन्द करते है, जहाँ इंगलिश–मीडियम से पढाई होती है। जिस अग्रेजी और अग्रेजियत को निकाल बाहर करने के लिये हजारो देश-भक्तो ने अपने अमूल्य जीवन का बलिदान कर दिया, उसी अग्रेजी का वर्चस्व हम अधविश्वास की सीमा तक स्वीकार करने लगे। अग्रेजों के शासन काल मे भारतीय-समाज प्रशासकीय दृष्टि से तो गुलाम था, किन्तु मानसिक दृष्टि से वह स्वाधीनता से जुड़ा रहा। अपना देश, अपनी भाषा, अपना रहन-सहन और अपनी संस्कृति के प्रति प्रत्येक भारतीय के हृदय मे अगाध श्रद्धा थी। यह घोर दुर्भाग्य और विडम्बना ही है कि आज हम प्रशासकीय दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी अग्रेजी मानसिकता के गुलाम बन गए। व्यापारिक स्तर पर एक सीमा तक अग्रेजी की उपयोगिता हो सकती है। किन्तु विचार और चिन्तन की दृष्टि से वह हमे हमारे वास्तविक स्वरूप का भान न करा कर एक ऐसे मृगतृष्णावत् भटकाव की ओर ले जाती है, जहाँ भारतीय सभ्यता, संस्कृति, इतिहास और जीवन-दृष्टि से हमारा कोई वास्ता नही रह जाता। "मेकाले" ने भारत मे अग्रेजी-शिक्षा की रूप-रेखा बनाते समय बड़े विश्वास से यह घोषणा की थी कि, "इस शिक्षा-प्रणाली से भारतीय केवल रूप-रंग मे भारतीय रह जायेंगे। रहन-सहन, आचार-विचार और सस्कार से वे पक्के अग्रेज हो जायेंगे। "मेकाले" का वह स्वप्न अग्रेज शासन-काल मे तो पूरा नही हो सका, पर दुर्भाग्य-वश स्वतन्त्र भारत उसी को साकार करने मे लगा हुआ है। जिन्दा अग्रेजियत से उसका भूत अधिक प्रबल हो गया है। आज के छात्र-जगत मे व्याप्त अनुशासनहीनता और राष्ट्र-भक्ति के अभाव के मूल मे अग्रेजी शिक्षा का आत्यंतिक मोह ही है। भारत को यदि भारत बन कर रहना है तो अपनी मातृ-भाषा को ही सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम स्वीकार करके चलना पड़ेगा।

राष्ट्र–भाषा हिन्दी के साथ साथ देव-भाषा सस्कृत का अध्ययन भी हमारी शिक्षा का अनिवार्य पक्ष होना चाहिए। भारत के आत्म-विकास को उजागर करने वाली भाषा सस्कृत ही है। वही हमारे नैतिक उत्थान का मेरु-दण्ड है। संस्कृत का विपुल वाङ्मय ही भारत की अमोघ शक्ति है। वही हमारी अलौकिक सम्पदा है। सस्कृत के अतिरिक्त और है ही क्या. जिस पर भारत गर्व कर सके। प्रज्ञा के उच्चतम शिखरो पर पहुँच कर हमारे ऋषियो ने जीव, जगत, आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के रहस्यमय लोक मे प्रवेश कर जिस अलौकिक ज्ञान की उपलब्धि की थी, वह सब सस्कृत के ग्रन्थो मे सुरक्षित है। सस्कृत हमारी संस्कृति की भाषा है। लोक–जीवन को संस्कारित करने के लिये इसको लोक-भाषा बनाने की नितांत आवश्यकता है।

विशेषकर हमारी बेटियों को संस्कृत का पूर्ण ज्ञान कराना जरूरी है, जिससे वे पारिवारिक जीवन को सस्कार-विहीन होने से बचा सकें। ससार के अन्य देशो मे संस्कृत से बहुत कुछ सीखा हैं। अनेक विश्वविद्यालयो मे आज अपनी भाषा के साथ-साथ सस्कृत शिक्षा की भी विशेष व्यवस्था है अपने ही देश में अपनी भाषा की उपेक्षा हमारी अस्वस्थ मानसिकता का सूचक है। समाज का दायित्व है कि इसे जन-जन की भाषा बनाये और इसके समुचित विकास के लिये तन-मन-धन से सहयोग करे। सरकार को चाहिये कि वह सस्कृत को प्रत्येक विद्यालय के लिए अनिवार्य विषय के रूप में मान्यता देकर इसके अध्यापन की उचित व्यवस्था करे।"

इस प्रकार श्री जैन का सस्कृत प्रेम अद्भुत था। उन्हीं की प्रेरणा से सभा के कालेज मे स्नातक स्तर तक सस्कृत को अनिवार्य विषय के रूप मे पढाया गया। इसका छात्राओ के नैतिक विकास पर आशातीत प्रभाव पड़ा। बिहारीलालजी के सस्कृत-प्रेम मे देश-भक्ति की उज्ज्वल भावना के दर्शन होते थे। उनके व्यक्तित्व मे आध्यात्मिकता, नैतिकता, धार्मिकता और राष्ट्रीयता से समन्वित रूप दिखाई पडता था। उनके सम्पर्क मे आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उनके इस विशिष्ट रूप की अनुभूति होती थी। सस्कृत के प्रचार-प्रसार मे वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे अनेक सस्थाओ के निर्माता और प्रेरणा-स्रोत बन कर रहे।

सस्कृत भाषा की तरह ही भारतीय संस्कृति के प्रति भी उनकी गहरी आस्था थी। उनका विश्वास था कि भारत की सस्कृति मानव-मानव के बीच देव-भूमि का निर्माण करती है। वह प्राणी मात्र मे एकात्मकता का बोध जगाती है। सत्य से साक्षात्कार कराने वाली मेधा को जन्म देती है। हमारी सस्कृति हमे मृत्यु से अमरत्व की ओर बढने की प्रेरणा देती है। वह शिव भी है और सुन्दर भी। भारत के शलाका-पुरुषो ने अपनी तलस्पर्शी चिन्ता-धारा से इसे समृद्ध किया है। उनके पद्-चिह्नो पर चलकर ही भारत भारत रह सकेगा। विदेशी, विकृत सस्कृति का अन्धानुकरण करने से हम अपनी अस्मिता को खो बैठेंगे।

वे कहा करते थे कि हम जिस सस्कृति की गौरवगाथा रात-दिन गाया करते है, उसका प्रत्यक्ष प्रभाव प्रत्येक भारतीय के आचरण से झलकना चाहिये। हमारे क्रिया-कलाप आदर्शोन्मुखी और विचार उदात्त होने चाहिए। आजकल युवावर्ग मे जो अनुशासनहीनता और उच्छृखलता दिखाई देती है, उसका मूल कारण अपनी सस्कृति की अनभिज्ञता ही है। सास्कृतिक चेतना के बिना समाज आत्म-विस्मृत होकर अंधकार मे भटक जाता है। उसे अपने वास्तविक स्वरूप का भान नही रहता। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो हमारे सांस्कृतिक मूल्यो से साक्षात्कार करा सकने में समर्थ हो।

ईश्वर- प्राप्ति की प्रबल इच्छा रखने वाले बिहारीलालजी प्रारम्भ से ही प्रबल जिज्ञासु और अध्ययनशील रहे। उन्होने अपने जीवन-काल मे भारतीय महापुरुषो की जीवनगाथाओ को बड़े मनोयोग-पूर्वक पढ़ा था। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के जीवन का उनके हृदय पर गहरा प्रभाव था। पारिवारिक और सामाजिक जीवन मे वे मर्यादा के प्रबल पक्षधर रहे। गीता के निष्काम कर्म-योग को उन्होने अपने आचरण मे साध लिया था। सामाजिक सेवा-संस्थानो मे कार्य करते हुए वे स्वय पीछे रहकर सारा श्रेय कार्यकर्त्ताओ को ही दिया करते थे। यश की लालसा से वे कभी पीडित नही रहे। भगवान महावीर और बुद्ध की करुणा ने उन्हे अत्यधिक संयमी और सवेदनशील बना दिया था। तपश्चर्या उनकी अनिवार्य दिन-चर्या थी। स्वामी दयानन्द और

विवेकानन्द के प्रखर विचारों की छाप भी उनके जीवन पर स्पष्ट परिलक्षित होती थी। वे सदा पाखण्ड और अन्ध-विश्वास से दूर रह कर सत्य की खोज मे लगे रहे। जीवन भर मुक्त-चिंतन के हिमायती बन कर रहे। वे स्वानुभूत धर्म के निर्भीक प्रवक्ता थे। उन्होने अपनी बुद्धि के द्वार कभी बन्द नही किये। दसो दिशाओ से ज्ञान का प्रकाश अबाध रूप से उनके हृदय तक पहुँचता रहा। स्वयं जैन मतावलम्बी होते हुए भी उनकी दृष्टि सर्व-धर्म–समभाव की ही बनी रही।

नियति के थपेड़े

जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी होती है। धूप-छांह, सुख-दु:ख, सृजन-विसर्जन, यह प्रकृति का शाश्वत नियम है। मृत्यु के हाथो पराजित होना मनुष्य की नियति है। यह एक ऐसा अनुभव है, जहाँ मनुष्य का समस्त अर्जित ज्ञान और सामर्थ्य व्यर्थ लगने लगता है। काल का एक झोंका आता है और एक ही झटके मे सारे माया–मोह के बधन टूट जाते है। जो सबसे अधिक प्रिय और मूल्यवान होता है, वही चला जाता है। पीछे छूट जाता है, मनुष्य के धैर्य और विवेक को चुनौती देता सा निविड अंधकार, शोक और विषाद का अनत पारावार, एक विराट शून्य! क्रूर काल और कठोर नियति ने बार-बार थपेड़े मार कर बिहारीलाल जी की प्रज्ञा को आहत करने का प्रयत्न किया। किन्तु वे अपनी क्षमता और सीमा को पहचानते हुए, किसी अनहद में स्थिर रहकर इस कटु सत्य से साक्षात्कार करते रहे। निश्चय ही मानव-सुलभ दुर्बलताएँ उनमे भी रही होगी। एकांत मे आंसू बहाकर हृदय का बोझ हलका किया होगा। परन्तु अपने परिजनो के आगे भीतर की वेदना को कभी चेहरे पर नही झलकने दिया। असमय लुटने और टूटने के दर्द को दिल मे दबाए रखकर शोक-विह्वल परिवार को ढांढस ही बँधाते रहे।

उनके हृदय पर पहला वज्रघात उस समय हुआ, जब उनके दामाद श्री कमलकुमार का कलकत्ता मे देहात हुआ। किसी असाध्य रोग की गिरफ्त मे आए कमलकुमार को बचाने का आप्राण प्रयास किया गया, पर विधि के विधान को टाला नही जा सका और छोटी सी उम्र मे ही उसका प्राणान्त हो गया। यह सन् १९७२ की घटना है। उस समय उनकी पुत्री गायत्री (गुट्टू) मात्र २४ वर्ष की थी। वह एक लडकी की माँ भी बन चुकी थी। इतनी कम उम्र मे दामाद का चला जाना और गुट्टू का विधवा हो जाना, यह ऐसी दुर्घटना थी, जिसने न केवल बिहारीलाल जी, बल्कि पूरे परिवार को विचलित और हतप्रभ कर दिया। अभी तो गुट्टू ने जीवन-पथ पर पहला कदम ही रखा था कि उसका जीवन-साथी बिछुड गया। परिवार की सबसे लाडली बिटिया का जीवन पहाड़ बन गया, आशकाओ और उपेक्षाओ से भरे वैधव्य का बोझ यह मासूम कैसे ढो सकेगी—यही चिता सबको खाए जा रही थी। आहत खगी सी गुट्टू, आंसुओ मे भीगी—"दीप शिखा सी मौन, भाव मे लीन", विनाश और विषाद को एकटक निहारती रही। माँ के मन की कौन कहे, भाई-बहन भी गुट्टू की इस कारुणिक अवस्था को झेल सकने का साहस नही जुटा पा रहे थे। बिहारीलाल जी चिंता और चिंतन मे डूबे, सबको धैर्य बधाते हुए गुट्टू को इस विनाश से बचा लेने की राह ढूँढ़ते रहे।

निरंतर चलने वाली चिंतन-प्रक्रिया से बिहारीलाल जी को दिशा बोध हुआ। जीना-मरना तो विधि का विधान है, किन्तु बाल्यावस्था मे विधवा हो गई लड़की को जीवन भर वैधव्य भोगना पड़े, यह कोई ईश्वरीय विधान नही है। यह तो सामाजिक व्यवस्था का दोष है। कष्ट

यह मानव-निर्मित व्यवस्था है। इस विनाशकारी व्यवस्था को वदला जा सकता है। आदमी अपनी पत्नी की मृत्यु पर पुनर्विवाह रचा कर नया ससार वसा लेता है, फिर स्त्री ऐसा क्यो नहीं कर सकती ? स्त्री के साथ यह पुरुष वर्ग का अन्याय और अत्याचार नही तो और क्या है ? नही, गुट्टू को इस कुप्रथा का शिकार नही होने दिया जा सकता ! मुझे कुछ न कुछ करना चाहिए। वे इस दिशा मे विचार कर ही रहे थे कि उनके छोटे लड़के सांवरमल ने जैसे उनके मन की वेदना को समझ लिया हो। उसने स्पष्ट घोषणा कर दी कि जव तक गुट्टू का पुनर्विवाह नहीं हो जाता है, मैं शादी नही करूँगा। उसकी सगाई हो चुकी थी और विवाह की तैयारियां चल रही थी। सावर की वात सुनकर सारे परिवार वालो को लगा जैसा उसने उन्ही के मन की वात कह दी है। उसी क्षण विहारीलाल जी के मन का विचार सकल्प वन गया।

उधर गुट्टू की मनस्थिति ऐसी थी कि पुनर्विवाह के लिए उसका प्रस्तुत हो सकना प्रायः असभव ही था। स्त्री-धर्म की मर्यादा, सामाजिक मान्यता और परम्परागत सस्कारो ने उसे किंकर्तव्यविमूढ वना दिया। जैसा कि हर स्त्री ऐसी अवस्था मे करती आई है, उसने भी इस हादसे को अपना भाग्य समझ कर स्वीकार कर लिया था। विहारीलाल जी ने वड़े प्यार से गुट्टू को समझाया कि पुनर्विवाह कोई धर्म और मर्यादा का उल्लघन नही है। पुरुष की तरह नारी को भी यह न्याय-सगत अधिकार प्राप्त है कि आवश्यकता होने पर वह अपना उजड़ा हुआ घर पुनः वसा ले। यह तो व्यवस्था-गत दोष और जड–सस्कारो से मुक्त होने का प्रयास है और इसी मे तुम्हारी और हम सव की भलाई है।

पिता की वातो से गुट्टू को आश्वस्ति मिली। पूरे परिवार के आग्रह को स्वीकार कर लेना ही उसे सगत लगा। अतः सवके सुख और शाति के लिए उसने अपने आप को समर्पित कर दिया। गुट्टू के लिये उपयुक्त वर की खोज की जाने लगी। सकल्प-पूर्वक किया गया प्रयास सफल भी हुआ। सन् १९७३ मे कानपुर के प्रसिद्ध फर्म 'पन्नालाल वावूलाल" के परिवार मे स्व० कैलाशनाथजी के सुपुत्र सुरेन्द्रकुमार के साथ गुट्टू का पुनर्विवाह कर दिया गया। गुट्टू के जीवन की खुशियाँ जो क्रूर काल छीन कर ले गया था, विहारीलालजी ने अपनी सूझवूझ और सकल्प वल से उन्हे काल के हाथो से छीन कर पुनः गुट्टू की झोली मे डाल दिया। गुट्टू को इससे नई चेतना का अहसास हुआ। आशीर्वाद और शुभकामनाओ को आचल मे समेट कर जव गुट्टू ने नव-जीवन मे प्रवेश किया तो परिवार मे जैसे फूल ही फूल खिल गए, दीप ही दीप जल गए !

उस समय तक अग्रवाल समाज मे कुछ एक विधवा विवाह हो चुके थे, फिर भी पुरानी मान्यता और जड–सस्कारो की पकड अभी ढीली नही पडी थी। प्रथम तो स्वय लडकी ही भय, सकोच और सस्कारवश पुनर्विवाह को धर्म–विरुद्ध समझ कर तैयार नही होती थी। वह यदि किसी प्रकार प्रस्तुत हो भी जाती थी तो कोई युवक विधवा स्त्री को अपनाने के लिए आगे आने का साहस नही दिखाता था। पारिवारिक मतभेद के कारण भी ऐसा करने मे कठिनाइयो का सामना करना पडता था। कुल मिलाकर यह काफी हिम्मत और साहस का कार्य था। किन्तु लोकप्रियता और व्यवहारकुशलता के कारण विहारीलाल जी को इस कार्य मे विशेष कठिनाई का सामना नही करना पडा। कलकत्ता के अनेक प्रतिष्ठित समाज–सेवी व्यक्तियो ने उत्साह से इस विवाह मे भाग लिया। पद्मभूषण सीतारामजी सेकसरिया, भागीरथजी कानोडिया, रामकुमारजी भुवालका, भँवरमलजी सिंघी, किशोरीलालजी ढाढनिया, रामकृष्णजी सरावगी आदि अनेक प्रमुख व्यक्तियो ने विवाह मे

उपस्थित होकर वर-वधू को अपना आशीर्वाद प्रदान किया। यह एक क्रान्ति-मूलक कदम था, जो पूरे समाज मे चर्चा का विषय बना।

सन् १९७५ मे एक और चिंताजनक घटना घटी। विहारीलाल जी का वडा लडका तोलाराम कानपुर में सपरिवार रहता था। उसके यहाँ भीषण डकैती पडी। रात के अँधेरे मे कुछ डाकू घर मे घुस आए। स्टेनगन और पिस्तौल दिखाकर सारे घर वालो को वाधकर एक कमरे मे वन्द कर दिया। जो कुछ माल हाथ लगा वह लेकर नो दो ग्यारह हो गये। जाते समय उसकी कार और ड्राईवर को भी उठा ले गए। कुछ समय वाद ड्राईवर को डाकुओ ने मुक्त कर दिया। वह कार लेकर वापिस सकुशल लौट आया। बाद मे पता चला कि ड्राईवर भी डाकुओ से मिला हुआ था।

जैसे ही कानपुर मे यह घटना हुई, दूरभाष पर विहारीलालजी को कलकत्ता सूचना दी गई। विहारीलाल जी ने सर्व प्रथम यही पूछा—"परिवार के लोग तो सव सुरक्षित है ना ?" जब उन्हे वताया गया कि सव कुशल है, तब उन्होने राहत की सास ली और कहा—"तुम लोग घवराओ नही, मैं प्लेन से कानपुर आ रहा हूँ।" विहारीलाजी ने कानपुर पहुँच कर सवको गले से लगाया और ईश्वर को धन्यवाद दिया। जब उनकी पुत्र वधू ने डकैती से होने वाले नुकसान की चर्चा की तो विहारीलालजी ने कहा—"रुपया आदमी से वडा नहीं होता। जो चला गया, उसके लिये चिंता करना व्यर्थ है।" कुछ दिन वहाँ रहकर उन्होने नुकसान की पूर्ति कर दी और काम को व्यवस्थित कर दिया। इस प्रकार वे कठिन से कठिन घडी में भी विचलित न होकर विचार-पूर्वक अपनी राह निकाल लेते थे। पैसे को सिर पर नही, चरण-तले रख कर ही चलते थे। पैसा उनके लिये साधन मात्र था, साध्य नहीं।

डकैती की घटना के कोई ६ वर्ष वाद जो आकस्मिक घटना घटी, वह अत्यत दु खद और हृदय-विदारक थी। कानपुर मे तोलाराम लायन्स क्लब का अध्यक्ष था। क्लब के माध्यम से प्रतिवर्ष होने वाले सेवा कार्यो मे वह बड़े उत्साह से भाग लिया करता था। दुखी और गरीव लोगो के प्रति उसके हृदय मे सहानुभूति थी। यथायोग्य जरूरतमद लोगों की सहायता किया करता था। सहृदयता, सेवाभावना व मिलतसारिता के कारण वह अपने क्षेत्र का लोकप्रिय व्यक्ति था। सन् १९८१ मे लायन्स क्लव की ओर से आँखो की चिकित्सा का शिविर लगा। शिविर मे नेत्र विशेषज्ञ चिकित्सको द्वारा करीव पन्द्रह सौ लोगो की आँखें चेक की गई और कोई चार सौ लोगो की आंखो का आपरेशन किया गया। क्लव के सैकडो लायन्स शिविर की देखभाल मे लगे हुए थे। तोलाराम को भी देर रात गए तक शिविर की प्रवन्ध-व्यवस्था मे व्यस्त रहना पड़ता था। सात जनवरी को जव वह रात को १० वजे घर लौटा तो उसे कुछ थकान सी महसूस हो रही थी। देखते ही देखते उसका जी घवराने लगा और सास लेने मे कठिनाई होने लगी। तुरन्त हार्ट स्पेशलिस्ट डॉक्टर को वुलाया गया। डाक्टर की सलाह से उसे उसी समय अस्पताल मे भरती करवाया गया, जहाँ विशेषज्ञ डाक्टरो की देख-रेख मे उसे सघन चिकित्सा-कक्ष मे रखा गया। रात भर डॉक्टर तोलाराम को खतरे से वचाने का प्रयत्न करते रहे, किन्तु कोई लाभ नही हुआ। सवेरे चार वजे से पहले ही तोलाराम के हृदय की गति रुक गई और उसके प्राण पखेरु उड गए।

उर्मिला पर तो जैसे विजली टूट पड़ी। अकेली वह और छोटे-छोटे वच्चे, वडे धैर्य और हिम्मत से उसने अपने आपको सभाले रखा। ज्योही इस दुखद घटना का पता चला, चारो ओर

शोक छा गया। निकट के सम्बन्धियो द्वारा इस दुर्घटना की सूचना दूरभाप द्वारा कलकत्तावासियो को दी गई। कलकत्ता मे उस दिन बिहारीलालजी के हार्निया का आपरेशन हुआ था और वे रुग्ण-शैया पर विश्राम मे थे। ज्योही फोन पर उन्होने यह शोक-समाचार सुना, वे व्याकुल हो उठे। वे अभी जाने की स्थिति मे नही थे, अत. डाक्टरो ने उनको कानपुर जाने की अनुमति नही दी। उन्होने तुरन्त तोलाराम की माताजी, छोटे भाइयों और पुत्र-वधूओ को कानपुर भेज दिया। तोलारामजी के चाचा-चाची और अनेक निकटस्थ सम्बन्धी भी हवाई जहाज द्वारा कानपुर पहुँच गए। कानपुर पहुँच कर सब लोगो ने तोलाराम की पत्नी और बच्चो को धीरज बँधाया और अन्त्येष्ठि-क्रिया का प्रबन्ध किया। तोलाराम के मित्रो और बन्धु-बान्धवो के अतिरिक्त, कांग्रेस अध्यक्ष, कलक्टर, लायन्स डिस्ट्रिक्ट गवर्नर आदि अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियो ने शव-यात्रा मे भाग लिया। दाह-क्रिया के तुरन्त बाद घाट से ही सारे लोग तोलाराम के परिवार को साथ लेकर कलकत्ता लौट आए।

कानपुर मे जहाँ तोलाराम रहता था, उस पूरे क्षेत्र मे शोक छाया रहा। दुकाने और बाजार बन्द रहे। लायन्स क्लब के सदस्यो और अन्य नागरिको ने शोक प्रस्ताव पास कर स्वर्गीय तोलाराम के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की और शोक-सतप्त परिवार को सवेदना-सन्देश प्रेषित किए।

कलकत्ता पहुँच कर उर्मिला ने ज्योही बाबूजी को देखा, उसके हृदय का बाँध टूट गया। वह बाबूजी की बाँहो मे सिर रखकर फफकने लगी। अब तक जड बनी रही उर्मिला पिघल-पिघल कर बहने लगी। अपनी पुत्र-वधू की कारुणिक अवस्था देखकर बिहारीलालजी तो पत्थर हो गए। उर्मिला को सहलाते हुए उन्होने कहा—"बेटी, जी भर कर रो लो! भीतर की वेदना को रोको नही। उसे पूरी तरह से बाहर आ जाने दो—बह जाने दो।" देर तक उर्मिला बाबूजी की गोद मे सिर टिकाए बिफरती रही—सिसकती रही। बिहारीलालजी ने ऐसी हृदय विदारक स्थिति मे भी अपना सतुलन नही खोया। आँखो मे आँसू लाए बिना अविचलित भाव से सबको सम्भालते रहे, धीरज और शाति बँधाते रहे।

धीरे-धीरे उर्मिला ने अपने को सम्भाला। बाबूजी की छत्र-छाया मे उसने अपने आपको पूर्ण सुरक्षित अनुभव किया। उनकी आश्वस्ति ने उसको नई परिस्थिति को झेलने का बल और साहस प्रदान किया। बाबूजी से उसने जीवन मे बहुत कुछ सीखा-समझा था। वही उसके जीने का सहारा बना। उसने अपना पूरा ध्यान बच्चो के प्रति अपने दायित्व-निर्वाह की ओर केन्द्रित कर दिया।

तोलाराम के स्वर्गवास के कुछ ही महीनो बाद बिहारीलालजी के बडे भाई का लड़का श्रीकिशन अस्वस्थ रहने लगा। ज्यो-ज्यो उसके उपचार का प्रयास किया गया, त्यो त्यो उसकी हालत चिन्ताजनक होने लगी। अपने बेटे के गम से वे सँभल भी नही पाए थे कि भाई के जवान बेटे की हालत गम्भीर होने लगी। बिहारीलालजी के लिये तो जैसे अपना परिवार, वैसे ही भाइयो का परिवार। श्रीकिशन की निरन्तर बिगडती हालत और भावी की आशका से वे उदास और खोये-खोये से रहने लगे। बाबूजी की ऐसी हालत देखकर उर्मिला को बहुत दुख होता था। एक दिन वह पूछ बैठी—"बाबूजी आजकल आप इतने उदास और दुखी क्यो रहते है?" वे बोले—"बेटी जो आदमी तलवार का घाव खा चुका हो और दूसरी तलवार सिर पर लटक रही हो, उसे चिंता तो होती

ही है।" उर्मिला ने शांत भाव से कहा—"बाबूजी, आप ही ने तो हमे संकट के समय धैर्य से काम लेना सिखाया है। आप यदि हिम्मत हार गये तो हम लोग तो कही के नही रहेगे।" उर्मिला की बात से बिहारीलालजी को बल मिला और वे दूसरा प्रहार झेलने के लिए तैयार हो गए।

हजार प्रयत्नो के बावजूद श्रीकिशन को बचाया नही जा सका। सितम्बर १९८१ मे राजगढ़ मे ही उसका स्वर्गवास हो गया। विधवा पत्नी, दो लड़के और चार लडकियो को रोता छोडकर वह सदा-सदा के लिये भगवान को प्यारा हो गया। यह घाव पर चोट लगने जैसी घटना थी, जिससे परिवार का दुख और गहरा हो गया। बिहारीलालजी तो आत्मबल और अध्यात्मज्ञान के सहारे लगातार लगने वाले दोनो झटको को झेल गये। किन्तु, जवान बेटे की मृत्यु ने राधाकिशनजी को भीतर ही भीतर तोड डाला। पिता का हृदय इस सदमे को सम्भाल नहीं सका। उन्हे जिन्दगी व्यर्थ लगने लगी। एक-एक दिन बीतना उनके लिये भारी हो गया। पाच महीने भी वे बडी मुश्किल से बिता पाये थे कि सन् १९८२ के मार्च महीने मे उनके हृदय की गति रुक गई। अकस्मात् ही वे इस असार ससार को छोडकर विदा हो गए। बड़े भाई के विछोह ने बिहारीलालजी को अधीर कर दिया। कधो पर का बोझ बढता ही जा रहा था और उसको संभाले रखने के सिवाय और कोई विकल्प नही था।

"बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय" के अनुसार वे हिमालय की तरह अचल और स्थिर रहकर निरन्तर होने वाले आघातो को सहते हुए भावी पीढी का मार्ग-दर्शन करते रहे। वे एक वीर योद्धा की तरह जीवन-सघर्ष मे डटे रहे। नश्वर शरीर और अनश्वर आत्मा के बोध ने उन्हे पराजित नही होने दिया।

आखिरी धक्का उनको नवम्बर १९८६ मे लगा। राजेन्द्र कुमार सपरिवार रायगढ मे था। दिवाली का दिन था। चारो ओर रोशनी जगमगा रही थी। पटाखो के धमाके हो रहे थे। हर्ष और उत्साह से सारा शहर दिवाली मनाने मे व्यस्त था। राजेन्द्र के घर पर भी दीये जले, बच्चो ने पटाखे छुड़ाये। प्रेमपूर्वक सबने भोजन किया। सपरिवार साथ बैठकर घर मे लक्ष्मीजी का पूजन किया। घर की पूजा सम्पन्न कर राजेन्द्र, उसकी पत्नी अजुला और तीनो बच्चियाँ कार मे बैठकर मिल मे लक्ष्मी पूजा करने के लिये चल पडे। उनकी कार सड़क पर दौड़ती हुई मिल की ओर बढी जा रही थी। सभी के मन मे उमग और उत्साह था। अभी मिल काफी दूर थी। तभी पीछे से एक ट्रक तेजी से आती हुई दिखाई दी। ड्राइवर ने ट्रक को रास्ता देने के लिये गाडी को बायाँ करते हुए सडक से नीचे उतार ली। किन्तु तेजी से दौडती ट्रक सडक-सडक न जाकर राजेद्र की कार से आ टकराई। धक्का इतना जोर से लगा कि राजेद्र की कार दो-तीन चक्कर खाकर दूर जा गिरी। ऐसे मे कार मे सवार किसी का भी बच पाना सम्भव नही था। परन्तु, होनहार बडी विचित्र होती है। कार का ड्राइवर, राजेन्द्र और तीनो बच्चियाँ तो बाल-बाल बच गए। किसी को खरोच तक नही आई। अजुला के सिर मे सांघातिक चोट लगी और वह मूर्छित हो गई। ट्रक का ड्राईवर शराब के नशे मे धुत्त था, उसे पकड लिया गया। अजुला को तुरन्त अस्पताल ले जाया गया, किन्तु डॉक्टरो ने उसे मृत घोषित कर दिया।

उल्लास और आनन्द का वातावरण एक क्षण मे ही दारुण शोक और विषाद मे डूब गया। जगमगाती दिवाली के बीच मृत्यु का एक काला झोका आया और अजुला का प्राण-प्रदीप बुझा

गया। खिलखिलाती हँसी, भयानक हाहाकार मे खो गई। यह दुर्घटना इतनी आकस्मिक और हृदय-विदारक थी, कि जिसने देखा वह कांप गया, जिसने सुना वही हतप्रभ हो गया।

अंजुला की अकाल मृत्यु और कारुणिक अन्त ने बिहारीलालजी को झकझोर दिया। वे मर्माहत हो गए। साहस और धैर्य के जिस किले को वे अभी तक यत्न-पूर्वक सम्भाले हुए थे, वह एक ही झटके मे चूरचूर होकर बिखर गया। "मैं" और "मेरा" का मोह भंग हो गया। स्वप्नवत संसार की निरर्थकता का स्पष्ट बोध होने लगा। माया-ममता के बन्धन चटक-चटक कर टूट गए। अपने और पराये का भेद घुल गया। जीवन की दिशा बदल गई। वे अन्तर्मुखी होने लगे, शरीर और भौतिकता के परे आत्मा के रहस्यलोक मे उतरने लगे। अब वे अधिक ध्यानस्थ और प्रकृतिस्थ थे। एकान्त धर्म-साधना और गुरुदेव की सेवा पर ही उनकी सम्पूर्ण चेतना केन्द्रीभूत होने लगी।

धर्म-साधना

बिहारीलालजी का परिवार मूलत हिन्दू धर्मावलम्बी अग्रवाल हैं। इनके पूर्वजो ने कब जैन धर्म स्वीकार किया, यह कहना कठिन है। अग्रवाल अपने आपको राजा अग्रसेन के वंशज मानते है। कहा जाता है कि राजा अग्रसेन करीब आठवी पीढी मे राजा दिवाकर देव, अग्रोहा की राजगद्दी पर बैठे। उन्ही के समय अष्टांग-पाठी परम विद्वान दिगम्बराचार्य श्री भद्रबाहु के द्वितीय शिष्य लोहाचार्य, भद्दलपुर से विहार करते हुए अग्रोहा पहुचे। उन्ही के उपदेशो से प्रभावित होकर पहले राजा दिवाकर ने सपरिवार जैन धर्म को स्वीकार किया और उसी समय अग्रोहा जनपद मे निवास करने वाले करीब सवा लाख लोगो ने जैन-धर्म को अंगीकार कर लिया।

जैन धर्म श्रमण-परम्परा की शाखा है। संभवतः ईसा की प्रथम शताब्दी मे जैन श्रमण-संघ, श्वेताम्बर व दिगम्बर दो सम्प्रदायो मे बँट गया। आगे चलकर इन दो सम्प्रदायो मे भी अनेक उप सम्प्रदाय बनते चले गये। चूरू-मण्डल मे जैन धर्म की विद्यमानता का प्रथम संकेत रिणी (तारानगर) के जैन मंदिर मे मिलता है। यह मंदिर विक्रम की दसवी शताब्दि के अंतिम वर्षों मे बना माना जाता है। बिहारीलालजी के पूर्वज भी तारानगर के निवासी थे, जो संभवतः अग्रोहा से यहाँ आकर बस गये थे। उस वक्त चूरू-मण्डल के कई नगर जैन धर्म के मुख्य स्थान थे। यह भू-भाग अनेक जैनाचार्यो, भट्टारको, यतियो, मुनियो तथा साध्वियो का न केवल कर्म-क्षेत्र, बल्कि जन्म-स्थान भी रहा। बिहारीलालजी के पूर्वज जो रिणी (तारानगर) मे निवास करते थे, संभवतः दिगम्बर मत के मानने वाले थे।

कालांतर मे जैन-धर्म मे खरतर गच्छ, लौंका गच्छ, ढूंढिया सम्प्रदाय, स्थानकवासी और श्वेताम्बर-तेरापंथ आदि अनेक उप-सम्प्रदायो का विकास हुआ। ऐसा लगता है कि बिहारीलालजी के पूर्वज चन्द्रभानजी जब सन् १८३५ मे तारानगर से राजगढ मे आकर बसे, उस समय राजगढ जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के साधु-साध्वियो के प्रभाव मे था। उन्ही के उपदेशो से प्रभावित होकर चन्द्रभानजी तेरापथ-सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। तब से लेकर आज तक यह परिवार तेरापंथी बना हुआ है। यद्यपि इनके विवाह-सम्बन्ध आज भी सनातनी अग्रवालो के साथ ही होते है, पर इनकी धर्म-साधना तेरापंथी सम्प्रदाय के अनुसार चलती है। जन्म-मरण, विवाह आदि कार्य सनातन पद्धति से होते हुए भी ये लोग व्रत, उपवास, सामायिक आदि धार्मिक-कृत्य तेरापंथी सम्प्रदाय

द्वारा स्वीकृत धर्म-संहिता के अनुसार ही करते है। विहारीलालजी वर्तमान जैन-श्वेताम्बर तेरापंथ धर्म के आचार्य श्री तुलसी के परम भक्त थे।

तेरापथ सम्प्रदाय लगभग सवा दो सौ वर्ष पुराना है। जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव हुए है। भगवान महावीर चौवीसवे और अतिम तीर्थ कर थे। आगम सिद्धान्तो पर आधारित जैन-धर्म की दो प्रमुख शाखायें, दिगम्बर और श्वेताम्बर है। तेरापथ का सम्बन्ध श्वेताम्बर शाखा से है। किन्तु इसके तत्व वे ही है जो जैन धर्म के नित्य और शाश्वत रहे है। जैन-श्वेताम्बर तेरापथी मत के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु थे, जिनका जन्म आषाढ सुदी १३ सम्वत् १७८३ को मारवाड राज्य के कटालिया ग्राम मे हुआ था। भिक्षु स्वामी जैन-श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक शाखा विशेष के आचार्य श्री रघुनाथ जी के शिष्य थे। किन्तु गुरु रघुनाथजी से धर्म के सच्चे मार्ग के सम्बन्ध मे इनका मतभेद हो गया और ये अलग हो गये।

एक समय जोधपुर के बाजार मे एक खाली दुकान मे श्रावको ने सामायिक और पौषादि किया। उसी समय जोधपुर के दीवान फतेहचन्दजी का बाजार मे से होकर गुजरना हुआ। श्रावको को बाजार मे चौहटे मे सामायिक आदि धर्म-कृत्य करते देख कर उनको आश्चर्य हुआ। पूछने पर श्रावको ने भिक्षु स्वामी के आचार्य रघुनाथजी से अलग होने की सारी बात बताई। साथ ही यह भी बताया कि जैन शास्त्रो की दृष्टि से अपने निमित्त बनाये मकानो मे रहना साधु के लिये अशोभनीय है। फतेहचन्दजी को बताया गया कि भिक्षु स्वामी के मतानुयायी १३ साधु हैं। सयोगवश उस समय वहाँ १३ही श्रावक उपस्थित थे। यह देख कर एक सेवक कवि ने यह दोहा जोड़ दिया—

आप आप रो गिलो करै, आप आप रो मत
सुणज्यो रे शहरा रा लोगाँ, ओ तेरापंथी तत

इस प्रकार कवि ने इनके पथ को तेरापथी नाम से सम्बोधित किया। उस सेवक कवि के मुख से आकस्मिक तेरापथी नाम सुन कर आचार्य भिक्षु ने उसका बहुत ही सुन्दर अर्थ लगाया। उन्होने कहा कि, जिस पथ मे पाँच महाव्रत, पाँच सुमति और तीन गुप्ति है, वही तेरापथ है। दूसरा अर्थ किया—"हे प्रभु यह तेरा पथ"। इस प्रकार तेरापंथ का नामकरण हुआ।

भिक्षु स्वामी तेजस्वी, तपस्वी व कठोर व्रतधारी थे। वे वर्चस्व के धनी, विभूति-सम्पन्न देव-पुरुष थे। उन्होने अपने शील, तप और साध्वाचार से सम्पन्न चरित्र के आदर्श के द्वारा तेरापथ सम्प्रदाय की न केवल नीव ही सुदृढ की, वरन् उसे दूर-दूर तक फैलाया भी। आज भारत के प्राय: प्रत्येक राज्य मे इस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। भिक्षु स्वामी ने अपने जीवन काल मे ४९ साधुओ और ५६ साध्वियो को प्रव्रजित किया। उनके पश्चात् स्वामी भारीमलजी, रायचन्दजी, जीतमलजी (जयाचार्य), मेघराजजी, मानिकलालजी, डालचदजी, कालूरामजी ये आठ आचार्य हुए। अब नवम आचार्य श्री तुलसीजी है।

आचार्य तुलसी का जन्म सवत् १९७१, कार्तिक सुदी दूज को लाडनू मे हुआ। सवत् १९८२, मिती पौष कृष्णा पचमी को इनकी दीक्षा समाप्त हुई। सवत् १९९३, भाद्र शुक्ला तीज को अष्टमाचार्य श्री कालूरामजी ने इन्हे पट्टधर घोषित किया। आप उद्भट विद्वान, तथा त्याग और वैराग्य के मूर्तिमान स्वरूप है। अणुव्रत आन्दोलन प्रारम्भ कर इन्होने मानवता की सेवा मे महान योगदान दिया है। तेरापंथी मूर्ति-पूजा मे विश्वास नही करते। ये तीर्थंकरो की भाव-पूजा या ध्यान करते हैं। व्यक्ति की नही, गुणो की पूजा करते हैं। साधु-साध्वी सासारिक कार्यो

के साथ कोई ससर्ग नही रखते। ये केवल आत्मिक उत्थान द्वारा नैतिक उन्नति और मोक्ष का मार्ग दिखाते है। पथ के व्यापक प्रचार की दृष्टि से वर्तमान, युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसीजी ने श्रमण दीक्षा का प्रारम्भ किया है, जिसमे साधु-जीवन के कठोर नियत्रण को थोड़ा ढीला कर दिया गया है, ताकि धर्म-प्रचारको को प्रचार-कार्य मे असुविधा न हो। राजगढ मे इस सम्प्रदाय के अनुयायी प्राय व्यापारी वर्ग है। तेरापथियो के सामाजिक रीति-रिवाज हिन्दुओ जैसे ही है। धर्म-साधना मे वह मूर्ति-पूजक न होकर भाव-पूजक है। इस सम्वन्ध मे आचार्य श्री द्वारा रचित पद की ये पक्तिया दृष्टव्य है :—

"चिन्मय न मृणमय न वणाऊँ, नाहि मैं जड-पूजारो,
न करूँ केसर-चदन-चर्चित, अविनय नाथ तुम्हारो
प्रभू म्हारे मन-मन्दिर मे पधारो।"

विहारीलालजी तेरापथ सम्प्रदाय के निष्ठावान श्रावक थे। कलकत्ता मे "श्री जैन श्वेताम्वर तेरापथी महासभा" के वे अध्यक्ष थे। अपने कार्यकाल मे उन्होने सभा के माध्यम से सामाजिक एकता और सगठन को सुदृढ बनाने के लिये अथक प्रयास किया। अपने आदर्श, विचार, त्याग और सेवाकार्यो से इन्होने समाज मे सम्मानजनक स्थान बना लिया था। आप "पश्चिम वंग प्रादेशिक अणुव्रत समिति" के अध्यक्ष भी रहे। वगाल मे अणुव्रत आन्दोलन को आगे बढाने मे इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। अणुव्रत आन्दोलन के बारे मे आप के विचार इस प्रकार थे—

'अणुव्रत का अर्थ है—छोटे छोटे व्रत। महाव्रत, यानी व्रतो का पूर्णतया पालन करना हम सांसारिक व्यक्तियो के लिये सभव नही है। उसका पालन तो साधु-मुनि, जिन्होने ससार त्याग दिया है, कर सकते है। इसलिये हम सासारिक प्राणियो के लिये उन व्रतो का आशिक रूप मे पालन करना बताया गया, जो मनुष्य-जीवन के लिये आवश्यक और विशेप उपयोगी है। व्रत का अर्थ है—सकल्प, प्रतिज्ञा। व्रत के बिना जीवन उच्छृंखल बन जाता है। भारतीय सस्कृति मे व्रत यानी सकल्प के द्वारा अपने मन व इ द्रियो को वश मे रखने का सदा ही विशेप महत्व रहा है।"

आचार्य श्री ने भारतीय शाश्वत सस्कृति के व्यापक दृष्टिकोण को जन-मानस को समझाने के लिये, नये रूप मे अणुव्रत के माध्यम से जनता के समक्ष रखा है।

अणुव्रत किसी सम्प्रदाय विशेष से चिपका हुआ नही है। यह सही है कि इसके प्रणेता जैन धर्म की एक शाखा "तेरापथ" के आचार्य है। लेकिन उनका दृष्टिकोण बहुत उदार एव विशाल है। अणुव्रत मे वर्ण, जाति, सम्प्रदाय व रग-भेद नहीं है। गरीब, अमीर, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, भारतीय, अभारतीय सब समान रूप से इसे ग्रहण कर सकते है। सबके लिये ग्राह्य बनाने के लिये आचार्य श्री ने कितनी उदारता व विशालता का परिचय दिया है। उनका कहना है— "जीवन की पवित्रता मे विश्वास रखने वाला हर मानव अणुव्रती बन सकता है।" उनके मन मे मानव के कल्याण व उत्थान की गहरी पीडा है, अत उन्होने स्पष्ट घोषणा की—"मैं अणुव्रत को किसी सम्प्रदाय से नही, बल्कि मानवधर्म के साथ जोडना चाहता हूँ।" अणुव्रत आन्दोलन जन-जन मे नैतिक निष्ठा उत्पन्न करने का अभियान है। यह धर्म तथा समाज के क्षेत्र मे व्याप्त विसंगतियो को दूर करना चाहता है। यह आन्दोलन सुधार भी है, और क्रान्ति भी। यह सुधार इसलिये है कि इसका लक्ष्य व्यक्ति का सुधार करके समष्टि का सुधार करना है। यह क्रान्ति इस अर्थ मे है कि इसका लक्ष्य शोषण, धन-लोलुपता और आर्थिक पद्धति से उत्पन्न होने वाली अन्य बुराइयो को समाप्त करके समाज के दृष्टिकोण मे आमूलचूल परिवर्तन करना है।

हर प्राणी सुख से जीना चाहता है। लेकिन प्रश्न यह है कि सुख व शाति प्राप्त कैसे हो, आज के इस संघर्षमय युग मे जबकि चिन्तन की दिशा बदल रही है, सर्वत्र एक भय है, आक्रोश है, असन्तोष है, उन्माद है और स्वभावत: परिणाम मे अराजकता व अशाति की स्थिति है। व्यक्ति व समाज के सामने आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक अनेक समस्याएँ है। सुख व शाति मनुष्य को सयम व सादगी द्वारा ही मिल सकती है, और अणुव्रत उसी का माध्यम है। वह जीने की सही कला सिखाता है। आज हम भौतिक विकास और सुख-सुविधा की ओर दौड़ रहे हैं, और यह भी निर्विवाद है कि भौतिक साधनो की वाढ सी आ गई है। हम चन्द्रलोक तक पहुँच गये है और आगे भी पहुँचने का प्रयत्न जारी है। लेकिन क्या इस भौतिक विकास द्वारा समस्याओ का समाधान हुआ, मानव को सुख व शाति मिली ? उत्तर होगा—नही, नही, नही। "मर्ज बढता गया ज्यो ज्यो दवा की।" पश्चिमी देशो के भौतिक विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि इससे सुख-शांति नही मिल सकती। दुनिया के सबसे धनी देश अमेरिका मे सबसे अधिक आत्म-हत्याएँ होती है और टनों नीद की गोलिया वहीं विकती है। यह इस वात का प्रमाण है कि मात्र भौतिक विकास से सुख-शाति की प्राप्ति सम्भव नही है।

समस्याओ का समाधान व्यक्ति के हृदय के देवता को जगाने से होगा। और यही काम अणुव्रत करता है। अणुव्रत की उपयोगिता को सभी महान शिक्षाविदो, नेताओ, दार्शनिको, चिंतको विचारको और राजनैतिक नेताओ ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। इसे अत्यावश्यक और समयोचित वताया है। वर्तमान का जीवन जो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के रोग से बुरी तरह आक्रान्त है, अणुव्रत उसकी इस विकट उलझन को सुलझाता है। स्वस्थता एवं आन्तरिक शाति प्रदान करता है।

प्रश्न यह उठता है कि इसे क्रियान्वित कैसे किया जाय ? धर्म को करवट लेनी होगी। वह इतने दिन उपासना और कर्मकाण्ड की करवट लेट रहा था। अव उसे आचरण की करवट लेटना होगा। अव तक के धार्मिक की पहचान मन्दिर, माला, जाप, दान, पूजा आदि विधियां थी, अव उसकी पहचान उसका आचरण होगी। तथाकथित धार्मिको ने धर्म को वन्दी वना लिया है। मन्दिरो, मठो और विहारो मे जकड लिया है। उपासना और पर्युपासना मे ही जो लोग जड बन गये हैं, उनमे नये प्राण फूँकने होगे, और यही काम अणुव्रत कर रहा है।

धर्म के प्रति उदार दृष्टिकोण के कारण विहारीलालजी जैन-जगत और सनातन-समाज, दोनो मे समान रूप से आदरणीय बने रहे। गुरु-कृपा से उनको आत्म-बोध हुआ। आत्मावलम्वन के सहारे उन्होने सत्य से साक्षात्कार किया। अहिंसा और सयम के महती रूप को जीवन का अंग वनाया। अपने जीवन मे उन्होने अनेक छोटे छोटे व्रत धारण किए। युग-प्रधान आचार्य श्रीतुलसी प्रणीत अणुव्रत कार्यक्रम मे पूर्ण आस्था प्रकट की और उसके प्रचार-प्रसार मे तन-मन-धन से सहभागी बने। आत्म-बोध के मार्ग पर वह वहुत सोच-सोच कर कदम रखते रहे। गुरुदेव की कृपा से वे निरन्तर आगे ही बढ़ते गये। मार्ग मे भटके नही, रुके नही, विश्राम नही किया।

व्रतो की शृंखला मे उन्होने लम्वे लम्वे व्रत भी वडे आत्म-विश्वास और प्रसन्न मन से पूर्ण किए। एक बार उन्होने १५ दिनो का लम्बा उपवास रखा, लेकिन उपवास के दिनो मे भी वे प्रतिदिन प्रात. भ्रमण: करते, कार्यालय जाते और अपना समस्त काम नियमित रूप से करते रहे। व्रत के कारण कोई थकान, कमजोरी या शिथिलता के चिह्न चेहरे पर कभी दिखाई नही दिये। वे

वरावर स्थितप्रज्ञ वने रहे। सन् १९८६ में पर्यूषण पर्व की आराधना खूब उत्साहपूर्वक सम्पन्न की। पति-पत्नी दोनो ने आचार्य प्रवर से आठ दिन की श्रमणोपासक दीक्षा ली। संवत्सरी का उपवास अष्ट-प्रहरी पौषद व्रत के साथ किया करते थे। एक वार उपवास के वाद उन्होने अपने परम मित्र श्री रामनारायणजी वर्मा को पत्र मे लिखा—

"इस उपवास से वहुत आनन्द आया। ऐसी अनुभूति हुई कि आनन्द त्याग मे है, भोग मे नही। भोग मे हमने मान रखा है, जो हमारी भयकर भूल है। सयम खलुजीवनम्—सयम ही जीवन है। प्रायोगिक रूप मे अनुभूत करने से ही इसे जाना जा सकता है। आवश्यकताएँ इतनी सीमित हो जाती है कि अन्दाजा लगाना कठिन हो जाता है।" इस प्रकार वे प्रत्येक धार्मिक कृत्य को चिन्तन के स्तर पर जानने और परखने का प्रयास करते थे। वे जीवन भर सत्य, आत्मा और परमेश्वर की खोज मे लगे रहे। निरन्तर धर्म-साधना ने उनके व्यक्तित्व को और अधिक आकर्षक और तेजस्वी वना दिया था।

उनकी ऐसी धर्म-परायणता और कार्य-निष्ठा से प्रभावित होकर समाज ने उन्हे "जैन विश्व भारती", लाडनूँ का अध्यक्ष चुना। जैन विश्व भारती, तेरापथ सम्प्रदाय की चहुँमुखी धर्म-साधना का विशाल केन्द्र है। अनेक साधु-साध्वी इस केन्द्र मे जैन-धर्म और दर्शन का अन्य धर्मों के साथ तुलनात्मक अध्ययन-मनन करने मे जुटे रहते है। धार्मिक ग्रन्थों के लेखन और प्रकाशन का कार्य विशेषज्ञ विद्वानों के निर्देशन मे होता रहता है। आत्म-साक्षात्कार कराने वाले प्रेक्षा-ध्यान के शिविर लगते है, जिनमे सैकडो जैन और अजैन भाग लेते हैं। तनाव-मुक्ति और मानसिक स्वास्थ्य लाभ के लिये देश के विभिन्न भागो से इन शिविरो मे भाग लेने वालो का ताता लगा रहता है। विभिन्न स्तरो पर चलने वाले प्रयोगो के कारण यह विशाल साधना-केन्द्र तेरापथी समाज का तीर्थ-स्थल तो वन ही गया है, साथ ही ससार भर के जिज्ञासु, विद्वान, मनीषी, समाजशास्त्री, राजनेता और अध्यात्म के साधक अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी को देखने-जानने और समझने के लिये दौडे चले आते हैं। ऐसे महान प्रतिष्ठान का अध्यक्ष-पद विहारीलालजी को सौपना ही उनकी योग्यता और वैशिष्ट्य का परिचायक है। जैन-दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान रखने वाले, आगम-शास्त्रो के ज्ञाता और जैन विश्व भारती के कुलपति श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया के वे परम सखा और मित्र रहे। रामपुरियाजी के साथ कधे से कधा मिलाकर उन्होने विश्व-भारती के सम्मुख उपस्थित अनेक कठिन समस्याओ के समाधान मे अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। दोनो ने दिन-रात लगे रह कर प्रचुर धन सग्रह किया और विश्व भारती की आर्थिक स्थिति को सदा-सदा के लिये सुदृढ कर दिया।

अनुदान-सग्रह मे आने वाली कठिनाइयो से वे भलीभाति परिचित थे। वे प्राय. श्रीचन्दजी रामपुरिया को साथ लेकर ही अनुदान-सग्रह के लिये निकलते थे। एक वार एक सज्जन आज-कल पर वात टालते रहे। तीसरी वार जव वे उनकी गद्दी पर गये तो द्वार के पास ही वैठ गये। उन सज्जन का ध्यान ज्यो ही विहारीलालजी की ओर गया, वे गद्दी से उठकर उनके पास आए और उनका हाथ पकड कर कहा—"आप यहा कहाँ वैठ गए ? ऊपर पधारिये।" विहारीलालजी ने कहा—"नही भाई, मागने वाले की जगह यही होती है।" वे सज्जन वहुत शर्मिन्दा हुए और क्षमा मागी। अन्त मे प्रस्तावित राशि से अधिक देकर ही उन्हे विदा किया।

एक बार एक अनुदान-दाता ने उनसे कहा कि आपकी संस्था को दान देने से अच्छा है, पैसे गगाजी मे वहा देना। उन्होने बड़े शांतभाव से इसका कारण पूछा। वे सज्जन बोले—"आपकी संस्था मे वडा घोटाला चलता है, वहाँ की व्यवस्था ठीक नही है।" उन्होने पूछा "आप विश्व भारती कब गये थे?" वे बोले—"जाने का मौका तो कभी नहीं मिला, पर मैंने ऐसा ही सुना है।" विहारीलालजी ने कहा कि—"आपने सुनी-सुनाई बातो से ऐसी धारणा वना ली, यह उचित नही है। आप हमे तो जानते हैं, क्या हम लोग किसी गलत संस्था में काम करना पसन्द करेंगे?" बात उन सज्जन की समझ मे आ गई और उन्होने सहर्ष दान देकर उन्हे विदा किया।

जैन विश्व भारती के तात्कालिक मन्त्री श्री शकरलालजी मेहता के साथ भी उनकी गहरी आत्मीयता थी। मेहताजी जब कभी कार्य की कठिनाई के सम्वन्ध मे चर्चा करते, वे उनका उत्साह बढाते हुए कहा करते—"आपने बहुत कार्यालय सम्भाले हैं। इसे भी सम्भालो। मैं आपको वित्तीय कठिनाइयाँ नही आने दूँगा। परन्तु फिजूलखर्ची न हो, यह देखना तो हम सभी का काम है।" इस प्रकार सस्था को सदा वित्तीय लाभ होता रहे, इस बारे मे वे सदा सावधान रहते थे। सस्था को एक दिन के व्याज का घाटा भी न हो, इसका ध्यान रखते थे। उनके सुझाव, निर्देशन, मार्ग-दर्शन सब आत्मीयता से ओत-प्रोत होते थे। उनका कड़ापन भी किसी विषय के स्पष्टीकरण के लिये ही होता था। कार्यकर्त्ताओं का वे सदा आदर करते थे, और उनकी सुविधा-असुविधा का ध्यान रखकर ही आवश्यक निर्देश देते थे। विश्व-भारती के कर्मचारियो मे असंतोष उत्पन्न न होने पाये, इसके लिये उन्होने उनकी वेतन वृद्धि भी कर दी। उनकी ऐसी सदाशयता और उदारता का प्रभाव सभी कर्मचारियो के मन पर पड़ा। सभी उनका हृदय से आदर करते थे।

पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री तुलसी से समाज को मिलने वाले आध्यात्मिक पोषण के महत्व को उन्होने वहुत गहराई से समझा था। गुरुदेव के चरणो मे उनका स्वाभिमानी शीष ही नही, कृतज्ञ मन भी झुकता था। उनका साहित्य-प्रेम भी अद्भुत था। विश्व-भारती से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'प्रेक्षा-ध्यान' को वे बड़े ध्यान से पढ़ा करते थे। कभी-कभी स्वय लिखते और अपने सुझाव भी देते। इतना ही नही, वे पत्रिका में छपी त्रुटियो की ओर भी ध्यान आकर्षित करते रहते। किसी विषय पर बोलने के लिये खड़े होते थे, तो एक-एक शब्द को तोल-तोल कर रखते थे। जैसे वे जोर देकर कहते थे—"मेरी बात को सुना जाये।" उनमे गजब की कार्य-क्षमता थी। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा वे सदा अपनी चेतना को तरोताजा बनाए रखते थे। उनके सामाजिक विचार वहुत स्पष्ट और सुलझे हुए थे। वे कहा करते थे कि—"सस्था के हित मे व्यक्ति को अपना अहं और सैद्धान्तिक प्रतिवद्धता का वलिदान कर देना चाहिए। इसी मे देश, राष्ट्र और समाज सवका हित निहित है।" फिर भी वे अपने विचारो को किसी पर थोपने का प्रयास नही करते थे।

कार्य के सिलसिले मे अत्यधिक भाग-दौड करते देख कर उनके पुत्रो ने उनसे आग्रह किया, जो कुछ देना हो, विश्व-भारती को अपने पास से एक बार मे ही दे दीजिए और विश्राम कीजिये? लेकिन उन्होने कहा कि जीवन के प्रत्येक क्षण का सद्उपयोग कर लेना ही जीवन की सार्थकता है। फिर गुरुदेव के चरणो की सेवा छोड़कर अब और जाना भी कहाँ है? इस प्रकार अपने मिशन के प्रति पूर्ण समर्पित होकर वे निरन्तर सेवा कार्य मे जुटे रहे। उनकी ऐसी निष्ठा और दृढता का प्रभाव उनके पूरे परिवार पर भी पडे विना न रहा। उनकी पत्नी, पुत्र, पुत्र-वधुएँ और बच्चे सभी श्रद्धा-पूर्वक धर्म-साधना और सेवा-कार्य मे लगे हुए हैं। प्रात.काल चार बजे उठ जाना,

सामायिक करना, भ्रमण के लिए जाना, धार्मिक ग्रन्थों का पाठ करना, ध्यान करना आदि धार्मिक कृत्य पूरे परिवार का नियम बना हुआ है। परिवार मे रात्रि-भोजन का त्याग, खास-खास तिथियो पर हरी सब्जियो और कन्द-मूल खाने का निषेध रखा जाता है।

सभी धर्म-सम्प्रदायो के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए भी जैन-धर्म के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा रही। वे तेरापथ धर्म सम्प्रदाय और अणुव्रत आन्दोलन के प्रखर प्रवक्ता थे। साठ साल की उम्र मे ही उन्होने सारा व्यापार-धन्धा अपने पुत्रो को सौप कर स्वय कार्य-मुक्त हो गये। बाद का सारा समय धर्म-साधना और गुरुदेव आचार्यश्री की सेवा मे व्यतीत किया। उनकी ऐसी धर्म-निष्ठा और निष्काम सेवा भावना का आदर करते हुए आचार्य प्रवर ने उनको "दृढधर्मी" की उपाधि प्रदान की। वे पहले जैन-विश्वभारती के उपाध्यक्ष रहे। बाद मे लगातार तीन वर्षों तक अध्यक्ष-पद का भार सम्भाला। अन्त मे वे विश्व-भारती के 'कुल स्थविर' हो गए।

महाप्रयाण

अपनी चतुर्थ पुत्र-वधू अजुला के आकस्मिक निधन के बाद बिहारीलालजी मे वैराग्य का उदय हो गया था। वे प्रतिक्षण आत्मस्थ रहने लगे। ऊपर से अविचल और अविकल लगते हुए भी उनकी जीवन-वीणा के तार भीतर ही भीतर टूटते चले जा रहे थे। सम्भवतः उन्हे ऐसा पूर्वाभास भी होने लगा था कि यात्रा का अन्त अब सन्निकट ही है। फरवरी सन् १९८७ मे वे सपत्नीक गुरुदेव आचार्य श्री तुलसी के दर्शनार्थ राजस्थान गए। गुरुदेव उन दिनों रतनगढ मे विराज रहे थे। वही पाँच फरवरी से सात फरवरी तक माघ महोत्सव का कार्यक्रम होने वाला था। बिहारीलालजी एक फरवरी को रतनगढ पहुँचे। रतनगढ़ मे उनके सम्बन्धियो ने उनके ठहरने के लिये मकान की व्यवस्था कर रखी थी, जहाँ जाकर वे ठहर गए। दो तारीख को उनका लडका राजेन्द्र कुमार, और बच्चे तथा अन्य पारिवारिक सदस्य रतनगढ पहुचने वाले थे। बिहारीलालजी सबको लिवा लाने के लिए स्टेशन जाने वाले थे।

उस दिन वे आचार्यश्री के दर्शन करने जा रहे थे, तो रास्ते मे ही उनकी तबीयत गडबड़ाने लगी। वे अकेले पैदल ही घूमते-घामते चले जा रहे थे। घंटाघर तक पहुँचते-पहुँचते उनको चक्कर सा आने लगा। उन्होने घंटाघर की दीवार का सहारा लेकर अपने आपको सँभालने का प्रयत्न किया। किन्तु सम्भल नही सके और बैठते-बैठते दीवार के सहारे लुढक गए। उसी समय एक तागा उधर से गुजरा। ताँगे वाले ने उनको सदेहास्पद स्थिति मे देखकर आस-पास के लोगो को उनको सम्भालने के लिये सकेत किया। कुछ लोगो ने दौड़कर उनको सहारा देकर उठाया। उसी समय उनके एक परिचित व्यक्ति भी वहा पहुँच गये। वे लोग उन्हे सावधानीपूर्वक ताँगे मे बिठाकर उनके निवास-स्थान पर ले आए। खबर पाते ही उनके सगे-सम्बन्धी और मित्र वहाँ पहुँच गये। तुरन्त डॉक्टर को बुलाया गया। डॉ० ने उनके स्वास्थ्य की जांच की और कहा कि चिन्ता की कोई बात नही है। डॉ० के बताए अनुसार दवा उनको दी गई और वे पूर्ण स्वस्थ दिखाई देने लगे।

उनके परिवार वालो को स्टेशन से लाने के लिए अन्य लोग गाडी लेकर गए और सबको ले आए। जब परिवार वालो ने इस घटना के बारे मे सुना तो सभी को चिन्ता हुई, किन्तु बिहारीलालजी ने अपनी बातो से सभी को आश्वस्त कर दिया। उनके आत्मबल मे किसी प्रकार की कमी

दिखाई नहीं दी। उसी दिन वे सबको साथ लेकर आचार्यश्री के दर्शन कराने के लिए भी ले गये।

दूसरे दिन बिहारीलालजी की पत्नी और परिवार वालो ने कहा कि "आपका स्वास्थ्य ठीक नही है, इसलिये अब हमे यहाँ और न रुक कर, गुरुदेव के दर्शन कर कलकत्ता लौट चलना चाहिए।" किन्तु बिहारीलालजी ने बताया कि "चिंता की कोई बात नही है। माघ महोत्सव देखकर हम लोग चले चलेंगे।" पाँच और छ: फरवरी को सब लोगो ने महोत्सव मे भाग लिया। छ: फरवरी की शाम को ही वे दिल्ली के लिये प्रस्थान कर गए। सात फरवरी को सुबह का हवाई जहाज पकड कर वे कलकत्ता चले आए। कलकत्ता मे अपने निवास स्थान तक पहुँचते-पहुँचते करीब डेढ़ बज गया। घर पहुंच कर उन्होने काफी संतोष का अनुभव किया। किन्तु घर वालो ने उनके चेहरे से झलकती थकान और बेचैनी को स्पष्ट रूप से देख लिया। उसी समय उनके घरेलू चिकित्सक को बुलाया गया। उसने उनके स्वास्थ्य की अच्छी प्रकार जाँच की और दवा दे दी। दिन भर वे सभी से बातें करते और मिलते रहे। रात को उनके सिर मे भयानक दर्द होने लगा। उनको औषध दी गई, किन्तु दर्द कम नही हुआ। देर रात गए तक वे दर्द से तडफते रहे।

सबेरे जब उठे तो काफी स्वस्थ दिखाई दे रहे थे। सबको अपने पास बुला बुला कर सिर पर हाथ फेरते और मस्ती से बातें करते रहे। जब उन्हे चुप रहकर आराम करने के लिए कहा गया तो वे बोले—"मुझे शेर की तरह जीने दो! गीदड मत बनाओ।"

१४ फरवरी तक घर पर ही उनकी चिकित्सा चलती रही। इसी बीच एलोपैथी, होमियोपैथी आयुर्वेदिक और हृदय-रोग विशेषज्ञ आदि कई चिकित्सक उनको देख चुके थे। १४ फरवरी को ही डॉक्टरो की सलाह के अनुसार उनको कलकत्ता के प्रसिद्ध नर्सिगहोम "बेल-व्यू" मे भरती करवा दिया गया। वहां विशेष डॉक्टरो की देखरेख मे उन्हें सघन-चिकित्सा कक्ष मे रखा गया। सतरह फरवरी को अचानक उनकी अवस्था काफी गम्भीर हो गई। किन्तु अठारह को फिर उनके स्वास्थ्य मे सुधार के लक्षण दिखाई देने लगे। इस बीच गोहाटी, कानपुर, बगलौर आदि सभी स्थानो से उनके भाई, लडके, लडकियां, पुत्रवहुएँ आदि पूरा परिवार कलकत्ता पहुँच चुका था। बिहारीलालजी सबसे मिलते रहे और आशीर्वाद देते रहे। सबको आशा बँधने लगी कि वे शीघ्र ही पूर्णरूप से स्वस्थ हो जायेंगे। उनको जल्दी ही नर्सिगहोम से घर ले आने का विचार चल रहा था।

बिहारीलालजी की अस्वस्थता का समाचार जब आचार्य श्री तुलसी तक पहुँचा तो उन्होने आध्यात्मिक सदेश दिया—

"बिहारीलालजी जैन हार्ट की बीमारी के कारण हास्पिटल मे उपचार करा रहे हैं। वे काफी अस्वस्थ हैं, ऐसा खेमचन्दजी सेठिया के पत्र से ज्ञात हुआ। वे बडे कर्मठ, पचशील-सम्पन्न, धर्म-शासन को अपनी सेवाएँ समर्पित करने वाले, सघ के अच्छे प्रवक्ता, जैन विश्व भारती के पूर्व अध्यक्ष, वर्तमान मे कुल स्थविर, अनेकानेक विशेषताओ से विशिष्ट दृढधर्मी श्रावक है। उन्होने इन वर्षो मे सघ-सेवा का इतिहास बनाया है। आज वे रोगशय्या मे है। अनेक लोगो के लिए यह चिन्ता का विषय है। **पर चिन्ता नहीं, चिंतन करें। व्यथा नहीं, व्यवस्था करें।** इस सूत्र को समय-समय पर याद करने वाले बिहारीलालजी अवश्य चिंतन-मग्न होगे, कि इस अवसर पर मेरा मनोबल दृढ रहे, दुनियावी मोहमाया से मैं ऊपर उठकर अध्यात्म भावना से भावित रहूँ और देव-गुरु-धर्म की शरण मे अपने आपको समर्पित कर दूँ। यही भावना उनके जीवन का सहारा, सम्बल और पाथेय बनेगी।

उनके पारिवारिक लोग पुत्र-पौत्र, इष्ट-मित्रजन आदि भी उन्हें ऐसा सहयोग दें, जिससे उनका जीवन और अधिक हलका, सहज एवं ऋजु बन जाए। उनके प्रति मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।"

१ मार्च, १९८७ — आचार्य तुलसी

चूरू

आचार्य श्री तुलसी की तरह और भी उनके अनेक सम्बन्धियो और इष्ट-मित्रो ने उनके स्वास्थ्य-लाभ की कामना करते हुए पत्र प्रेषित किए। किन्तु चिकित्सा के सारे प्रयत्नो और शुभ-कामनाओ का आभार स्वीकार करते हुए बिहारीलालजी ने २७ फरवरी १९८७ को रात्रि दस बजे अपने भौतिक शरीर का त्याग करते हुए चिर समाधि ले ली। दीप-निर्वाण हो गया। स्नेह-शिखा का झिलमिलाता प्रकाश दिग्‌दिगतरो मे फैलकर विलीन हो गया। साकार निराकार हो गया।

बिहारीलालजी की मृत-देह को आदर पूर्वक ठण्डे-घर मे रख दिया गया। उनकी अन्तिम इच्छा का अनुसरण करते हुए पारिवारिक-जन रात भर भजन-कीर्तन करते रहे। दूरभाष पर सभी सगे-सम्बन्धियो और इष्ट-मित्रो को खबर कर दी गई। २८ फरवरी १९८७ को सभी कलकत्ता पहुँच गए। उसी दिन उनकी अन्त्येष्टि की गई। सैकड़ो लोगो ने उनकी भाव-भीनी विदाई-यात्रा मे भाग लेकर उनको कधा दिया। इस प्रकार बिहारीलालजी की इहलौकिक लीला का समापन हो गया।

राजगढ, लाडनूँ, रतनगढ, कानपुर, बगलौर, बिलासपुर, तिनसुकिया आदि जहाँ जहाँ उनके स्वर्गवास के समाचार पहुँचे, वही लोग शोकाकुल हो गये। अनेक सार्वजनिक सस्थाओ और विशिष्ट व्यक्तियो ने उनके परिवार वालो को सवेदन-सदेश और शोक-प्रस्ताव प्रेषित किए। जिनमे से कुछ यहाँ प्रस्तुत है—

जैन विश्व भारती

लाडनूँ

मंत्री कार्यालय

दिनांक ४ मार्च, ८७

जैन विश्व भारती द्वारा स्वर्गीय बिहारीलालजी सा० जैन के आकस्मिक निधन पर माननीय श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया, कुलपति की अध्यक्षता मे आयोजित स्मृति-सभा मे पारित प्रस्ताव :—

"सस्था-पूर्वाध्यक्ष एवम कुल स्थविर श्री बिहारीलालजी जैन के आकस्मिक निधन से सारा संस्था परिवार हार्दिक आघात का अनुभव कर रहा है। दृढधर्मी श्री बिहारीलालजी संघ एवम् सघपति के प्रति पूर्ण समर्पित, तत्व मर्मज्ञ, कार्यनिष्ठ आदि अनेक मानवीय विशेषताओ के धनी थे; जैन विश्व भारती के स्तम्भ एवम् प्राण रहे। उन्होने सस्था की आर्थिक स्थिति को सुदृढ करने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया। उनका व्यक्तित्व सस्था के इतिहास से जुड गया। उनके हर श्वास मे "भारती" का कल्याणभाव रहा। सस्था परिवार दिवगत आत्मा के आध्यात्मिक विकास के लिए शुभकामना करते हुए उनके परिजनो से इस अवसर पर समभाव से धैर्य रखने की आशा करता है; उनके परिवार जन उनके पद चिन्हो पर चलकर सघ और समाज की सेवा करेंगे, यही अपेक्षा है।"

श्रीचन्द बेंगानी
मत्री

भारत रिलीफ सोसाइटी
३४/बी, रत्तू सरकार लेन, कलकत्ता
दिनांक १-३-८७

श्री जगदीश प्रसाद जैन,
कलकत्ता

प्रिय महाशय,

आपके पूज्य पिता श्री बिहारीलालजी जैन के निधन का समाचार जानकर हार्दिक दु.ख हुआ।

कृपया भारत रिलीफ सोसाइटी की कार्य-समिति की ओर से एवम् मेरी ओर से हार्दिक सवेदना स्वीकार करे।

परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को शाति प्रदान करे तथा आपको एवम् आपके शोक-संतप्त परिवार को यह कष्ट सहन करने की शक्ति प्रदान करे।

बजरंगलाल सोमानी
प्रधान सचिव

जिला उद्योग संघ

बिलासपुर (म० प्र०)

दिनांक ३-३-१९८७

श्री राजेन्द्र कुमार जैन
ऋषि आयरन एण्ड स्टील इ डस्ट्रीज
तिफरा औद्योगिक प्रक्षेत्र, बिलासपुर (म० प्र०)

आपके पूज्य पिताजी एव सुप्रसिद्ध व्यवसायी, उद्योगपति श्री बिहारीलाल जी जैन के दुःखद निधन का समाचार सुनकर हम सभी स्तब्ध है।

जिला उद्योग संघ की एक विशेष शोक सभा बैठक मे उन्हे श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। आपके परिवार के दु ख मे हम सभी सहभागी हैं।

ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे।

हरीश केडिया
अध्यक्ष

अरूण अग्रवाल
सचिव

लायन्स क्लब
सादुलपुर

श्री जगदीश प्रसाद, मुरारीलाल, राजेन्द्र प्रसाद एवं सांवरमल

आपके पिताजी के आकस्मिक निधन से क्लब को बड़ा दुख हुआ है। उनके परलोकवास से जो हानि हुई है, उसकी पूर्ति होना कठिन है। लायन्स क्लब की आपके इस असीम दुख मे पूर्ण

सम्वेदना है और बडे शोक के साथ उस जगन्नियन्ता श्री परमेश्वर से वारम्बार प्रार्थना करता है कि वह दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

संसार निरन्तर परिवर्तनशील है, अतः बुद्धिमान मनुष्य को ऐसे मौके पर ज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है। यही विचार कर आप धैर्य से काम लें।

पुरुषोत्तम कन्दोई
अध्यक्ष, लायन्स क्लब, सादुलपुर

डॉ० मदन मोहन शर्मा
सचिव, लायन्स क्लब, सादुलपुर

श्री राजगढ़ जुबली पिंजरापोल

सादुलपुर (चूरू)

दिनांक—६-३-८७

शोक-पत्र

श्रीमान् जगदीश प्रसाद जी जैन,

आपके पिता श्री बिहारीलालजी जैन के आकस्मिक निधन से श्री राजगढ़ जुबली पिंजरापोल को बडा दुख हुआ है। उनके परलोकवास से जो हानि हुई है, उसकी पूर्ति होना कठिन है। श्री राजगढ पिंजरापोल की आप के इस असीम दुख मे पूर्ण सम्वेदना है और बडे शोक के साथ उस जगन्नियन्ता श्री परमेश्वर से वारम्बार प्रार्थना करता है कि वह दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

मोतीलाल सरावगी
अध्यक्ष

पालीराम शर्मा
मन्त्री

ब्राह्मी-विद्यापीठ

(पारमार्थिक शिक्षण-सस्था द्वारा सचालित)
लाडनूं (राज०)

दिनांक ४-३-८७

श्री जगदीशजी जैन
द्वारा—बिहारीलाल जैन एण्ड सस,
१८, आर० एन० मुखर्जी रोड, कलकत्ता।

शोक-प्रस्ताव

पारमार्थिक शिक्षण-सस्था एव ब्राह्मी विद्यापीठ (शिक्षा-विभाग) परिवार श्री बिहारीलालजी जैन के निधन पर गहरा शोक प्रकट करता है।

श्री जैन साहब का सस्था की प्रगति मे सदैव मूल्यवान योग रहा है। आप तेरापथ धर्मसघ एव सघपति के प्रति पूर्ण समर्पित थे।

ईश्वर उनकी आत्मा को शाति तथा पारिवारिक सदस्यो को धैर्य धारण करने की शक्ति प्रदान करे।

शोक-संतप्त
प्राचार्य मय ब्राह्मी विद्यापीठ परिवार

अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन

१५२-बी, महात्मा गाधी रोड

कलकत्ता-७

दिनांक २-३-८७

प्रिय श्री जगदीश प्रसादजी जैन,

सुप्रसिद्ध समाज कर्मी एवम् राष्ट्रीय-चेता श्री विहारीलालजी जैन के आकस्मिक निधन पर सम्मेलन-परिवार अपने आपको मर्माहत महसूस करता है। सम्मेलन की विभिन्न गतिविधियो मे उनकी आन्तरिक अभिरुचि थी और समय-समय पर उनके सृजनात्मक सुझाव मिलते रहते थे। समाज के विभिन्न सस्थानों से उनका गहरा सम्बन्ध एव लगाव था। अतः उनके निधन से एक ऐसी सामाजिक क्षति हुई है जो काफी अरसे तक कचोटेगी। मेरी स्वय की ओर से तथा सम्मेलन की तरफ से हार्दिक सम्वेदना प्रेषित है। दिवंगत आत्मा को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि उक्त क्षति को सहने की शक्ति दे।

रतन शाह
मानद महामन्त्री

विश्व हिन्दू परिषद राजस्थान

जिला—चूरू

शाखा—राजगढ, पो०—सादुलपुर

दिनांक ५-३-८७

प्रिय महोदय,

राजगढ़ नगर की पुरानी पीढ़ी का शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति हो जो स्व० श्री शिव-नारायणजी सरावगी तथा उनके परिवार को न जानता हो, विशेषकर श्री विहारीलालजी जैन को।

उनके निधन का समाचार सुनकर इस सस्था को भारी दुख हुआ है। राजगढ नगर के उत्थान मे उनका जो विशेष योगदान रहा है, उसको कोई भी भुला नही सकता। उनके निधन से इस नगर की जो क्षति हुई, वह सदा अपूरणीय रहेगी।

विश्व हिन्दू परिषद की राजगढ शाखा जगनियता जगदीश्वर से प्रार्थना एव कामना करती है कि वह उनकी दिवगत आत्मा को चिर शाति प्रदान करे और उनके शोक-विह्वल परिवार को इस महान दुख को सहन करने के लिए धैर्य एव शान्ति दे।

बनवारीलाल शास्त्री
अध्यक्ष

पुष्करराज सतरानीवाला
मन्त्री

श्री शिवनारायण सरावगी प्राथमिक विद्यालय

राजगढ (चूरू)

शोक-संदेश

३-३-८७

श्री जगदीश प्रसाद जी जैन,

आपके पूज्य पिताजी श्री विहारीलालजी जैन के आकस्मिक निधन का समाचार मिलते ही इस विद्यालय के शिक्षक एवं विद्यार्थी स्तब्ध रह गए। आपका इस विद्यालय से विशेष मोह

था। आप जब भी राजगढ पधारते, इसे अवश्य सम्भालते थे। आपने इस विद्यालय का भवन निर्माण तो करवाया ही, साथ ही समय-समय पर आर्थिक सहयोग देकर विद्यालय की विकास योजनायें उन्नत कराई।

आपने समाज-सेवा तथा देश-सेवा मे अपना जीवन लगा दिया। विश्व-बन्धुत्व की भावना आप मे थी। "सादा जीवन उच्च विचार" ही आपका आदर्श था।

समाचार मिलते ही विद्यालय मे शोक सभा की गई, जिसमे सभी विद्यार्थियो एवं अध्यापकों ने दिवगत आत्मा को शाति प्रदान करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की। शोक-सतप्त परिवार को यह दु ख का पहाड झेलने की ईश्वर शक्ति दे।

पुरुषोत्तमदास त्रिवेदी
प्रधानाध्यापक
श्री शिवनारायण प्राथमिक विद्यालय
राजगढ़ (चूरू)

कल्याणमल लोढ़ा

२/ए, देशप्रिय पार्क (ईस्ट)
कलकत्ता-७०००२९
दिनाक २ मार्च, ८७

प्रिय जगदीश,

मुझे यह दुःखद समाचार मिला कि श्री विहारीलालजी जैन का कल आकस्मिक निधन हो गया। इससे मुझे मर्मान्तिक पीडा हुई। न जाने क्योकर गत सप्ताह से मैं उन्हे स्मरण कर रहा था। एक और गौरव-सम्पन्न धर्मानुरागी और स्नेही, आत्मीय मित्र चला गया। मैं उन्हे तीन दशको से जानता था। वे बड़े ही आत्मीय और निश्छल आदमी थे और आन्तरिक स्नेहभाव से अभिभूत रहे। आज की दुनिया मे ऐसे व्यक्ति, जो अन्तर्वाह्य दोनो से सदाचारी, सरल और शिष्ट हो, अत्यन्त दुर्लभ हैं। मैंने भी अपना एक मित्र-रत्न खो दिया। वीर प्रभु उनकी आत्मा को शाति दे।

मेरा भी आपरेशन गत मास हुआ था और अब भी घर पर ही पूर्ण विश्राम करता हूँ। इसी से मैं श्मशान नही जा सका और न ही बैठक मे ही आ सका। मुझे आप क्षमा करें। समय मिलते ही मैं स्वय आऊँगा। कृपया परिवार मे सबको मेरी सवेदना कहे और इस दु.ख मे मुझे भी अपना समभागी समझें।

श्री जगदीश जैन
कलकत्ता

आपका
कल्याणमल लोढ़ा

कलकत्ता, राजगढ, लाडनू आदि स्थानो पर हुई शोक-सभाओ मे बडी सख्या मे उपस्थित होकर समाज के लोगो ने स्वर्गीय विहारीलालजी की दिवगत आत्मा की शाति के लिये प्रार्थनाएँ की और उन्हे अपनी भाव-भीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। वक्ताओ ने उनके द्वारा समाज, शिक्षा और धर्म के क्षेत्र मे की गई सेवाओ के प्रति आभार प्रकट किया। विशेषकर जैन श्वेताम्बर तेरापथी धर्म-सघ के प्रखर प्रवक्ता के रूप मे उन्हे याद किया गया और उनके निधन को जैन समाज के लिये अपूरणीय क्षति के रूप मे अनुभव किया गया।

८ मार्च १९८७, रविवार को प्रातः ९ बजे महासभा भवन ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता मे श्री कन्हैयालालजी छाजेड़ की अध्यक्षता मे स्वर्गीय विहारीलालजी जैन की स्मृति मे सभा का आयोजन किया गया। जिसमे श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथ सभा, जैन श्वेताम्बर तेरापथ महिला मण्डल, तेरापथ युवती मण्डल, तेरापथ कन्या मण्डल, प० बग अणुव्रत समिति, जैन विश्वभारती, मित्र परिषद, ओसवाल नवयुवक समिति, जैन श्वेताम्बर तेरापथ विद्यालय, अणुव्रत छात्र परिषद्, तेरापंथ युवक परिषद् तथा भारत जैन महामण्डल आदि अनेक सस्थाओ के प्रतिनिधियो ने श्री जैन के प्रति अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। विभिन्न वक्ताओ ने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उन्हे कर्मठ कार्यकर्त्ता, धर्म-प्राण नेता और सघर्षशील योद्धा के रूप मे याद किया।

१७ मार्च १९८७ को राजगढ मे स्वर्गीय विहारीलालजी की स्मृति मे एक विशाल सभा हुई, जिसमे सर्वश्री सर्वहितकारिणी सभा, तेरापथी सभा, अग्रवाल सभा, विश्व हिन्दू परिषद्, पिंजरापोल और नेहरू बालमन्दिर आदि राजगढ की दर्जन भर संस्थाओ ने सम्मिलित रूप से श्री जैन की दिवगत आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की। श्री तेरापथ धर्मसघ के प्रमुख, युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य मे हुई उक्त सभा मे लाडनूं, कलकत्ता आदि स्थानो की सस्थाओ के प्रतिनिधियो ने भी भाग लिया।

राजगढ के प्रतिष्ठित नागरिको की उपस्थिति को सम्बोधित करते हुए आचार्य श्री तुलसी ने कहा—"विहारीलाल जैन दृढधर्मी, जैन विश्वभारती के कुलस्थविर, धर्म संघ को समर्पित, अच्छे प्रवक्ता और प्राणवान नेता थे। वे निष्ठावान और निर्भीक कार्यकर्त्ता थे। जैन विश्व भारती और तेरापथी धर्म सघ के प्रति शका उठाने वालो को वे विवेकपूर्ण और सटीक उत्तर दिया करते थे। वे परिवार के स्त्री-बच्चो और समाज के लोगो के सामने आचार्य श्री के इस विचार को दुहराते थे कि—'चिन्ता नही चिंतन करो, व्यथा नही व्यवस्था करो, प्रशस्ति नही प्रस्तुति करो।' ऐसे व्यक्ति के लिये शोक नही, स्मृति-सभा ही उचित है।"

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने कहा—"समाज मे धन और परिवार के प्रति अत्यधिक मोह के परिणामस्वरूप सस्थाओ के लिये सही कार्यकर्त्ताओ का अभाव होने लगा है। कार्यकर्त्ता को निष्ठावान, निस्वार्थ, समर्पित, श्रद्धालु, तत्वज्ञ, विवेकवान, पुरुषार्थी व रचनात्मक दृष्टिवाला होना चाहिये। विहारीलालजी मे ये सभी गुण थे। साथ ही उनमे देश, काल और परिस्थिति को पहचानने की क्षमता भी थी। उनमे आध्यात्मिक निष्ठा थी। कार्यकर्त्ताओ को उनके जैसा बनना चाहिए।"

स्मृति सभा मे श्री जैन विश्व भारती का प्रतिनिधित्व करते हुए पत्रकार रामस्वरूप गर्ग ने उन्हें श्रद्धाजलि अर्पित की। कलकत्ता के तेरापथी महासभा के ट्रस्टी श्री सोहनलाल दूगड़, सभा के पूर्वांचल-अध्यक्ष श्री विजयसिह सुराणा, मित्र परिषद् के अध्यक्ष श्री माणकचन्द नाहटा, नागरिक परिषद के मुख्य सचिव श्री सुधीर कोठारी, अणुव्रत छात्र परिषद के अध्यक्ष श्री प्रमोद नाहटा आदि ने श्री जैन की सेवाओ पर प्रकाश डाला। नगर के प्रमुख वैद्य श्री परमेश्वरी प्रसादजी ने श्री जैन को अपना मित्र, सखा और साथी बताते हुए राजगढ़ के विकास मे उनके योगदान की चर्चा की।

उनके पारिवारिक जनो मे ज्येष्ठ पुत्र जगदीश प्रसाद जैन, पुत्र वधू उर्मिला जैन तथा भाणेज श्री जालान ने भी श्रद्धासिक्त श्रद्धाजलि अर्पित की। सभा के सयोजक पत्रकार श्री श्याम मुसरफ ने नगर की प्रमुख सस्थाओ की ओर से सर्वहितकारिणी सभा मे पारित शोक प्रस्ताव का

वाचन किया। समण सस्कृति के निर्देशक श्री मूलचन्दजी घोसल ने श्री जैन को श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए स्वरचित कविता का पाठ किया—

"ओ विश्व भारती के दहाडते शेर आज तुम कहाँ सो गये ?
जन-प्रिय नेता, सेवा-भावी तुम आज अचानक कहाँ खो गये ?

तुम हस्ती थे, इक मस्ती थे, दीनों-दुखियो-हित बस्ती थे,
तुम निडर, स्पष्टवादी, सक्रिय, निष्क्रिय-जन-हित इक चुस्ती थे,
सरक्षण-हित गश्ती करते, अविचल सुमेरु क्यो सचल हो गये ?

तुम थे उद्‌भट गणितज्ञ और सस्मृति भी बड़ी गजब की थी,
थे सत्य न्याय की तुला तुम्ही, सेवा-अनुरक्ति अजब सी थी,
नित रहे सजग जीवन-पथ पर, कर्त्तव्य-बोध का बीज बो गए।

थे परम हितैषी सस्था के, पल पल संस्था-हित का चिन्तन,
सोते-जगते करते रहते, सस्था-हित अर्पित तन-मन-धन,
यदि मिला इशारा गुरुवर का, उस पर न्योछावर प्राण हो गए।

केवल धर्मज्ञ नही थे तुम, सचमुच ही सच्चे धार्मिक थे,
जीवन भर अभय रहे पग-पग, व्यवहार-कुशल व मार्मिक थे,
नहि कथनी-करनी मे अन्तर, ऋजु बनकर अन्तर-मैल धो गये।

जब भी आते इस प्रांगण मे, लगता प्रागण गुजार भरा,
हो जाते सबके कान खडे, प्रहरी ने ज्यो हुंकार भरा,
उस प्यारे गुंजारव से ही कितने सपने साकार हो गये।

जो आते हैं, वे जाते हैं, यह क्रम जग मे चलता रहता,
करते हैं याद उन्हे सब ही, जो पर-हित-धुन मे ही बहता,
ऐसे थे लाल बिहारी वे, जो मर कर के भी अमर हो गये।"

बिहारीलालजी की विदुषी पुत्र-वधू उर्मिला जैन ने भाव-बिह्वल होकर दिवंगत बाबूजी की चारित्रिक विशेषताओ को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देते हुए ये मार्मिक पक्तिया पढ़ी—

"था न्याय सदा ही प्रिय तुमको
अन्याय नही सह सकते थे,
तेरे - मेरे का भेद न था
सच को निर्भय कह सकते थे
ऊपर से वज्र - कठोर किन्तु भीतर से फूल कमल के थे
सच्चे साथी निर्बल के थे।"

अन्त मे महामनीषी श्री कन्हैयालाल सेठिया द्वारा प्रेषित काव्य पंक्तियो के रूप मे उन्हें अन्तिम श्रद्धाञ्जलि—

धर्म प्राण निर्मल हृदय
जैन बिहारीलाल ।
सहज सन्त चारित्र से
उन्हे ले गया काल ॥

सिंहावलोकन

स्वर्गीय श्री बिहारीलालजी की जीवन यात्रा के अन्तिम पड़ाव पर ठहर कर जब हम उनके समग्र व्यक्तित्व का सिंहावलोकन करते है तो उनकी चरित्रगत विशेषताओ के अनेक पहलू तराशे हुए हीरे की तरह चमकने लगते है। प्रत्येक पहलू का अपना अलग रग-रूप और छटा है। यहाँ हम उन बिन्दुओ को रेखांकित करने का प्रयास करेगे, जिनके कारण वे एक मध्यवित्तीय साधारण परिवार मे जन्म लेकर भी विभिन्न वर्ग, समुदाय और धर्म के व्यापक क्षेत्र मे चर्चित हो सके।

व्यक्ति अपनी वंश-परम्परा का प्रतिफलन होता है। बिहारीलालजी के पीछे भी चन्द्रभान जी से लेकर उनके स्वर्गीय पिताश्री शिवनारायणजी तक निरन्तर विकसित होती हुई एक सुदृढ और सुसस्कृत पारिवारिक परम्परा रही। परिश्रमशीलता, ईमानदारी, निर्भीकता, शारीरिक बल और स्वाभिमान जैसे आनुवशिक गुण उन्हे विरासत के रूप मे मिले। इन्ही जन्मजात गुणो ने उनके व्यक्तित्व को बुलन्दी प्रदान की।

'राजगढ का शेर' कहलाने वाले तेजस्वी पिता शिवनारायणजी की छत्र-छाया मे उनका पालन-पोषण हुआ। अनुशासित और सुव्यवस्थित पारिवारिक वातावरण ने बिहारीलालजी को करीने से रहना और सलीके से जीना सिखाया। माँ की ममताभरी सीख और पाठशाला के पारगत तथा वीतराग, शिष्य-वत्सल गुरुओ द्वारा प्राप्त शिक्षा ने उनके भावी जीवन की दिशा निर्धारित की। इस प्रकार परिवार उनकी पाठशाला और पाठशाला उनका परिवार बना।

सद्गुरुओ और विश्वस्त मित्रो के सत्सग ने उनके हृदय मे विश्वास और उत्साह की ज्योति प्रज्ज्वलित की। जन्मजात शक्ति स्रोत आदर्शोन्मुख होकर ऊर्ध्वगमन के प्रेरक बन गए। यही कारण था कि वे अपने प्रशिक्षण काल मे कक्षा मे सदा प्रथम श्रेणी मे बने रहने के लिये सचेष्ट और जागरूक रहे। पख फैला कर उडने वाली महत्वकांक्षा का जन्म हुआ। विद्या द्वारा विराट को पाने की जिज्ञासा जगी।

किन्तु आगे का मार्ग अवरुद्ध था। उच्चतम शिक्षा प्राप्ति के साधन उपलब्ध नही हुए। तारुण्य का प्रबल प्रवाह विवश होकर लौट आया अपने परिवार की परम्परागत व्यावसायिक जीवन-धारा के साथ जुडने। प्रणय-सूत्र मे आबद्ध होकर बिहारीलालजी जुत गए गृहस्थ की गाड़ी मे, तीव्र-गामी अश्व बनकर। यो हुआ उनके नव-जीवन का श्रीगणेश !

अब उनके सामने दुहरा दायित्व था। प्रथम, पैतृक व्यवसाय को इस प्रकार विकसित और सुव्यवस्थित करना कि वह परिवार के बढते हुए खर्च का पूरक बन सके। द्वितीय, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के लिये उचित विकास का मार्ग प्रशस्त करना। ये दोनो उनके सासारिक जीवन के पहलू रहे। एक तीसरा पहलू और भी उनके जीवन का रहा, जिसे वे अपने अन्तर मे ही सँजोये रहे। वह था, सत्य की प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार। यही आध्यात्मिक स्फूर्णा उनके व्यावसायिक जीवन मे सदाचरण की जन्मदात्री बनी।

सदाचरण के कारण व्यावसायिक तिकडम से प्राप्त होने वाले लाभ से वे सदा वंचित रहे। परिश्रमशीलता और ईमानदारी से प्राप्त होने वाले लाभांश पर सन्तुष्ट रहना उनकी प्रकृति बन गई। इससे उनकी विश्वसनीयता बढी। चारित्रिक दृढता ने उनसे सम्पर्कित जीवन को प्रभावित किया। आशंका और तनाव से मुक्त रहकर वे कर्म-सकुल जीवन-पथ पर सन्तु-

लित भाव से आगे वढते गए। परिणामस्वरूप वे व्यवसाय-जगत मे निष्पक्ष और पवित्रता के प्रतीक वने।

सम्पर्क-सूत्रो के विकास के साथ ही उन्हे व्यक्ति और समाज की परस्परावलम्वित अवस्था का भान हुआ। व्यक्तिगत और पारिवारिक चिन्ता के साथ-साथ सामाजिक चिन्तन की प्रक्रिया का आरम्भ हुआ। मात्र अपने लिये जीना अव आह्लादकारी नही रहा। अपनी उपलब्धियो मे समाज को भागीदार वना कर चलना भला लगने लगा। विद्यालय, औपधालय, गोशाला आदि विविध सेवा-सस्थान उनके व्यक्तित्व-विस्तार की सीमा मे सिमिटते चले गए। समाज-सेवी के रूप मे उनकी नई पहचान विकसित हुई।

समाज को वेहतर वनाने के प्रयत्न का वाछित परिणाम न निकल पाने के कारण किसी अधूरेपन का अहसास उन्हे कचोटता रहता। कहां है त्रुटि? अचानक उनकी निगाह विवश, निरीह, निरक्षर स्त्री-समाज पर पडी। नारी और पुरुप को विकास के समान अवसर उपलब्ध कराए विना मानव के समग्र-जीवन के उत्थान की कल्पना अधूरी ही रहेगी! अनवरत वहती जीवन-धारा को नया मोड़ मिला। स्त्री शिक्षा के प्रचार-प्रसार मे योगदान करना उनकी साधना का महत्वपूर्ण अग वन गया।

चहुँमुखी कार्य-साधना के क्रम मे उन्हे जीवन की तल-अतल घाटियो से गुजरना पड़ा। अनेक उलझनभरी स्थितियो और उतार-चढाव वाली सर्पिल पगडण्डियो मे से आगे वढना पड़ा। शत्रु-मित्र, अपना-पराया, सुख-दु.ख और जय-पराजय के खट्टे-मीठे आस्वादो की अनुभूति हुई। इन सवने उन्हे कठिन परिस्थिति के आकलन और व्यक्ति की सही पहचान करने वाली क्षमता प्रदान की।

जन-हित के कार्यों मे भाग लेते हुए अपनी क्षमतानुसार आर्थिक सहयोग भी करना पड़ता था। स्वय देते रह कर उन्होंने दूसरो को भी देने के लिये प्रेरित किया। विशाल वृक्ष वन कर जगह घेरने की अपेक्षा वीज वन कर अनेक वृक्षो को जन्म देने की कामना की। अनायास ही वे उदारचेता और अवढरदानी होते गए। देते-दिलाते वे दिया (दीप) हो गए। प्रज्ज्वलित रहना उनका धर्म वन गया। उनके विकसित आभा-मण्डल ने जन-जन को प्रकाशित किया।

सवेदनशील मन मे अहकार का टिका रहना असभव हो गया। विनय-पूर्ण समर्पण ही शेप रह गया। क्षुद्र अहम् के गिरते ही 'अहम्-व्रह्मास्मि' की झलक मिलने लगी। जैन और सनातन तीर्थ-स्थलो का वारवार पर्यटन, देव-दर्शन और धार्मिक अनुष्ठानो से उनकी आस्था को वल मिला, प्रकृति का सानिध्य मिला। विशाल पर्वतो, नदियो, समुद्रो और धरती के हरे-भरे विस्तार मे वे विराट को पहचानने लगे।

आत्मा ऊर्ध्वगमन करती रही, पर शरीर परिवार के खूंटे से वंधा रहा। धरती पर मजवूती से पाव टिकाए वे सूरज से आँखें मिलाते रहे। वड़े भ्राता और उनका पुत्र, स्वय का ज्येष्ठ पुत्र और कनिष्ठ पुत्र-वधू के आकस्मिक निधन ने उनके मोहपाश को झटके देकर तोडा। आसक्तियो के घेरे विखर गए। विहारीलालजी आत्मा के उन्मुक्त लोक में विहार करने लगे। इह-लोक मे उनकी उपस्थिति-मात्र रह गई।

यात्रा के अन्तिम चरण मे उनका सद्गुरु से साक्षात्कार हो गया। युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसी की अनुकम्पा से वे अध्यात्म सरोवर मे छलाग लगा गये। पीछे छूट गई "पावन स्मृति'। स्मृति-शेप उसी पावन को प्रणाम! ●

जो ऊग्या सो आँथिवै, फूला सो कुमिलाइ ।
जो चिणियां सो ढहि परै, जो आया सो जाइ ॥

—कबीर

अंतरंग बहिरंग
चतुर्थ खण्ड

भाई बिहारीलाल : कुछ संस्मरण

रामनारायण वर्मा

अतीत की स्मृतियो को याद रखना जरा मुश्किल ही होता है विशेषकर इस उम्र मे, जिसमे मैं गुजर रहा हू। फिर भी बालकपन से जिस व्यक्ति के साथ किसी के सम्बन्ध बालगोठिये मित्र, सुहृद व भाईचारे के बहुत घनिष्ट, अन्त समय तक बराबर रहे हो, उसके बारे मे जीवन की घटनाये हृदय पटल पर कुछ ऐसी छाप छोड देती हैं, जिनकी स्मृति सदा बनी रहती है। भाई बिहारीलाल जैन के साथ मेरे सम्बन्ध बचपन से ऐसे ही रहे, जिनके कारण आपस का स्नेह उत्तरोत्तर बढता ही गया और हम अपने आपको एक दूसरे से अभिन्न समझते रहे। हम दोनों स्वय की ही नही, अपने परिवार वाले राजगढ निवासियो; वहाँ के स्कूल स्टाफ व मित्र-बन्धुओं की नजरों में भी हमारे सम्बन्धो के प्रति ऐसी ही धारणा बनी रही। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि भाई बिहारीलाल व उनके परिवार वालो ने मुझे अपने परिवार का ही अंग माना।

प्राथमिक शिक्षा

होनहार प्रतिभा के धनी बालक भाई बिहारीलाल ने राजगढ़ के एक प्रतिष्ठित व सम्पन्न सरावगी (जैन) परिवार मे आषाढ़ सुदी १२ संवत १९७० मे मगलवार के दिन जन्म लिया। मुझसे करीब एक साल उम्र में छोटे थे। विद्याध्ययन के लिये राजगढ़ के सरकारी मिडिल स्कूल में आगे-पीछे भरती हुए। करीब पहली-दूसरी कक्षा से ही हमारी आपस मे जान-पहिचान का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। बाद मे एक साथ ही पढ़ने, एक साथ खेलने से शनैः शनैः एक-दूसरे के नजदीक आने लगे। एक-आध बार तो आपस मे खेलते समय हाथापाई भी हुई। पर उसका कोई विपरीत असर नही हुआ। घर मे भी तो आपस मे भाई-भाई लड़ लेते है। हमारा आपस का स्नेह बढता गया और आगे की कक्षा मे एक-दूसरे के और नजदीक हो गये। भाई भैरूदान खत्री (रिटायर्ड असिस्टेंट डाइरेक्टर एजूकेशन) के साथ भी प्राइमरी कक्षा के समय से ही भाई बिहारीलाल का ऐसा सम्बन्ध रहा। छठी कक्षा से आठवी कक्षा तक हम तीन मूर्तिया ही कक्षा मे थे। उन दिनो ज्यादा पढाई का रिवाज नही था। इसलिए आगे की कक्षा मे इने-गिने ही छात्र होते थे। स्कूल मे चौथा साथी हमारा एक और बन गया। वह था भाई नानकराम शर्मा (पारीक), जो विद्यार्थी तो नही था, स्कूल मे चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी की सर्विस पर लगा था। हमे पानी पिलाते-पिलाते वह भी अपने अच्छे गुण, स्वभाव और निःस्वार्थ सेवा के कारण हमारा मित्र बन गया। आगे के जीवन मे चलकर तो वह गर्व के साथ हँसी-मजाक मे हमारे लिये कहने लगा—मेरे पानी पिलाने से ही तो यह ऊँची-जगहो पर पहुँचे हैं। हम चारो की मित्रता प्रभु कृपा से बराबर निभती चली गई, चाहे हम चारो के जीवन-यापन के मार्ग अलग-अलग रहे हो। आपस मे छोटे-

बडे का अन्तर मन मे कभी नही रहा। परिवार मे विवाह-शादी के अवसरो पर भी एक-दूसरे के यहाँ पहुँचते रहे। भाई विहारीलाल ने तो भाई नानकराम की लडकी के विवाह पर कलकत्ता से आकर अपना पूरा योगदान दिया और मित्रता का परिचय दिया। जहाँ सच्ची निःस्वार्थ मित्रता होती है, वहाँ छोटे-बड़े, गरीब-अमीर का भेद नही होता।

सदाचार, स्वदेश प्रेम और ईश्वर भक्ति

राजगढ मे पढते समय सयोग से छठी कक्षा मे हम तीनो को एक ऐसे सद्गुरु से पढने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिनकी शिक्षा का हमारे भविष्य-जीवन पर बहुत गहरा अनुकूल प्रभाव पड़ा। ऐसे शिक्षक थे—प० गगाप्रसाद पाठक (मऊ निवासी), जो कट्टर गांधीवादी और महान विचारो के व्यक्तियो मे से थे। वैसे तो वह संस्कृत के अध्यापक थे, पर पुस्तकीय ज्ञान के अलावा वह हमें सदाचार, स्वदेश प्रेम और ईश्वर-भक्ति के मार्ग पर चलने की शिक्षा पर जोर देते थे। मुझे याद है, एक दिन उन्होने हम तीनो से पूछा—'तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है' तो उत्तर मे भाई विहारीलाल ने कहा था—'ईश्वर प्राप्ति', तो वे बहुत प्रसन्न हुए थे। उत्तर सुनकर उन्होने अपना शुभ आशीर्वाद दिया था। अध्यात्म मार्ग पर चलने का यह बीज उन्ही का बोया हुआ था, जो आगे चलकर भाई विहारीलाल के जीवन मे पल्लवित व पुष्पित हुआ और जिसके फलस्वरूप वह आगे चलकर आचार्यप्रवर सत तुलसी के सान्निध्य मे पहुँचे और उनकी भक्ति कर, उनका शुभ-आशीर्वाद पाकर दृढधर्मी व कुलस्थविर जैसी उपाधियो से आचार्यश्री द्वारा सम्मानित किये गये। तेरापथी जैन धर्म को अपनाने मे उनके माता-पिता के परिवार वालो के सस्कार भी उनमे थे। उनकी पूजनीय माताजी बड़ी धर्मपरायण थी।

पिलानी कालेज—ऊँट की सवारी

राजगढ से मिडिल स्कूल की परीक्षा पास करने के बाद भाई भैरूदान आगे पढने बीकानेर चले गए तथा भाई विहारीलाल व मैं दोनो पिलानी बिड़ला कॉलेज जाकर भर्ती हुए। उस समय (सन् १९२८) राजगढ मे हाई स्कूल नही था। पिलानी जाने के बाद हम दोनो होस्टल मे एक साथ एक कमरे मे ही रहे। साथ पढना, साथ खाना-पीना, साथ खेलना, दो साल तक रहा। उन दिनो राजगढ से पिलानी जाने-आने का साधन ऊँट की सवारी था। छुट्टियो के बाद साथ ही ऊँट पर आया-जाया करते थे। यह असुविधाजनक लगता था, कारण ऊट पर कभी बैठे नही थे, पर ऊँट वाला हमे रास्ते मे कई तरह के किस्से-कहानियाँ कहकर हमारा मन बहला देता था, जिससे सफर सुगमता से कट जाता था।

स्वाभाविक है, वहा जाने पर साथ पढने वालो से परिचय होने पर कई मित्र बन गये। वैसे तो सहपाठी प्रायः सभी मित्रता का आपस मे व्यवहार करते है, पर कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनके स्नेहभाव व व्यवहार अपने अनुकूल होने पर उनके साथ घनिष्टता होती है। ऐसे मित्रो मे भाई स्व० सत्यदेव शर्मा, स्व० भाई केवलचन्द दाधीच, व भाई गजानन्द लाटा प्रमुख थे। इन तीनो के साथ भाई विहारीलाल के मित्रता के सम्बन्ध आगे भविष्य मे भी बने रहे। बिडला कालेज के स्टाफ मे श्री एस० पाल जो हमे अग्रेजी पढाते थे, उनका नाम भी भाई विहारीलाल के साथ वर्णन करने योग्य है। उनके साथ उनके सम्बन्ध उनकी सेवा निवृत्ति के बाद कलकत्ता जाने पर भी

वने रहे । भाई विहारीलाल उन्हे विशेष आयोजन पर बहुत श्रद्धा के साथ बुलाया करते थे और उन्हें आने में बड़ी खुशी होती थी । श्री पाल साहब अनुशासन-प्रिय होने पर भी बड़ा स्नेह रखते थे, जो गुरु-शिष्य का बडा अनुकरणीय उदाहरण था । मिडिल स्कूल राजगढ के हेडमास्टर स्व० श्री जिनसेनजी सिंघल के साथ भी उनके सम्बन्ध आजीवन वने रहे ।

हॉकी का मैदान

विडला कालेज मे जब हम पढते थे, तब हॉकी खेलने का अधिक रिवाज था । आजकल की तरह क्रिकेट प्रमुख खेलो मे नही था । भाई विहारीलाल की हॉकी खेल मे अच्छी रुचि थी और इस खेल मे अपनी गति अच्छी बना ली थी । एक दिन की बात है, उस दिन भाई विहारीलाल खेलने नही गये थे । वह रसोई घर मे आकर साय भोजन करने वैठे ही थे कि किसी ने मजाक मे आकर उन्हे कह दिया कि तुम्हारे दोस्त रामनारायण के साथ किसी का झगडा हो गया और मार-पीट हो गई । ऐसा सुनना था कि भाई विहारीलाल ने भोजन की थाली ज्यो की त्यो छोड़ दी और अपने कमरे से हॉकी स्टिक लेकर दौड कर खेल के मैदान मे पहुंचे । वहाँ ऐसी कोई वात नही थी । पर इस घटना का मेरे मानस पर वड़ा असर हुआ । भाई विहारीलाल की मित्रता पर मुझे गर्व हुआ । सुन रखा था A friend in need is a friend indeed इस उक्ति को भाई विहारीलाल ने विद्याध्ययन के समय मे ही चरितार्थ कर दिया था । हम तीनो ने हाई स्कूल की परीक्षा अच्छे डिवीजन से १९३० मे पास की ।

दाम्पत्य जीवन

करीब साल भर वाद भाई विहारीलाल का विवाह भिवानी के सम्पन्न जैन परिवार मे हुआ । भाई भैरूदान, नानकराम, केवलचन्द्र व मै भी भाई-मित्रो की हैसियत से इस शुभ अवसर पर शामिल हुए और वाराती वने । उसी अवसर पर लिया हुआ हमारा पाचों का ग्रुप फोटो है । प्रभु कृपा से भाई विहारीलाल को जो धर्मपत्नी मिली, वह बहुत सौम्य, शील स्वभाव की, सेवा व धर्मपरायण, उनके स्वय के स्वभाव के अनुकूल मिली । दोनो का दाम्पत्य व गृहस्थ जीवन बहुत मंगलमय व अनुकरणीय रहा ।

जीवन-यापन के मायने मे चारो अलग-अलग हो गए—भाई भैरूदान व मैं सरकारी सेवा मे लग गये । भाई नानकराम स्कूल मे नौकरी के अलावा अपनी खेती का भी काम करते रहे । भाई विहारीलाल ने अपना घर-व्यवसाय का मार्ग अपनाया । प्रारम्भ मे राजगढ मे ही लोहे व अन्य धातुओं की वस्तुओं का व्यापार किया । इस कार्य के सिलसिले मे कई वार उन्हे वीकानेर भी मेरे पास ही ठहरना होता । बडी खुशी होती थी जब बरसात के दिनो मे हम दोनो साइकिलो पर शिववाडी, देवीकुण्ड सागर व अन्य स्थानो पर घूमकर आया करते थे । उन दिनो की याद ताजा होने पर मन बड़ा प्रफुल्लित होता है ।

कलकत्ता और व्यवसाय

भाई विहारीलाल शुरू से ही प्रतिभाशाली, निर्भीक, प्रखर बुद्धिवाले, आत्मविश्वासी व पुरुषार्थी थे । व्यवसाय का काम तो उन्हे विरासत मे मिला । प्रारम्भ मे व्यवसाय की स्थिति

साधारण स्तर की ही थी, पर अपने वलवूते पर उन्होने इसे आगे वढाया। राजगढ के अलावा उकलाना मडी लुहारू, येलापुर (Yellapur) मे व्यवसाय किया। कभी काम मे वाछित लाभ हुआ तो कभी नुकसान भी भुगतना पडा। विपरीत स्थिति के आने पर वह कभी विचलित नही होते। अडिग बने रहते। श्रम और परिश्रम ही परिपक्व होकर सफलता वन जाते है। कार्य की नीव है आत्म विश्वास। दृढ निश्चय से व्यक्ति आगे वढता है। उसके कदम पीछे नही हटते। भाई विहारीलाल मे यह सभी गुण विद्यमान थे। अपनी सूझवूझ, विवेक, वुद्धि, दृढ निश्चय और आत्मविश्वास के साथ डँटे रहते और विपरीत स्थिति को अनुकूल स्थिति मे वदलने मे सफल हो जाते। इसके परिणामस्वरूप कलकत्ते को अपने व्यवसाय का केन्द्र बनाकर वहाँ रहने लगे। कलकत्ता के अलावा तिनसुकिया आसाम, विलासपुर, रायपुर (मध्य प्रदेश) बंगलोर आदि औद्योगिक क्षेत्रो मे अपने काम को बड़े पैमाने पर करने मे सफल हुए। विलासपुर मे ऋषि आइरन-रोलिंग मिल व कलकत्ता मे ऐल्यूमिनियम फाउन्डरी चालू की।

धार्मिक मार्ग

जैसा ऊपर कहा गया है आध्यात्मिक शिक्षा का वीज जो स्कूल के समय भाई विहारीलाल मे वोया गया था और जो सस्कार परिवार से मिले, वह आगे चलकर पल्लवित, पुष्पित और फलित हुए और इनके कारण भाई बिहारीलाल का जीवन वडा धार्मिक व त्यागमय बना। जव इनके लडके बड़े होकर सुयोग्य और व्यवसाय का कार्य सुचारुरूप से सँभालने लायक हो गए तो व्यवसाय के काम से भाई विहारीलाल ने अवकाश ले लिया, जो वहुत कम देखने मे आता है। वह सिर्फ सलाहकार के रूप मे ही रहे। इनकी प्रवृत्ति धार्मिक मार्ग पर चलने की वन गई। वह आचार्यश्री सन्त तुलसी, श्री युवाचार्य व अन्य सन्तो की सेवा मे जाते ही रहते थे। विशेष आयोजनो पर तो सपरिवार अवश्य ही पहुँचते। वह स्वय ओजस्वी वक्ता थे, ऐसे कई अवसरो पर मुझे भी उनके साथ रहने से आचार्यश्री, युवाचार्य व अन्य सन्तो के दर्शनो का व उनके शुभ-आशीर्वाद प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता था। उनकी त्याग व निःस्वार्थ सेवा-भावनाओ व धार्मिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर उन्हे जैन विश्व भारती, लाडनूं के अध्यक्ष पद का भार दो वार सौपा गया, जिसे उन्होने लगातार कई वर्षों तक कुशलतापूर्वक निभाया। अपने काल मे इस सस्था के लिए लाखो रुपये की बहुत वडी राशि चन्दे के रूप मे उन्होने जैन श्रावको से इकट्ठी की। यह इनके स्वय के चरित्र व व्यक्तित्व के कारण ही सभव हो सका। स्वयं भी इस संस्था को बरावर दान के रूप मे सहायता करते रहे। वहाँ के कर्मचारियो के पुराने वेतनमान बहुत कम थे, जिससे उनका गुजारा मुश्किल से ऐसे महगाई के जमाने मे होता था। यह देखकर भाई विहारीलाल ने उनके वेतनमानो मे उचित वृद्धि अपने काल मे की। इससे कर्मचारियो का उत्साह बहुत वढा और वह भाई बिहारीलाल के बहुत आभारी वने।

भाई विहारीलाल ने बहुत अर्से पहले ही सूर्यास्त से पहले भोजन करने का व्रत ले लिया था। वह सूर्यास्त से पहले ही भोजन किया करते थे। इसमे उन्हे कुछ अवसरो पर त्याग भी करना पडता था, जैसे परिवार मे विवाह-शादी के अवसर पर सजनगोठ के समय जो दस्तूर परिवार मे वडे के लिए होता है, वह स्वय न कराकर अपने छोटे भाई से ही कराते थे। खाने मे कई चीजे जैसे आलू व अन्य जिमीकद, अदरक आदि का भी बहुत अरसे से त्याग किया हुआ था।

परिवार और संस्कार

एक बार युवाचार्य ने फरमाया था—'धर्म का आलम पवित्र जीवन है। अपवित्र आत्मा मे धर्म नही ठहरता। धर्म परलोक सुधारने के लिए नही, उससे वर्तमान जीवन भी सुधारना चाहिए।' भाई बिहारीलाल इस धर्म को मानकर अपने जैन धर्म पर सदा दृढ रहे और इसी से उन्हे जीवन मे शान्ति मिली। आपदाओं में भी कभी नही घबराये।

भाई बिहारीलाल का परिवार आदर्श रहा। उनके घर का वातावरण भी बहुत सुन्दर व अनुकरणीय रहा। घर मे बेटे-बहू व छोटे प्रातः स्नान करने के बाद सदा माता-पिता, सास-ससुर व बडो के चरण स्पर्श कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते है। वैसे अच्छे सस्कार भारतीय संस्कृति मे पले परिवारों के घर मे है, जो आज के युग मे बहुत कम घरो मे देखने को मिलते है। भाई बिहारीलाल के छोटे भाई बनारसीलाल व काशीराम भी उनके प्रति सदा समर्पित रहे। माता-पिता के सस्कार उनकी सन्तान मे भी आने स्वाभाविक हैं। सन्तान भी सच्चरित्र, धार्मिक प्रवृत्तिवाली, विवेकशील, आज्ञाकारी और व्यवहारकुशल है। स्वयं इन्होने भी व्यवसाय को आगे बढाया।

व्रत-उपासना

सभी धर्मो मे व्रत-उपासना का वड़ा महत्व है। जैन धर्म मे तो और भी अधिक है। भाई बिहारीलाल व उनकी पत्नी दोनो ही व्रत-उपासना को जीवन को सयमित करने का साधन मानकर बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ करते रहे। विशेष पर्वों के समय तो यह लम्बी अवधि का भी होता था। जहाँ तक मुझे याद है, एक बार उन्होने १५ दिन का व्रत बडी प्रसन्नता के साथ किया था। १९८६ मे पर्यूषण पर्व की आराधना खूब आनन्द-उत्साह के साथ की थी। दोनो ने आठ दिन की श्रमणोपासक दीक्षा आचार्य प्रवर से ली थी। वह सवत्सरी के उपवास मे अष्ट-प्रहरी पौषध व्रत के साथ सम्पन्न की। उस समय पत्र मे मुझे उन्होने लिखा था—"इस उपवास से बहुत आनन्द आया। वह अनुभूति हुई कि आनन्द त्याग मे है, भोग मे नही। भोग मे हमने मान रखा है, जो हमारी भयकर भूल है। सयम खलु जीवनम् - सयम ही जीवन है। प्रायोगिक रूप में ही अनुभूत करने से पता लगता है। आवश्यकताएँ इतनी सीमित हो जाती हैं कि अन्दाजा लगाना कठिन हो जाता है।" बिहारीलाल का स्वाध्याय चिंतन भी बराबर बढता रहा।

श्रमण सस्कृति के प्रतीक सवत्सरी पर्व पर हर साल उनका खमत-खामना का पत्र मुझे मिलता था। जैन दर्शन के सिद्धांत के अनुसार वह लिखते थे, "मैं सब जीवो को क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें।" मैं भी बदले मे इन्ही भावनाओ का क्षमा याचना का पत्र देता रहता था।

समाज सुधार और जन-सेवा

भाई बिहारीलाल राजस्थान के अकाल पीड़ितो, गरीबो, तथा अन्य प्रदेशो मे सूखा, बाढ, रोग पीड़ितो को समय-समय पर सहायता देने मे भी कभी पीछे नही रहे। ऐसे अवसरो पर उदारता से सहायता कोष मे योगदान देते थे। राजगढ में श्री नेहरू विद्यालय को भी समय-समय पर अनुदान दिया करते थे। कभी स्वयं जाकर छात्रो को सम्बोधित भी करते थे।

सृष्टि का नियम है, जीवन मे सुख-दु.ख का जोडा है। किसी का जीवन ससार मे सब प्रकार से सुखी नही कहा जा सकता। सुख दुःख भव रोग के साथ लगे ही रहते हैं। हमारे शास्त्र हमे बताते है कि उन्हे धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये। 'सुख हरषहिं जड़, दुख बिलखाही, दोउ सम धीर धरहि मन माही'। भाई बिहारीलाल के जीवन-काल मे भी दु खद घटनाएँ हुई। पर उन्होने बडी हिम्मत, धैर्य, साहस और विवेक के साथ उनका सामना किया। पहला दुःख उनके बडे दामाद के आकस्मिक निधन का था, जिसे उन्होने बडे साहस के साथ सहन किया और थोड़े समय बाद सामाजिक रूढियो का बहिष्कार कर समाज सुधार करने मे अद्भुत साहस व हिम्मत का परिचय दिया। अपनी सुपुत्री का पुनर्विवाह एक सुयोग्य अच्छे सम्पन्न परिवार के युवक को वर के रूप मे ढूँढ कर उसके साथ कर दिया। आज उनका गृहस्थ जीवन प्रभु कृपा से सब प्रकार से मगलमय है। वर के परिवार को भी इस सहयोग के लिए कम श्रेय नही है।

विद्या सेवा

राजगढ मे विद्या प्रसार का उन्हे सदैव ध्यान बना रहता था। अपनी पूज्य माताजी के स्वर्गवास के बाद उनकी पुण्य स्मृति मे एक लाख रुपयो का अनुदान अपने पूज्य पिताजी 'शिवनारायण सरावगी चैरिटेबल ट्रस्ट' के नाम से घोषित करके उसके अन्तर्गत राजगढ़ मे 'श्री शिवनारायण सरावगी विद्यालय' बालको के विद्याध्ययन के लिए बनवाया। समय-समय पर इस स्कूल की सहायता की जाती रही। यह स्कूल सुचारुरूप से चल रहा है। उद्घाटन के समय मुझे भी जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

विद्या प्रसार के साथ राजगढ निवासियो के स्वास्थ्य, सुख का भी ध्यान बराबर उन्हे बना रहा। सादुलपुर मे बीमारो के उपचार के लिये एक आयुर्वेदिक औषधालय की आवश्यकता समझी। जैन विश्वभारती, लाडनूं, के अध्यक्ष पद पर काम करते समय इस सस्था की तरफ से राजगढ के सादुलपुर मोहल्ले मे एक आयुर्वेदिक औषधालय की स्थापना की।

राजगढ के सुप्रसिद्ध नामी वैद्य प० परमेश्वर प्रसाद जी के साथ, जो समाज सेवा मे भी रत रहते हैं, भाई बिहारीलाल के बहुत घनिष्ट आत्मीयता के सम्बन्ध रहे। जब बदरीनाथ और केदारनाथ की यात्रा करने वह तथा उनकी पत्नी गये तो वैद्यजी के साथ भाई नानकराम को भी साथ ले गये। उनकी बड़ी इच्छा थी मुझे साथ ले जाने की, पर मैं अस्वस्थता के कारण इस सौभाग्य से वचित रहा।

भाई बिहारीलाल मेरे साथ जीवन मे अभिन्न मित्र व सुहृद भाई बन कर रहे। इस सौभाग्य और गौरव की स्मृति को मैं अपनी छाती से लगाए हुए हूँ। ●

आदर्श छात्र

जुगलकिशोर शर्मा

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि स्व० विहारीलाल जी का स्मृति-ग्रन्थ लिखा जा रहा है। मैंने भी सोचा और निश्चय किया कि मुझे भी उनके विषय मे कुछ लिखना चाहिये। घटना तो वहुत छोटी है, लेकिन राजगढ़ के छात्रवर्ग के वास्ते एक शिक्षाप्रद उदाहरण सिद्ध होगी।

यह घटना सन् १९२८ ईस्वी की है, जब हमारे कस्वे से दो छात्र सर्वप्रथम विड़ला कालेज, पिलानी मे पढने गये। हमारे कस्वे का स्कूल ८ कक्षा तक था। अधिकतर ८वी पास करके छात्र अपने पैतृक धन्धा मे लग जाते थे या किसी प्रकार की नौकरी पकड़ लेते थे। कस्वे से बाहर जाकर पढना उस समय एक महत्व की बात समझी जाती थी। छात्रो के नाम विहारीलाल जी जैन और रामनारायणजी वर्मा हैं। ये दोनो विड़ला कालेज से केवल १०वी मे उत्तीर्ण ही नही हुए, परन्तु उस सस्था (कालेज) मे एक विशेष प्रभाव छोडकर आये, जिसका प्रमाण हमे १९३१ ई० मे मिला।

तीन छात्रो का दूसरा वैच हमारा था, जिनके नाम इस प्रकार है:—श्री रामलाल राजगढिया, श्री वृजलाल, जुगलकिशोर। हम लोग इनकी प्रेरणा से ही विड़ला कालेज पिलानी पढ़ने गये। जाने से पहले श्री विहारीलालजी मिले थे और उन्होने हमे सलाह दी थी कि किसी कारणवश प्रवेश न मिले तो कालेज के वायस-प्रिंसिपल श्री सूर्यकरण जी पारीक से भेट कर लेना और यह भी कह देना कि उन्होने ही भेजा है। किसी ने कहा है कि 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वह इनके बाल्यकाल से प्रमाणित होती है।

किसी कारणवश हम तीनो छात्र प्रवेश खुलने की तारीख से २० दिन विलम्ब से पहुँचे। जब प्रवेश पत्र मागने आफिस मे पहुँचे तो वहाँ के कर्मचारी ने कहा कि प्रवेश वन्द हो चुका है। यदि प्रिंसिपल साहब चाहे तो हो सकता है। प्रिंसिपल साहब से मिलने पर हमे प्रवेश की स्वीकृति नही मिली। सोच मे पड़े। फिर हमे विहारीलाल जी की सलाह याद आई और वायस-प्रिंसिपल से मिलने चले। उन्होने हमारी बात सुनकर सलाह दी कि दोपहर को मैं प्रिंसिपल के कमरे मे बैठता हूँ, उस समय तुम तीनो चले आना। उनकी बात से प्रवेश पाने की कुछ आशा वनी। अवसर देखकर प्रिंसिपल के कमरे मे हम तीनो फिर गये। हमे फिर आया देख कर प्रिंसिपल ने कड़े शब्दो मे कहा कि कक्षा मे ३५ छात्रो की संख्या निर्धारित है और उतने प्रवेश पा चुके है। तब श्री पारीक जी ने प्रिंसिपल से इतना ही कहा "आपको याद होगा कि राजगढ से दो छात्र १०वी पास करके गये थे और विहारीलाल ने ही इनको यहाँ भेजा है।' इतना सुनते ही उनको पुरानी बाते स्मृति मे उभर आई और तुरन्त प्रवेश की आज्ञा दे दी। प्रवेश मिलने पर हमे वहुत खुशी हुई और यह सोचने लगे कि उन दोनो मे अवश्य कुछ गुण थे, जिससे हमे सुविधा हुई और हम उन दोनो का अनुकरण करें।

छात्रावास मे रहने पर धीरे धीरे उनके व्यवहार, अच्छे आचरण, अध्ययन और खेलकूद के विषय मे मालूम होता गया। बिहारीलाल जी हॉकी के अच्छे खिलाडी थे। अध्ययन छोड़ने के बाद भी राजगढ मे छात्रो के साथ हॉकी खेलते रहे। कुछ सीमा तक अध्ययन के अलावा हम कालेज की टीम के साथ खेलकूद मे भाग लेते थे। श्री रामलाल जी ने प्रथम श्रेणी मे १०वीं पास की और कालेज से स्वर्ण पदक प्राप्त किया। हम दो द्वितीय श्रेणी मे। १९३२-३३ की परीक्षा मे गणित का पर्चा कठिन होने से ३३ विद्यार्थियो मे से १७ ही पास हुए थे। दो बार राजगढ के छात्रो का अध्ययन स्तर देखकर बिड़ला कालेज वाले हमारे कस्बे के छात्रों को प्रवेश मे विशेष ध्यान देते थे और उनको कालेज ने अपने टेस्ट मे छूट कर दी। बिहारीलाल जी का बाल्यकाल एक आदर्श ही था, जिसको हमलोगो ने कुछ अंश तक समझा और उनके पीछे चले।

वे राजगढ मे कुछ वर्षों तक पैतृक व्यापार मे लगे रहे। पीछे वहाँ अपनी प्रतिभा को चमकाने का अवसर कम देखा और कलकत्ता चले आये। वहाँ पर बराबर उन्नति करते गये और जगह जगह पर शाखाएँ खोलते गये। उनमे एक विशेषता और थी कि अपने भाइयो तथा परिवार के लोगो को पूरा सहयोग देते रहे। आफिस काफी बड़ा तथा सुसज्जित रखा। पश्चिमी ढंग का फर्नीचर रखा हुआ था। वे अपने लिए राजस्थानी ढंग से अधिकतर गद्दी का प्रयोग करते थे। मिलने पर वही सहज स्वभाव और प्रेमपूर्वक वार्तालाप। जब लक्ष्मीजी की विशेष कृपा होती है तब मनुष्य के स्वभाव मे परिवर्तन अवश्य आता है। वह है अहं भाव। कुछ व्यक्ति विशेष होते हैं जो इस अहं से दूर होते हैं। बिहारीलालजी ने अपना सहज तथा सरल स्वभाव वैसा रखा और अहं की छाया से भी अपने को बचाये रखा। इनके जीवन की एक महत्वपूर्ण बात और देखने को मिली जो कि साधरणतया धनी लोगों मे कम ही पाई जाती है। वह है इनकी धार्मिक प्रवृत्ति। लक्ष्मी जी की वृद्धि के साथ उस प्रवृति मे कोई कमी नहीं आई, बल्कि धार्मिक प्रवृत्ति को बढाते ही चले गये। जैन धर्म की तरफ विशेष रुचि होते हुए भी अन्य धर्मों के मानने वालो से कोई विरोध नहीं। मिलने पर उनका सम्मान ही होता था।

जब कभी उनसे मुलाकात होती थी, तो उसी प्रसन्न मुद्रा मे स्वागत होता था और बोल-चाल मे अपना सहज तथा सरल स्वभाव। परिवारजनो को एक ही शिक्षा थी कि स्वभाव मे मृदुता बनाओ और आचार को प्रथम धर्म मानो। ●

धर्मनिष्ठ कर्मयोगी

वैद्य परमेश्वर प्रसाद, आयुर्वेदाचार्य

श्री विहारीलाल जैन सन् १९३८ से मेरे अन्तरंग मित्र रहे हैं। मैंने उनको वहुत नजदीक से देखा है। ऐसे साथी और सहयोगी इस कलि-काल मे मिलने दुर्लभ है। मैंने उनमे दो विशेष गुण देखे है—एक तो प्रतिकूल को अनुकूल वनाने का सामर्थ्य, दूसरा धर्म-परायणता एव आत्मिक सम्पदा से ओत-प्रोत जीवनोत्कर्ष। ऐसे वहुत कम मनुष्य होते है, जिनमे इन दोनो गुणो का समन्वय पाया जाता है। श्री जैन मे गजब की विवेक शक्ति और दूरदर्शिता थी। उत्तरदायित्व का वोध उनको हर समय बना रहता था। इन गुणो के कारण उन्होने व्यापार मे आशातीत सफलताएँ प्राप्त की। प्रतिष्ठा, पद, मान के साथ-साथ पर्याप्त धन भी उपार्जित किया। उनके वाह्य व्यक्तित्व मे अद्भुत आकर्षण था। जो एक बार उनसे मिल लेता था, वह उनको जीवन भर भूल नही सकता था। मिलनसारिता, स्पष्टवादिता, परोपकारिता, और जरूरतमदो की सहायता करना उनके वाह्य व्यक्तित्व के रचनात्मक एव नियामक गुण थे। उनमे अध्यवसाय की अद्भुत क्षमता थी। इन्ही गुणो के बल पर उन्होने यह सिद्ध कर दिया था कि व्यक्ति अपने भाग्य का स्वय विधाता होता है। अपने इन गुणो के कारण ही उन्होने एक सफल एव सम्पन्न और समृद्ध परिवार की नीव डाली। उनके प्रयास और चिन्तन मे कभी द्वन्द्व नही रहा। जो सोचते थे, वही करते थे। मर्यादा मे रहते थे। अनुशासन को अपने जीवन मे सर्वाधिक महत्व देते थे। वे दृढप्रतिज्ञ एव संकल्पमय पुरुष थे। अपने संकल्पो को आचरण के व्यवहार मे उतारते थे। उन्होने अपने जीवन मे कभी आडम्बर या पाखण्ड को तनिक भी स्थान नही दिया। व्यवहार मे सच्चाई और निष्कपटता उनका जीवनादर्श था। अन्ध-विश्वास एव कट्टर रूढियो मे कभी समर्थक नही रहे। जिस कार्य को स्वविवेक से उचित समझा, उसको नि सकोच पूर्ण किया। भले ही रूढ़िवादी समाज इसके लिए उनकी आलोचना करे। उन्होने स्त्रियो के पुनः विवाह का न केवल समर्थन किया, वल्कि उसकी शुरूआत भी अपने परिवार से की।

श्री विहारीलाल जैन मे शारीरिक शक्ति, वौद्धिक शक्ति, धन-वैभव की शक्ति, मान-प्रतिष्ठा की शक्ति तथा उज्ज्वल चरित्र की शक्ति का स्रोत वहता था। फिर भी वह विनम्रता के साक्षात् रूप थे। वह शांत, सुखी और तृप्त मानव थे। उनके वाह्य व्यक्तित्व पर अनेक वार घात-प्रतिघात हुए। पारिवारिक जीवन मे अनेक दुखदायी प्रसग उपस्थित हुए। उन्होने अजीजो की असामयिक मृत्यु के ताण्डव देखे, विपत्तियो के पहाड टूटने पर भी वह कभी विचलित नही हुए। धर्म और शात-चित होकर सव कुछ सह गये। कभी दिग्भ्रान्त नही हुए। स्थितप्रज्ञ की तरह विपत्तियो के निमन्त्रण को स्वीकार किया। किन्तु उनके सामने न कभी झुके, न कभी टूटे। यह सब वह कैसे कर पाये, इसका एक ही उत्तर है कि उनका जीवन सच्ची धर्मपरायणता एव आत्मिक

सम्पदा से सरावोर था। आध्यात्मिकता मे वह शक्ति होती है जो असह्य को भी सह्य बना देती है। श्री जैन ने अपने जीवन मे जितनी भौतिक सम्पदा अर्जित की थी, उससे कई गुणा अधिक आध्यात्मिक सम्पदा के स्वामी थे। बाल्यकाल मे ही उनकी रुचि आध्यात्मिक जीवन की ओर थी।

गुरु कृपा से उनको आत्म बोध हुआ। आत्मावलम्बन के सहारे उन्होने सत्य का साक्षात्कार किया। अहिंसा और सयम के महती रूप को जीवन का अग बनाया। जीवन को सन्तुलित रखने के लिये उन्होने अनेक छोटे-छोटे व्रत धारण किये। आचार्य शास्ता प्रणति अणुव्रत कार्यक्रम और सिद्धान्त मे पूर्ण आस्था प्रकट की तथा इनके प्रचार-प्रसार मे भी तन-मन और धन से सहभागी बने। धर्म-साधना से धीरे-धीरे उनमे आत्मज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित होता गया। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व मे एक आकर्षण बनता गया। वह सन्तुष्ट और तृप्त बनते गये। आत्मबोध के मार्ग पर वह बहुत सोच-सोच कर कदम रखते गये। आचार्य श्री की कृपा से वह निरन्तर आगे बढते गए। मार्ग मे भटके नही, रुके नही, कही विश्राम नही लिया। उनको यह स्पष्ट बोध हो गया कि आत्मा की उपेक्षा कर भौतिक प्रगति करना निरर्थक है। अतः वह जीवन भर आत्मा, सत्य और परमेश्वर की खोज मे उन्मुग्न रहे। यही उनका जीवन लक्ष्य था। जिसकी प्राप्ति मे उन्होने निष्काम भाव से अपने को समर्पित कर दिया।

धर्म-साधना मे श्री जैन ने सनातन और जैन दोनो सम्प्रदायो की मर्यादा और परम्परा का पालन किया। उन्होने हिन्दू धर्म के सभी तीर्थों के दर्शन किये, तथा वहाँ पूर्ण भक्तिभाव एव निष्ठा से पूजा, अर्चना, तर्पण आदि किये हैं। एक बार मुझे भी उनके साथ तीर्थों पर जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। श्री जैन के साथ मैंने उत्तराखण्ड की तीर्थ यात्रा की है। श्री जैन ने मुझे सूचित किया कि वह सपरिवार उत्तराखण्ड के समस्त तीर्थों पर जा रहे हैं। अतः आप भी परिवार सहित ऋषिकेश मे श्री स्वामी पूर्णानन्द जी के आश्रम पर पहुँचे। कार्यक्रम के अनुसार मैं निश्चित समय पर वहाँ पहुँचा। कुछ समय बाद वह भी वहाँ पहुँच गये। अल्प समय विश्राम के बाद हम लोग कार द्वारा श्री बदरीनारायणधाम गये। मार्ग मे पड़ने वाले सभी दर्शनीय, पूजनीय, धार्मिक स्थानो पर रुक-रुक कर देव-दर्शन स्नान आदि करते रहे। दो दिन श्री बदरी-नारायण-धाम मे रुके। इसके बाद श्री केदारनाथ की यात्रा की, दो दिन वहाँ रहे। भगवान् केदारनाथजी के दर्शन-पूजन कर हम वहाँ से एक ऐसे स्थान पर गये, जहाँ पितरो का तर्पण एव पिण्डदान किया जाता है। ऐसी जनश्रुति है कि इस स्थान पर पिण्डदान करने के बाद समस्त पितरो को मोक्ष का पुण्य लाभ प्राप्त होता है। अतः फिर श्राद्ध करने की आवश्यकता नही रहती। श्री जैन ने अपने सभी पितरो को तर्पण व पिण्डदान किया। इसके बाद तप्त कुण्ड मे स्नान करके हम पुनः श्री केदारदाथ भगवान के दर्शन करने गये। इस यात्रा मे मैंने देखा कि श्री जैन पूर्ण धार्मिक थे। धर्म उनके जीवन मे रमा हुआ था। आस्था, विश्वास, श्रद्धा से ओतप्रोत उनके मन और बुद्धि की थाह पाना कठिन था। वह धर्म कार्यो मे आत्म-विभोर हो जाते थे। वह धर्म को जीवन की स्रोत-धारा समझते। धर्म से जीवन मे गति प्राप्त करते थे। वे धर्म को दिशा-सूचक और नियन्त्रक समझते थे।

श्री जैन अपने पुरुषार्थ से अपने जीवन की अन्तिम दशाब्दि मे प्रतिष्ठित धनवान बन चुके थे। किन्तु धन का मद उनके जीवन पर कभी हावी नही हो सका। वह खुले हाथो लोक-मगल

के लिये दान किया करते थे। वह शिक्षा प्रसार को लोकमंगल का सबसे बड़ा साधन मानते थे। अत: शिक्षा के निमित्त पर्याप्त धन राशि दान-अनुदान मे देते थे।

सांस्कृतिक एव सामाजिक कार्यो मे सहयोग देने के लिये श्री जैन हर समय तत्पर रहते थे। जो लोग समाजसेवा के कार्यों मे जुटे हुए है, तथा सामाजिक एवं सास्कृतिक कार्यो का सम्पादन कर समाज की प्रगति मे योग दे रहे हैं, उनके प्रति श्री जैन के हृदय मे बहुत ऊँचे भाव थे। वह चाहते थे कि इन समाज-सेवकों का उनकी अमूल्य सेवा के उपलक्ष मे नागरिक अभिनन्दन किया जाय, क्योकि अभिनन्दन स्वयं मे एक ऐसा कार्य है जो समाज को आगे बढाने मे योग देता है। मृत्यु से एक माह पूर्व जब वह राजगढ़ पधारे थे, तब उन्होने मेरे अभिनन्दन के लिए श्री गोकुलचन्द शर्मा व श्री बनवारीलाल शास्त्री से चर्चा की थी। २७ फरवरी १९८७ को उनका निधन हो जाने के कारण योजना क्रियान्वित नही हो सकी।

श्री जैन सभी के साथ सद्भाव रखते थे। बड़े-छोटे का यथायोग्य सम्मान करते थे। मेरे प्रति उनकी श्रद्धा विशेष थी। वे मुझे बहुत मान देते थे। मैं भी सामाजिक कार्यों मे उनको अपना दाहिना हाथ समझता था। उनके असामयिक परलोकवास से मुझे भारी सदमा लगा। मैं सोच नही पा रहा हूं कि श्री जैन के सहयोग के बिना मैं अपने लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकूँगा। मेरी दृष्टि मे श्री जैन एक श्रेष्ठ धर्मनिष्ठ कर्मयोगी थे, ऐसे मानव जो धरती पर कभी-कभी उतरते हैं।●

मेरे बाल सखा

भरूँदान खत्री

बात बहुत पुरानी है। सन् १९२३-२४ के सत्र मे याद पड़ता है कि मैं, विहारी तथा रामनारायण कक्षा चार मे एक साथ पढते थे। अन्य सहपाठियो मे सत्यनारायण सुरेका तथा उसका भतीजा नोपचन्द भी साथ मे पढते थे। दूर रहने के कारण इनसे अधिक सम्पर्क नही रहा है। उनमे एक साथी तेजपाल सरावगी भी था। वर्तमान मे ये तीनो साथी दिवगत हो चुके हैं। हम लोग सभी घर पर एक साथ ही पढा करते थे।

स्कूल मे उस समय के अध्यापको मे विशेष रूप से हमारे जीवन पर प्रभाव प० फकीरचन्द जी भारद्वाज का था। वे स्कूल के पास ही रहा करते थे। किन्तु सबमे अधिक हमारे चरित्र-निर्माण मे श्री गगाप्रसादजी पाठक का हाथ रहा है। वे हिन्दी और संस्कृत के अध्यापक थे, तथा उनकी पाठन शैली भी अति उत्तम थी। पाठकजी का छात्रो पर बड़ा रोब था। वे पुस्तकीय शिक्षा को जीवन मे उतारने पर बल देते थे। उन दिनो भी पण्डितजी खद्दर धारण करते थे। गांधी टोपी, खद्दर की धोती, कमीज, कोट पहनते थे। पुराने पण्डितो की तरह लम्बी चोटी रखते थे।

विहारीलाल जी वैष्णव धर्म की अपेक्षा जैन श्वेताम्बर तेरापथी धर्म मे अधिक श्रद्धा रखते थे, किन्तु वैष्णव धर्म की वे कभी कोई नुक्ताचीनी नही करते थे। शायद यह प्रवृत्ति भाई ने अपनी पूज्य माताजी से ली हो।

कक्षा ६ के बाद हम तीनो प्राय: मिलकर ही अध्ययन करते थे। श्री गगाप्रसादजी पाठक को खद्दर पहनने के जुर्म मे ही बीकानेर राज्य से निष्कासित कर दिया गया था। उन्हे बीकानेर बुलाकर समझाया गया, लेकिन वे अपनी बात पर अडिग रहे और खद्दर पहनना छोड़ने को तैयार नही हुए। बीकानेर राज्य से निष्कासित होकर वे बामला नामक गांव, जिला हिसार मे चले गये। पण्डितजी का पत्राचार हम लोगो से कुछ दिनो तक चलता रहा। उन्होने अपने सात्विक जीवन की हम लोगो पर अमिट छाप छोड़ी है। गगा प्रसाद जी ने हम लोगो को नित्य गीता-पाठ करने पर जोर दिया। भाई रामनारायण तो वर्तमान तक गीता-पाठ करते रहे हैं। मुझसे भी अधिक भाई विहारीलाल का रामनारायण से सम्पर्क रहा है। वास्तव मे रामनारायण एक नर रत्न है। सदा उनकी जिन्दगी का ध्येय दूसरो की सहायता करना ही रहा है।

उस समय विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री जिनसेनजी जैन थे। उनका हम सब पर बड़ा स्नेह था। मिडिल की वार्षिक परीक्षा मे मेरा स्थान प्रथम रहा और भाई विहारीलाल सात-आठ अको की कमी के कारण द्वितीय रहे।

उसके बाद मैं तो बीकानेर चला गया और भाई विहारीलाल और रामनारायण पिलानी-कालेज मे पढने चले गये। बीकानेर से उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार होता रहता था। सन्

१९३०-३१ में जब भाई बिहारीलाल का विवाह हुआ तो उन्होने बालसखा के रूप मे मुझे भी आमन्त्रित किया। मैं उन दिनों सरदार शहर मे अध्यापक था। मैं भी उनकी शादी मे शरीक होने राजगढ गया था।

अध्यापकीय जीवन में मुझे सरदार शहर और सुजानगढ रहना पड़ा। सन् १९३२ के नवम्बर मास मे मेरा स्थानान्तरण राजगढ़ हो गया। राजगढ में कुछ समय बिहारीलाल जी के साथ बीता, किन्तु बार बार एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदली होते रहने के कारण उनसे सबन्ध कम रहने लगा। अवकाश प्राप्ति के बाद सन् १९६७ मे मैं कलकत्ता गया। मेरे दोनो लडके वहां "टैक्समैको" मे काम करते थे। कलकत्ता मे मैं अधिकाश समय बिहारी भाई के साथ ही बिताता था। प्रातः भ्रमण के लिये हम लोग विक्टोरिया मैदान जाया करते थे। उन दिनो की एक विशेष बात मैं कभी नही भूल सकता। मेरी आदत थी कि मैं प्रातः स्नान करके नाश्ता कर लिया करता था। एक दिन भाई ने आश्चर्य से मुझे पूछा—"तुम प्रातः अपने इष्ट देव का स्मरण किये बिना ही नाश्ता कर लेते हो?" फिर उन्होने जो सीख दी उसका मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव पडा। उस दिन के बाद मैं प्रात काल अपने इष्टदेव का स्मरण करके ही नाश्ता किया करता हूँ।

बिहारीलाल सदा ही रूढिवादिता के खिलाफ थे। जब उनके पिताजी का स्वर्गवास हुआ, तब उनकी इच्छा थी कि यदि समाज के कुछ व्यक्ति साथ दें तो वह पिताजी के ओसर मे लगने वाला रुपया किसी अच्छे कार्य मे लगा दें। सबसे अधिक साहसपूर्ण कार्य भाई ने उस समय किया जब उनकी पुत्री गुट्टू का पुनर्विवाह रचा दिया। उस समय तक किसी विधवा का पुर्नविवाह करना काफी साहस का कार्य था।

धर्म मे दृढता होने के कारण भाई के आचरण मे भी दृढता आ गई थी। भाई के पुत्र तोलू का आकस्मिक निधन जब कानपुर मे हुआ, उस समय मैं कलकत्ता मे ही था। जब मै अपनी सवेदना प्रकट करने के लिये उनके पास पहुचा तो मैंने देखा वह सभी को धीरज बँधा रहे थे। स्वय विचलित हुए बिना सबको सान्त्वना दे रहे थे। व्यावहारिक जीवन मे ऐसी कठिन घडी मे ऐसा धैर्य देख कर मैं चकित रह गया। ऐसी ही दृढता मैंने उनके बड़े भाई राधाकिशनजी और उनके पुत्र श्रीकृष्ण की मृत्यु के समय भी देखी।

शिक्षा के क्षेत्र मे भी भाई का कम योगदान नही रहा। अपने स्व० पिताश्री की याद मे "श्री शिवनारायण प्राथमिक बालिका विद्यालय" का भवन बनवाया। इसी प्रकार 'बाल-मदिर' के निर्माण मे भी भाई ने वैद्य परमेश्वरी प्रसादजी का पूरा सहयोग किया।

यह विधि की विडम्बना ही है कि हम चारो मित्रो मे सबसे छोटा बिहारी भाई सबसे पहले भगवान को प्यारा हो गये। भाई अपने आदर्श चरित्र और विशेष गुणो के कारण ही लोकप्रिय बने और अपने मित्रो के हृदय पर सदा-सदा के लिए अपनी छाप छोड़ गये। ●

श्री विहारीलालजी जैन

मुनि बुद्धमल्ल

आत्मीय भाव :

विहारीलालजी जैन राजगढ़ के थे, मैं सादुलपुर का हू, दोनो नगर भिन्न होते हुए भी इतने सटे हुए हैं कि भिन्नता की सीमा को पहचान पाना कठिन है। राजस्थान मे अनेक राजगढ हैं, अत. यहाँ के स्टेशन, डाकघर आदि सभी सरकारी कार्यालय सादुलपुर के नाम से हैं, इस उपक्रम से दोनो नगरो की अभिन्नता और भी गहरी हो गई। विहारीलालजी के मन मे मेरे प्रति जो सामीप्य की भावना थी, उसमे अवश्य ही अनेक कारण रहे होगे, परन्तु प्रारम्भिक कारणो मे से एक यह भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नही कि मैं उन्ही के नगर का निवासी हू। अपने गांव के सन्तो के प्रति अतिरिक्त आत्मीयता का होना कोई असहज वात नही है।

मेरा उनसे प्रथम परिचय कहां और कव हुआ, यह सुनिर्णीत कह पाना तो कठिन है, फिर भी इतना तो अवश्य कहा ही जा सकता है कि वह राजगढ या सादुलपुर मे हुआ हो, यह सभव नही, क्योकि मैं साढ़े ग्यारह वर्ष की वाल्यावस्था मे ही दीक्षित हो गया था। तव से अव तक मुनिचर्या की यायावरी मे मुझे अपने गाव की ओर जाने तथा वहां ठहरने के अवसर कम ही उपलव्ध हुए, विहारीलालजी अपनी वाल्यावस्था मे वहा कितने रहे, इसका मुझे पता नही, पर वाद मे अपनी व्यावसायिक आवश्यकताओ के अनुसार वे प्राय. कलकत्ता मे ही रहने लग गये। जब-तव थली मे आने तया आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित होने के अवसर आये होगे, तव उन्ही मे से किसी अवसर पर वे मेरे से परिचित हुए, ऐसा कहा जा सकता है। मैंने प्रारम्भ से ही मेरे प्रति उनमे एक गहरा आत्मीय भाव लक्षित किया है।

प्रथम परिचय :

मेरी युवावस्था के समय की वात है, उस समय मध्याह्न तथा रात्रिकाल मे समाज के अनेक युवक मेरे पास वैठा करते थे, वे प्राय. पढे-लिखे होते थे या पढ रहे होते थे, अत. साधु-साध्वियो से उनका सम्पर्क कम ही रह पाता था। धर्म के विषय मे अनेक जिज्ञासाए और आशकाए उनके मन को घेरे रहती थीं। मेरे पास वैठकर वे वहुधा उन विषयो की चर्चा करते रहते थे। मैं अपनी उस अवस्था मे तर्क-वितर्क-पूर्ण चर्चाओ मे काफी रस लेता था, अपने अनुभव की सीमा मे हर तर्क को समाहित करने का भी प्रयास किया करता था। ऐसे प्रसंगों मे रुचि रखने वाले अन्य लोग भी श्रवणार्थ वहा वैठ जाते थे।

एक वार सरदार शहर मे किसी ऐसी ही चर्चा गोष्ठी मे मैं अपने समाधान प्रस्तुत कर रहा था। युवको को कितना समाहित कर सका, यह तो कहना कठिन है, परन्तु यह कहा जा

सकता है कि अपने तूणीर के सब तीर वे समाप्त कर चुके थे। दूसरे दिन फिर आने की वात कहकर वे प्रस्तुत प्रसंग को सम्पन्न कर चले गये। श्रवणार्थियो मे से कुछ लोग प्रश्नो और उत्तरो की अपने-अपने प्रकार से कुछ देर तक समीक्षा करते रहे, फिर धीरे-धीरे वे भी चले गये। श्रवणार्थियो मे उस दिन विहारीलालजी भी थे। जब दो-चार भाई ही मेरे पास रह गये, तब उन्होंने आगे आकर मुझे वदन किया और कहने लगे—"आपके उत्तर सुनकर मुझे वहुत प्रसन्नता हुई, स्पष्ट और तर्क पूर्ण उत्तर देने का यह प्रकार मुझे वहुत ही पसद आया।" उक्त प्रशसात्मक उद्‌गारो के साथ-साथ उन्होने मेरे सादुलपुर-निवासी होने के कारण भी अपनी गर्वानुभूति अभिव्यक्त की। मेरी स्मृति के अनुसार विहारीलालजी के साथ मेरा यही प्रथम परिचय था।

उक्त परिचय के पश्चात् तो जब वे गुरु-दर्शन को आते और यदि मैं वहां होता तो कुछ समय मेरे पास अवश्य व्यतीत करते, मैं भी उनके द्वारा प्रस्तुत की गई वातों मे रुचि लेता था।

निकटता से :

मैंने कलकत्ता मे तीन चर्तुमास किये है, सन् १९७० और ७१ के दो चर्तुमास संलग्न किये। उनके शेष-काल मे भी प्रायः वही उपनगरो मे विहार करता रहा। उसके पश्चात् एक चर्तुमास गोहाटी मे करके पुनः लौटा, तव सन् १९७३ का चर्तुमास भी कलकत्ता में ही किया। इन वर्षो मे मुझे विहारीलालजी को निकटता से जानने एव परखने का अवसर मिला, मैंने पाया कि उनमे साधु-साध्वियो के प्रति अनन्य भक्ति है। सफल व्यापारी होने के साथ ही वे धर्म-सघ के प्रति निष्ठा रखने वाले एक सुश्रावक भी थे, कलकत्ता के उस लम्वे प्रवास मे अनेक वार के सपर्क के पश्चात् मैंने देखा कि वे मेरे साथ अपेक्षाकृत खुलकर वात करने लगे थे। अपनी व्यक्तिगत समस्याओ तथा मानसिकताओ के विषय मे भी वे मेरे से निस्सकोच वात कर लेते थे, मैंने उनको सदैव सहिष्णु और स्पष्ट पाया।

संस्कारदान :

कलकत्ता मे एक दिन विहारीलालजी ने मुझे कहा—'आपको कलकत्ता आये कई महीने हो गये, आप अभी तक एक वार भी मेरे मकान पर नही पधारे। मैं चाहता हूं, आप घर पर पधारे और कुछ समय लगाकर सभी पारिवारिको से परिचित हों।' मैंने उनके कथन को स्वीकार किया और एक दिन वहां गया। आसपास के अन्य श्रावको तथा विहारीलालजी के घर की गोचरी की। उनके घर पर कुछ देर ठहर कर प्रायः सभी पारिवारिक जनो से परिचय किया तथा धार्मिक प्रेरणा दी। मैंने पाया, विहारीलालजी ने अपने पूरे परिवार को धार्मिक सस्कारो से अनुप्राणित करने का अच्छा प्रयास किया है।

लाउडस्पीकर

विहारीलालजी की आवाज काफी वुलन्द थी, वे साधारण रूप मे वोलते तो भाषण देते हुए से लगते और भाषण देते तव विना लाउडस्पीकर के भी लाउडस्पीकर मे वोलते हुए से लगते। मैं कई वार उन्हे कहा करता था "प्रकृति ने आपके कठो मे ही लाउडस्पीकर फिट कर दिया है, अत. वाहर वाले लाउडस्पीकर की अपेक्षा ही नही रहती।" वे कभी तो मेरी वात सुनकर केवल

हँस ही देते और कभी कभी मजाक मे यो भी कह देते कि आपकी वात तो धीरे से कही हुई भी लोग सुन लेते हैं, पर मेरे जैसे को तो जोर से वोलकर ही अपनी वात सुनानी पडती है। और फिर अपने कथन की समाप्ति पर वे जोर से ठहाका लगाकर हँस पडते।

एक वार मुनि दिनकरजी और मैं पास-पास मे वैठे थे कि विहारीलालजी आ गये। कमरे मे प्रवेश करते ही उन्होने अपने स्वभावानुसार वडे जोर से 'मत्थेण वदामि' कहा। मैंने कहा—"हम दोनो की ही श्रवणशक्ति ठीक है, अत. धीमे वोलने से भी काम चल सकता है।" उन्होने चट से कहा—'आप ही तो कहते है कि प्रकृति ने मेरे कण्ठो मे लाउडस्पीकर लगा रखा है, तो वतलाइये, अव मैं उसको निकालकर वाहर कैसे रख सकता हू ?' उनके इस कथन ने उपस्थित सभी व्यक्तियों के मुख पर स्मित की रेखाए खीच दी। मैंने अनुभव किया—वे प्रत्युत्पन्नमति से उत्तर देने मे भी वडे निपुण है।

ऐरे-गैरे

राजलदेसर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आचार्यश्री द्वारा मुनि नथमलजी को महाप्रज्ञ नाम से युवाचार्य पद पर नियुक्त किया गया, उक्त कार्य के उपलक्ष मे मित्र-परिषद् द्वारा प्रतिवर्ष निकाली जाने वाली स्मारिका का विशेष अक निकाला गया। उसमे मेरा एक संस्मरणात्मक लेख छपा। सहपाठी और समवयस्क होने के नाते पारस्परिक परिहासो के भी उसमे कई सस्मरण हैं, वहाँ प्रदत्त एक सस्मरण के अनुसार मुनि नथमलजी (युवाचार्यश्री) ने एक वार मेरे नाम का परिहास करते हुए कहा—"मैं किसी 'वुद्ध' की वात नही मानता," इसके उत्तर मे मैंने भी उनके नाम का परिहास करते हुए कहा—'इस विषय मे मैं ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे' के कथन को कोई महत्त्व नही देता।" विहारीलालजी को उक्त परिहास वहुत पसन्द आया, वे कई वार वातचीत के सिलसिले मे उसे मेरे सम्मुख दुहरा चुके थे। इतना ही नही, कई वार तो अपनी वात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने के लिए वे स्वयं भी उसका प्रयोग कर लेते। वे कहते—"इसे ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे' की वात मत समझ लेना" और फिर जोर से ठहाका लगाकर हँस पडते।

श्लोक क्या है ?

मित्र परिषद् की स्मारिका के मेरे पूर्वोक्त लेख मे एक यह सस्मरण भी है कि मुनि नथमलजी जव पहले-पहल अग्रणी रूप मे विहरण कर वापस आचार्यश्री के पास आये, तव युवकत्व और नये दायित्व की लालिमा उनकी आकृति पर छाई हुई थी। मैंने उसी स्थिति को व्यक्त करने वाले एक सस्कृत-व्यग्यकार के श्लोक का पद्यांश कहते हुए उनसे सुखपृच्छा की। युवाचार्य वनने से दो-चार दिन पूर्व उन्होने मुझे उस वात का स्मरण करवाया था और हम दोनों एक साथ हँस पडे थे। उपर्युक्त सस्मरण को पढकर अनेक व्यक्तियो ने मुझे पूछा था कि वह श्लोक क्या था ? परन्तु उसे वतलाने का अव कोई औचित्य नही था, अत: मैंने उन सबको टाल दिया।

एक दिन विहारीलालजी ने भी पूछ लिया कि स्मारिका के लेख मे आपने श्लोक का उल्लेख तो किया है, पर न वह श्लोक दिया और न उसका भावार्थ ही। पढने वाले को तव कैसे पता लगे कि आपने क्या व्यग्य किया था और फिर आप लोग उसे याद कर के क्यो हँसे थे ?

मैंने कहा—"वह पद्यांश उसी समय के लिए उपयुक्त था, मैंने उसे अपने सहपाठी मुनि नथमलजी के लिए कहा था, वर्तमान के युवाचार्य महाप्रज्ञ के लिए नही।'

मेरा वह बनावटी तर्क उनको समाहित नही कर पाया, उन्होने तत्काल कहा—"तो फिर ऐसा "ऐरा गैरा नत्थू खैरा" वाला कथन आपने क्यो स्पष्ट कर दिया ? वह भी तो आज के महाप्रज्ञ पर लागू नही होता। साफ बात है, आप दोनो मित्रो ने चुपके चुपके ही लड्डू फोड़ लिये और खा लिए, हमे तो केवल दिखाकर चिढाया ही, परोसा तो नही।"

मेरे पास वस्तुतः उनके कथन का प्रतिवाद करने के लिए कोई स्पष्ट उत्तर नही था, फिर भी मैंने कहा—"आपका तो युवाचार्यश्री से भी गहरा सम्बन्ध है. फिर उस श्लोक के विषय मे उन्हे ही क्यो नही पूछ लेते ?"

बिहारीलालजी ने पलटते ही कहा—"बस बस, रहने दीजिए, मैं आप दोनो के बीच मे शूर्पणखा बनना नही चाहता।" और वह अनुत्तरित प्रश्न उनकी हसी के एक जोरदार ठहाके के साथ वही समाप्त हो गया।

नेता नगरी :

एक बार बिहारीलालजी ने मुझसे कहा—' कलकत्ता की एक यात्रा और करिये।"

मैंने कहा—"मैं कलकत्ता दो बार जा आया, तीन चतुर्मास कर लिये। अब तीसरी यात्रा के लिए क्यो कह रहे हो ? अब तो युवावस्था के सिंघाड़ो को ले जाने की बात करनी चाहिए।"

उन्होने कहा—'अभी तक तो आचार्यश्री भी स्वय को युवक मानते है। आप तो उनसे छह वर्ष छोटे है, तब फिर आपके वृद्ध होने का तो प्रश्न ही नही है, हम तो आपके कथन के अनुसार युवक सिंघाडे की ही मांग कर रहे है।'

मैंने वार्त्ता के रुख को बदलने की दृष्टि से कहा—'सन्तो की अपेक्षा सतियो के सिंघाड़े अधिक हैं, अतः उन्ही मे से किसी को चुनना अधिक उपयोगी होगा।'

बिहारीलालजी—"यह तो ठीक ही है। हमारे लिए तो साधु और साध्वी दोनो ही शिर के मौड़ है, पर आप अपनी बात के बीच मे साध्वियो की बात क्यो लाते है ?'

मैं—"साधुओ की अपेक्षा साध्वियाँ कलकत्ता के लिए अधिक उपयुक्त रहती है।"

बिहारीलालजी—"यह बात तो गले उतरने वाली नही कही आपने। साधुओ के पास आने-जाने तथा बातचीत करने की हम लोगो को जितनी स्वतन्त्रता मिलती है, उतनी साध्वियो के पास नही। दायित्व बढ जाता है, किन्तु अवसर घट जाते है। ऐसी स्थिति मे उनकी अधिक उपयुक्तता कैसे मानी जा सकती है ?'

मै—"आपने तो अपनी सुविधा और दायित्व की दृष्टि से ही सोचा है, पर अन्य दृष्टिकोण भी तो हो सकते है।"

बिहारीलालजी—"अन्य दृष्टिकोण कौन सा हो सकता है, यह भी बतला दीजिये।"

मैं—"कलकत्ता नेताओ की नगरी है। वहां आनुपातिक रूप से नेता कुछ अधिक ही है। उनसे सामजस्य बिठाकर चलने मे सतियाँ अधिक सफल रह सकती है, क्योकि वे नारी होने कारण

प्रकृति से कोमल और लचीली होती हैं, सन्तो को प्रायः उतना लचीला बनने में कठिनाई महसूस होती है।"

विहारीलालजी—"यह तो आपने विलकुल नई बात सामने रख दी। नेताओ को इस पर सोचना चाहिए।"

मैं—"आप भी तो उन्ही मे से एक हैं।"

विहारीलालजी—"ना वावा, ना। ऐसी गाली मत दीजिये, मैं तो समाज का एक अदना-सा सेवक हूँ।"

मैं—"यह भी तो नेता का ही एक लक्षण है कि वह स्वयं को मानता तो नेता है, पर कहता सेवक ही है।"

विहारीलालजी—"कही तो जीने की जगह दीजिये, चारो ओर से क्यो घेरते हैं?"
और उन्होने अपना स्वाभाविक ठहाका लगा कर बात की समाप्ति की घोषणा कर दी।

●

नगर विकास में श्री जैन

फकीरचन्द चौधरी

राजगढ के प्रतिष्ठित परिवारो मे सरावगी 'जैन" अपना विशिष्ठ स्थान रखता है। स्व० श्री शिवनारायण सरावगी एव उनके पूर्वजो की परम्परा मे उनके सुयोग्य, सबल, समर्थ एव विनोदी स्वभाव सम्पन्न सुपुत्रो ने अपने व्यक्तित्व एव कृतित्व तथा बुद्धि चातुर्य, सूझबूझ एव दूरदर्शी दृढ विचारो से अपनी वश परम्परा एवं कुल मर्यादा की कीर्ति पताका को सदैव ऊँचा रखा। उनमे कुलभूपण एव वश शिरोमणि स्व० श्री विहारीलाल जैन ने तो अपने असाधारण व्यक्तित्व एवं कृतित्व से निज परिवार एव वश का ही नही, अपितु जनसाधारण का हित साधन करते हुए अमिट नाम अर्जित किया है।

वहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विहारीलालजी के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति निम्नांकित पक्तियो से प्रमाणित होती है :

शिक्षानुरागी

आप जीवन पर्यन्त शिक्षा एव ज्ञान प्रचार व प्रसार के लिये समर्पित रहे, क्योकि आपने राष्ट्र, समाज व राज की समस्त समस्याओ का मूल कारण अशिक्षा और अज्ञान को माना। अतः उनके निवारणार्थ आपने आजीवन तन-मन व धन से सतत् प्रयत्न किया। उद्देश्य सिद्धि के लिए, आपने नगर की हर स्तर की शिक्षण सस्था से निकट का सम्पर्क व अभिरुचि रखी व प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से हर सम्भव सहयोग दिया।

श्री नेहरू बाल मन्दिर

सस्था की स्थापना से लेकर अन्त तक संस्था की प्रगति, विकास व सचालन व्यवस्था मे आपका अविस्मरणीय सहयोग रहा। संस्था के भवन-निर्माण योजना मे अर्थ-सग्रह हेतु निर्मित-कलकत्ता-उप समिति के आप सक्रिय सदस्य रहे तथा पर्याप्त अर्थ सग्रह करा कर भव्य भवन निर्माण मे विपुल सहयोग प्रदान किया। संस्था की सुचारु सचालन व्यवस्था मे आपकी विशेष रुचि रही।

वाल मन्दिर के दीर्घ मन्त्रित्वकाल मे, आप से, आपकी सस्था के प्रति, विशेष रुचि के कारण, वरावर प्रत्यक्ष अथवा पत्रव्यवहार द्वारा सम्पर्क रहा। परस्पर की वार्ता से अनुभव हुआ कि आप, सत्यनिष्ठ कर्मयोगी है, दृढ निश्चयी, स्पष्ट, निर्भीक वक्ता हैं, कुशल प्रशासकीय गुणो से समन्वित है, प्रशासन मे आने वाली कठिनाइयो एव संघर्षो से भलीभाति निवाहा, उनसे सलटना जानते हैं—अनुशासन प्रिय और उसकी अनुपालना के पक्षपाती हैं, आप संस्थाओ की सचालन

समितियों, उनसे सम्बन्धित समाज तथा सस्थागत कर्मचारियो की नब्ज भलीभांति पहचानते हैं—अर्थ सग्रह करने मे दक्ष—सस्था की विपम परिस्थितियो मे पलायन के नही वरन् डटे रहने की सघर्षशील प्रवृत्ति के हामी हैं।

अतः ऐसे व्यक्ति के जीवन दर्शन से उत्साह, प्रेरणा, सही मार्गदर्शन, अमूल्य उपयोगी सुझाव मिलना स्वाभाविक है। अतः नि.सकोच स्वीकार करूँ कि उनसे बहुत कुछ सीखने को मिला। वे प्रायः कहते थे कि सस्था से विपरीत विपम परिस्थितियो मे पलायन, कायरता की निशानी है और भावी समाज ऐसे व्यक्तियो को कभी क्षमा नही करेगा तथा सत्य की अन्त मे विजय होती है।

आप सदृश, अति व्यस्त, कुशल, व्यापारी व उद्योगपति के लिये यह अपवाद ही माना जायेगा कि कलकत्ता जैसी व्यस्त नगरी मे रहते हुए भी आप अपने नगर की शिक्षण सस्थाओ का चिन्तन करते रहते थे एव जानकारी लेते रहते थे और विशेप कर श्री नेहरू वाल मन्दिर की।

आपने, वाल मन्दिर की सरचना, सचालन व प्रगति के लिए अपनी ओर से तथा परिवार के सदस्यो से आर्थिक सहायता तो की ही, पर समय-समय पर उत्सव व पर्वो पर मुख्य अतिथि एव अध्यक्षीय भापणो से वाल व शिक्षक समाज एव कार्यकर्त्ताओ को सही व सच्ची प्रेरणा भी दी। ऐसे व्यक्तित्व को सदैव स्मरण कर ही वाल मन्दिर परिवार अपने कर्तव्य व दायित्व का निर्वाह कर पायेगा।

श्री शिवनारायण सरावगी प्राथमिक विद्यालय

श्री जैन शिक्षा की नीव को मजबूत करने के पक्षधर थे। नगर के प्राथमिक विद्यालय भवनो की जीर्ण-शीर्ण अवस्था और उससे वाल शिक्षा पर पडने वाले विपरीत प्रभाव को अनुभव कर, प्राथमिक विद्यालय-भवन-निर्माण के वातावरण मे श्री जैन ने भी प्राथमिक विद्यालय का एक भव्य भवन वनाकर सव तरह के साधन-सुविधाओ से सज्जित कर शिक्षा विभाग को समर्पित करके अपने परमपूज्य स्व० पिता 'श्री शिवनारायण सरावगी प्राथमिक विद्यालय' का सचालन कराया। आपको इस विद्यालय से विशेप अपनत्व व ममत्व रहा, जिससे वे इसके हर अभाव की आजीवन पूर्ति करते रहे।

श्री जैन व बालिका महाविद्यालय

श्री जैन ने वालिकाओ की उच्च शिक्षा सचालन व्यवस्था मे अपूर्व सहयोग दिया। नगर मे राज्य स्तर पर कक्षा १० तक ही वालिकाओ की शिक्षा व्यवस्था थी। श्री सर्वहितकारिणी सभा ने उक्त अभाव की पूर्ति अपने तत्वावधान मे वालिका उच्च शिक्षा सचालित करके की, जिसमे नाम मात्र की फीस पर सैकडो वालिकाओ ने वी० ए० तथा एम० ए० की परीक्षाएँ अच्छे अक प्राप्त कर उत्तीर्ण की व अपने जीवन पथ को प्रशस्त किया। उस शिक्षण व्यवस्था की स्थापना एव सचालन मे श्री जैन का अभूतपूर्व सहयोग रहा—वे प्रतिमाह मासिक आर्थिक सहायता महिला महाविद्यालय सचालन एव वालिकाओ की सहायतार्थ प्रदान करते रहे है।

छात्र वृत्तियां

श्री जैन ने नगर के प्राथमिक स्तर से महाविद्यालय स्तर तक के जरूरतमन्द छात्र-छात्राओ को छात्रवृत्ति योजना के अन्तर्गत निरन्तर दो वर्ष तक ८००/-मासिक की छात्रवृत्तिया अपनी ओर से उपलब्ध कराकर शिक्षा व ज्ञान प्रसार मे अनुपम सहयोग प्रदान किया।

चिकित्सालय स्थापना

जन स्वास्थ्य व रोग निवारण हेतु भी आप बराबर विचार करते थे तथा इसी हेतु आपने अपने अथक प्रयास से सादुलपुर मे औषधालय स्थापित कर सचालन कराने मे सफल रहे। आप होमियोपैथी पद्धति से चिकित्सा कराने का विचार भी रखते थे।

गौशाला में सहयोगी

गौ सेवा के लिये आप सदैव तत्पर रहे। स्थानीय गौशाला की सचालन व्यवस्था मे आप अच्छे व्यक्तियो को भाग लेने की प्रेरणा देते रहते थे तथा समय-समय पर विपुल धनराशि से आपने गौशाला की सहायता की। अकाल आदि के समय गौशाला के कार्यकर्त्ता जब जब आपके पास सहयोगार्थ आये, आपने भरपूर सहयोग उपलब्ध कराया।

नगरपालिका सदस्य रूप में

आपने कर्मठ नागरिक के रूप मे प्रथम लोक-प्रतिनिधि सदस्य चयनियत होकर जून १९४७ से १९५२ तक नगर सुधार व विकास कार्यों मे प्रशंसनीय कार्य किया। पानी, प्रकाश, सड़क, शिक्षा आदि सभी महत्वपूर्ण तथ्यो पर लिये गये निर्णयो की क्रियान्विति कराने मे अग्रणी रहे।

आप कुशल व प्रभावशाली वक्तृत्व कला मे भी विख्यात थे। हर विषय पर निश्चित सीमा मे रहते हुए अपने विचार व भावो की अभिव्यक्ति कर श्रोताओं को प्रभावित करते थे। इस प्रकार आप सुयोग्य, श्रेष्ठ नागरिक, शिक्षा प्रेमी, नगर विकास कार्यों मे रुचि रखने वाले एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे।●

श्री सर्वहितकारिणी सभा और विहारीलाल जैन

गोकुलचन्द वनवारीलाल शर्मा

समाज सेवा के विविध क्षेत्रो मे सन् १९२० से निरन्तर कार्य करने वाली राजगढ नगर की एकमात्र सस्था 'श्री सर्वहितकारिणी सभा' है। वैयक्तिक पुण्यार्जन के कार्यों को माध्यम बनाकर जन-सहयोग को सामाजिक रूप देने का दायित्व सभा ने वर्षो से सँभाल रखा है। नगर के प्रतिष्ठित परिवार सभा के निर्माण और उसकी प्रगति मे सहभागी रहे हैं। विशेषकर टीकमानी, फतेहपुरिया, लोहारीवाला, मोहता, धेवका और सरावगी परिवारो का योगदान रहा है। इन परिवारो ने सदैव सभा की तन, मन और धन से सेवा की है। राजगढ़ के श्रेष्ठ व्यक्ति सभा के कर्मठ कार्यकर्त्ता रहे हैं; जैसे सर्वश्री लक्ष्मीनारायण टीकमानी, वाबूलाल राजगढिया, सूरजमल मोहता, छगनलाल वागडी, महादेव प्रसाद टीकमाणी, रामनारायण टीकमाणी, सुगनचन्द सरावगी, गोगराज सरावगी, वदरीप्रसाद सरावगी, रतनलाल मोहता, मोतीलाल टीकमानी, छगनलाल टीकमानी, चतुर्भुज पेडीवाल, महादेव प्रसाद वैद्य, परमेश्वर प्रसाद वैद्य, वदरी प्रसाद गुप्त, हरिश्चन्द्र वकील और रामस्वरूप वकील आदि।

श्री विहारीलाल जैन के पूर्वजो ने इस सस्था को अपने रक्त और पसीने से सींचा है और श्री विहारीलाल जैन ने इसके विकास मे तन, मन और धन से सहयोग दिया है। सन् १९५८ से निरन्तर इन्होने सभा की प्रत्येक गति-विधि मे सक्रिय रुचि ली है तथा समय-समय पर अपने अनुभव, ज्ञान और धन से इसको आगे वढाया है। वीसवी सदी के सातवें और आठवें दशक मे श्री जैन सभा के परम सहयोगी और मार्गदर्शक रहे हैं। राजगढ मे महिला शिक्षा के अभाव की पूर्ति मे इन्होने अभूतपूर्व योग दिया है। सन् १९७१ से सभा ने अपने तत्वावधान मे महिलाओ की उच्चशिक्षा के लिए एक कोचिंग कालेज की व्यवस्था की। इस व्यवस्था के निर्माण, सचालन और उत्थान मे श्री जैन की प्रमुख भूमिका रही है। इनके आर्थिक सहयोग से ही यह व्यवस्था निरन्तर प्रगति करती रही है। फलस्वरूपप नगर की सैकडो वालिकायें स्नातक की उपाधि से विभूषित हुई है। जब कभी आप राजगढ पधारते तो कोचिंग कालेज मे अवश्य आते। अपने आर्थिक सहयोग और अनुभव से सभा के कार्यकर्त्ताओ, अध्यापको और वालिकाओ का उत्साह वढाते। सन् १९७१ से आप निश्चित और नियमित रूप से मासिक सहायता देते रहे। इसके अतिरिक्त विशेष सहायता भी समय-समय पर प्रदान करते रहे हैं।

महिला शिक्षा के सम्वन्ध मे उनके विचार वडे प्रेरणादायक थे। उन्होने मुक्तकण्ठ से सभा की इस शैक्षणिक व्यवस्था की प्रशसा की है। वे इस व्यवस्था को एक वहुत वडा गौरवपूर्ण कार्य समझते थे। उनकी दृष्टि मे ऐसी एकेडेमिक और चरित्र निर्माण की शिक्षा वहुत कम सस्थाये दे पाती है। श्री चादमल अग्रवाल ने इनकी ही सत्प्रेरणा और प्रयास से कोचिंग कालेज

के लिए "सीता भवन" का निर्माण करवाया। इनकी हार्दिक इच्छा थी कि यह कालेज नियमित कालेज के रूप मे संचालित हो और महिला शिक्षा के क्षेत्र मे एक आदर्श स्थापित करे। नगर की वेटियो को उच्च शिक्षा प्राप्त करते देखकर श्री जैन का हृदय-कमल खिल जाता था। उनकी गौरवान्वित चित्तवृत्ति की छटा दर्शनीय होती थी। एक नैष्ठिक कर्मयोगी और निष्काम सहयोगी के रूप में वे अपनी सेवाये इस सस्था को दिया करते थे और अन्य महानुभावो को ऐसा करने के लिए उत्साहित करते रहते थे।

श्री जैन का शिक्षा प्रेम अद्‌भुत था। वे शिक्षा के विकास मे धन खर्च करना एक बहुत वड़ा राष्ट्रीय कर्तव्य समझते थे। वैयक्तिक पुण्यार्जन की अपेक्षा सामाजिक उत्थान मे धन खर्च करने को सर्वोत्तम पुण्य मानते थे। यह उनकी धार्मिक वृत्ति की उज्ज्वल उपलब्धि है। समाज सेवा के व्यापक क्षेत्र मे उनकी रुचि थी, किन्तु उनका विचार था कि सवसे वडी समाज सेवा समाज मे उत्तम शिक्षा की सुविधा जुटाने मे है, क्योकि उपयुक्त शिक्षा से ही युवक और युवतियाँ स्वावलम्वी वन सकती है। वे कहते थे कि किसी को रोटी देने की वजाय उसमे रोटी कमाने की सामर्थ्य पैदा करना सवसे वडी सामाजिक सेवा है। वे मानते थे कि जीवन की विभिन्न समस्याओ का समाधान हृदय के देवता को जगाने से होता है और हृदय का देव उपयुक्त धार्मिक और सामाजिक शिक्षा से ही जागता है। इसलिए भारत के हर वालक और वालिका को सुसस्कारो की शिक्षा दी जानी चाहिए। शिक्षा धर्म की भाति व्यक्ति के आचरण मे झलकनी चाहिए। चरित्र शिक्षा के लिए उनका खजाना हमेशा खुला रहता था। उनका कहना था कि यदि सभा नैतिक शिक्षा के व्यापक क्षेत्र मे काम करे तो वे इसके लिए धन की कमी नही आने देगे। वे वार-वार छात्राओ को सम्बोधित कर कहते थे "वेटियो, तुम सव मन लगाकर पढो, परीक्षाओ मे कीर्तिमान् स्थापित करो और अपने हृदयो मे एक धार्मिक ज्योति प्रज्वलित करो, हम तुम्हे विश्वास दिलाते है कि तुम्हारा भविष्य परमोज्ज्वल होगा।"

अध्यापकवृन्द से कहते थे 'आप निष्ठा से काम करो, इन दीपको मे रोशनी प्रज्वलित करो, हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि किसी भी अध्यापक को भौतिक अभावो का सामना नही करना पड़ेगा।"

शिक्षा के विषय मे श्री जैन के विचार स्पष्ट और सुलझे हुए थे। वे शिक्षा को कामकाज की आधारभूमि तो स्वीकार करते ही थे, किन्तु उसे सर्वाधिक रूप मे नैतिक चेतना की प्रेरक समझते थे। वे कहते थे कि वह शिक्षा ही क्या, जो व्यक्ति को सच्चा धार्मिक न वना सके। धार्मिक ही सही रूप मे मानव कहलाने का अधिकारी होता है। धार्मिक से उनका अर्थ नैतिक सस्कारो से परिमार्जित व्यक्ति से है, किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष के अनुयायी से नही। सभा का कोचिग कालेज इनके शैक्षणिक विचारो को सदा मान्यता देता रहा है और अपने पठन-पाठन मे नैतिक चैतन्य के स्फुरण पर विशेष वल देता रहा है।

गर्ल्स कोचिंग कालेज के लिए "सीता भवन" के शिलान्यास के सुअवसर पर आयोजित समारोह की अध्यक्षता आपने की थी। अपने अध्यक्षीय भाषण मे आपने कहा था "इस कालेज की छात्राओ के परिमार्जित भाषा सौष्ठव और विशुद्ध उच्चारण से सम्पन्न वक्तृत्व शक्ति, ज्ञान की आभा से विभूषित स्मित मुख-मण्डल और प्रेरणादायक उत्साह को देखकर आज मैं फूला नही समा रहा हूँ। जीवन मे मुझे पहली वार एक दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई है। फूल स्वय

तो खिलता ही है, इसके साथ-साथ दूसरों को खिलने के लिए प्रेरित करता है। जैसे फूलो में सुगन्ध है, वैसे शिक्षा से भी हृदय ज्ञान-सुगन्ध से भर जाता है। भारतीय नारियो को ऐसी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। उन्हे आदर्श वहिन, पत्नी-सहचरी, आदर्श मा और आदर्श वश निर्मात्री वनना है। आदर्श शिक्षा ही उन्हे ये सव कुछ वना सकती है। मैं इन होनहार छात्राओ के लिए सुनहरे भविष्य की कामना करता हूँ और विश्वास दिलाता हूँ कि हम अभिभावक के रूप मे इनके लिए, उच्च कोटि की शिक्षा-व्यवस्था नगर-स्तर पर करने मे कोई कमी नही रखेंगे।"

वर्तमान भारत के धनपति, उद्योगपति और व्यापारी अग्रेजी शिक्षा और अग्रेजी माध्यम की शिक्षा को सर्वाधिक महत्व देते हैं, वे अपने वच्चो को ऐसे स्कूलो मे ही भेजना पसन्द करते हैं, जो इगलिश–मीडियम के हो। किन्तु श्री विहारीलाल इसके पक्ष मे नही थे। वे संस्कृत-निष्ठ शिक्षा के समर्थक थे। विशेप रूप से लडकियो को सस्कृत भापा का पूर्ण ज्ञान देने के पक्षधर थे। इसलिए सभा के कालेज मे स्नातक स्तर तक सस्कृत को एक अनिवार्य विपय के रूप मे पढाया। इससे छात्राओ के नैतिक विकास पर आशातीत प्रभाव पडा। उनकी मान्यता थी कि वर्तमान भारत मे विद्यार्थी वर्ग मे जो अनुशासनहीनता और उद्दण्डता दिखाई पडती है, वह अग्रेजी शिक्षा के कारण है। सस्कृत नैतिक शिक्षा का पर्याय है। यह सस्कृति की शिक्षा है। यह भारतीय आत्मा के विकास की शिक्षा है। सही रूप मे सस्कृत ही भारत की आत्मा है। हिन्दुत्व का जीवित रूप है। जव तक सस्कृत इस देश मे प्रचलित रहेगी, तव तक भारत भारत रहेगा। इसलिए भारत को जीवित रखने के लिए सस्कृत की रक्षा हर मूल्य पर करनी चाहिए। इसे जन-जन की भापा वनानी चाहिए। समाज का ही दायित्व है कि इसे आगे वढाये और तन-मन-धन से इसके विकास की रूप रेखा वनाये। श्री जैन का सस्कृत प्रेम अद्भुत था। उनके संस्कृत-प्रेम मे देश-भक्ति की उज्ज्वल भावना के दर्शन होते हैं। उनका व्यक्तित्व राष्ट्र सेवा मे पूर्णरूप से आत्मसात् हो चुका था। उनके सम्पर्क मे आने वाले हर व्यक्ति को इस वात की अनुभूति होती थी। उनके व्यक्तित्व मे आध्यात्मिकता, नैतिकता, धार्मिकता और राष्ट्रीयता के समन्वित रूप दिखाई पडते थे। वे स्वय मे एक सस्था थे और अपने विचारो को मूर्तरूप देने के लिए विभिन्न सस्थाओ के निर्माता थे।

श्री सर्वहितकारिणी सभा ने अपने जीवन काल की अर्द्ध शताव्दी पूरी करने के उपलक्ष्य पर स्वर्णजयन्ती समारोह मनाने का आयोजन किया और इस अवसर पर "स्वर्ण जयन्ती स्मृति सरोज" ग्रन्थ प्रकाशित करने का सकल्प लिया। चूंकि सभा राजगढ़ की एकमात्र प्रतिनिधि सस्था है और राजगढ के वहुमुखी विकास मे इसका प्रचुर योगदान रहा है, अतः इस अवसर पर सभा-प्रेमियो ने "स्वर्ण जयन्ती स्मृति सरोज" मे राजगढ का ऐतिहासिक वृत्तान्त प्रकाशित किये जाने का निर्णय लिया। यह कार्य कठिन था। साधनाभाव मे सभा इसे पूरा करने मे दिक्कत का अनुभव कर रही थी। श्री विहारीलाल जैन ने इस कार्य को आगे वढाने मे उत्साह वढाया और आर्थिक सहयोग दिया। उनकी प्रेरणा और सद्भावना से उक्त ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हुआ। ग्रन्थ का विमोचन राजस्थान के प्रसिद्ध कवि श्री मुकुल के करकमलो से सम्पन्न हुआ। उस समारोह के अध्यक्ष श्री जैन थे। अपने अध्यक्षीय भापण मे उन्होने वडे उपयोगी विचार व्यक्त किए। उन्होने कहा—"अनन्त काल के गर्भ मे पूर्वजो के उत्कर्ष के अनेक रूप छिपे है। वे वीज और वृक्ष दोनो रूपो मे हैं, जिनका परिचय वशजो को मिलना चाहिए। जिस नगर मे हम रहते

हैं, उसका प्राचीन इतिहास का ज्ञान नगर निवासियो को होना चाहिए। इससे नगर निवासियो के मन मे अपने नगर के प्रति भक्ति दृढ़ होती है। नगर के अतीत का ज्ञान उनमे उत्साह की अभिवृद्धि करता है, प्रेरणा और साहस का सचार करता है। अपने नगर के इतिहास को पढ़कर नगर निवासी गौरवान्वित होते हैं, उनमे सस्कृति और आदर्श के बीज स्वत. प्रस्फुटित होने लगते हैं। वे अपने नगर को सुन्दर बनाने के कार्य मे भाग लेने लगते हैं। नगर प्रेम ही कालान्तर मे राष्ट्र-प्रेम मे परिणित हो जाता है। फलस्वरूप राष्ट्रीय सस्कृति की एक आधार भूमि तैयार होने लगती है। श्री सर्वहितकारिणी सभा ने राजगढ़ का ऐतिहासिक वृत्तान्त प्रकाशित कर देश-भक्ति का उज्ज्वल कार्य किया है। वह साधुवाद की पात्र है। हमे विश्वास है कि इस जिले के अन्य नगर भी इसका अनुकरण करेगे और अपने नगर का इतिहास किसी न किसी रूप मे प्रकाशित करेंगे।"

"स्वर्ण जयन्ती स्मृति सरोज" ग्रन्थ की वे बहुत प्रशसा करते थे और उसके प्रसार मे भी उन्होने पर्याप्त सहयोग दिया था। उनकी इच्छा थी कि सभा नगर के मान्य समाजसेवी व्यक्तियो के कार्यो को नगर निवासियो के सम्मुख उजागर करने का भी कार्य करे। इसके लिए अभिनन्दन ग्रन्थ और स्मृतिग्रन्थ निकालने मे रुचि ले। नगर के प्रसिद्ध समाजसेवी पण्डित परमेश्वर प्रसाद वैद्य की सेवाओ के उपलक्ष्य मे उनका अभिनन्दन करने और एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने की अन्तिम योजना भी वे बना चुके थे, किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु ने इस कार्य को आगे बढने से रोक दिया। वैद्य जी के लिये उनके हृदय मे अपार श्रद्धा और प्रेम था। इनके अभिनन्दन ग्रन्थ को प्रकाशित करने की वे उत्कृष्ट भावना रखते थे, जो अधूरी रह गई। सभा के माध्यम से वे अनेक सांस्कृतिक, शैक्षणिक और राष्ट्रीय महत्व के कार्य करवाने के स्वप्न देखते थे और अपने स्वप्नो को मूर्त रूप देने के लिये योजनाबद्ध तरीके से कार्य करते थे। अच्छे कार्यो के सम्पादन के लिए वे स्वयं धन देते थे और दूसरो से भी दिलवाते थे। विगत दशाब्दि मे वे सभा के आर्थिक सरक्षक बने हुए थे। उनके असामयिक निधन से सभा की भारी क्षति हुई है और उसके कार्यो को गति-शून्य बना दिया है। राजगढ़ मे उनके प्रति लोगो मे श्रद्धा और प्रेम है। उनके समाज सेवा से सम्बन्धित कीर्ति-स्तम्भ वर्षो तक बने रहेगे। उनका विशेष ध्यान सभा की ओर था। वे सभा के उद्देश्यों की पूर्ति मे निष्ठा से रुचि लेते थे। जिस प्रकार सभा सगठित प्रयासो से सबसे यथायोग्य अनुदान और अनुग्रह से नगर का विकास चाहती है, वैसे ही श्री जैन भी नगर विकास के लिए सब का धन, शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार नगर हित मे व्यय करवाना चाहते थे। वे नगर मे एक व्यक्ति के द्वारा नगर विकास मे प्रदत्त योगदान को बुरा नही समझते थे, किन्तु उनका विचार सबको साथ लेकर चलने का था। एक व्यक्ति के योगदान में अहं की परिपुष्टि होती है। अहं पर आधारित क्रियान्विति के परिणाम आदर्श-निर्माण मे कम सहायक होते हैं। श्रद्धा और साधन के अनुसार सबका योगदान नगर के विकास मे निष्काम वृत्ति का परिचायक है। जिसके परिणाम उन्नतिमूलक होते हैं। सामाजिक जीवन को ऊर्ध्वरेता बनाते है। सामाजिक चेतना को जागरूक रखते है। फलस्वरूप अनेक युवक समाजसेवा के कार्य मे सहभागी बनते हैं। समाज मे सहकारिता पर आधारित स्वावलम्बन का मार्ग प्रशस्त होता है, जिससे समाज की मौलिक सृजनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति के अवसर मिलते जाते हैं। जीवट और पहल करने की शक्ति सदैव बनी रहती है। नैतिकता और आध्यात्मिकता का वातावरण इस प्रक्रिया से कभी सुप्त नही होता। प्रत्येक

व्यक्ति नगर के प्रति अपनत्व की भावना से ओत-प्रोत रहता है। सबके सहयोग से बने निर्माण कार्य इतिहास मे कभी उपेक्षा के पात्र नहीं बने हैं, जबकि विशेष धनिक व्यक्तियो से निर्मित सस्थान काल-कवलित हो चुके है।

कोई धन-कुबेर नगर के विकास मे अपने धन के सदुपयोग से चार चाँद लगा सकता है। नगर के प्रति उसकी भक्ति और लगन प्रशसनीय होती है। ऐसे स्वनामधन्य व्यक्ति का हमे हृदय खोलकर स्वागत करना चाहिए। वह नगर का सुपुत्र है। नगर का भगीरथ है जो नगर मे सस्कृति और धर्म की भागीरथी प्रवाहित करता है, जिसका पुण्य फल असख्य जन प्राप्त करते हैं। नगर के विकास मे ऐसे महानुभावो के कार्यो को हमे प्रोत्साहन देना चाहिए, उनकी किसी भी रूप मे निन्दा नही करनी चाहिए, किन्तु हमारा अन्तिम लक्ष्य विकास के लिए सगठित प्रयास ही होना चाहिए। श्री सर्वहितकारिणी सभा का उद्देश्य सबको साथ लेकर सबके हित मे सब के सहयोग से उपयोगी कार्य करना है। यह धर्म, जाति, वर्ण, व्यक्ति आदि से निरपेक्ष है। इसके माध्यम से गरीब, अमीर और मध्यम वर्ग, सभी का धन समाज सेवा मे लग सकता है। इसकी कार्य पद्धति स्थायी और शाश्वत है। नगर-निवासियो को इस उद्देश्य की ओर ध्यान देना चाहिए। वे बार-बार कहते थे कि सस्था बडी है, व्यक्ति नहीं। सस्था के हित मे व्यक्ति को अह और सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता का बलिदान कर देना चाहिए। इसमे देश, राष्ट्र और समाज सबका हित छिपा है। श्री जैन के सामाजिक विचार बहुत सुलझे और स्पष्ट थे। वे विचार अभिव्यक्ति मे पूर्ण निर्भीकता का परिचय देते थे। जो सोचते थे, वही करते थे और जो कहते थे वही करते थे। वे अपने विचारो को दूसरो पर थोपते नही थे। सभा के कार्यकर्त्ताओ के विचारो को सुनकर, उन पर गभीरता से विचार करते थे। वे विचार क्रान्ति को महत्व देते थे। उनकी दृष्टि मे विचार स्वतन्त्रता सर्वोत्तम स्वतन्त्रता थी, किन्तु अच्छे विचारो का अपना महत्व है और विचारो की क्रियान्विति ऊँचे साधनो से ही होनी चाहिये। वे चाहते थे कि सभा एक विचार प्रधान सस्था का रूप ग्रहण करे। इसके पुस्तकालय मे विश्व के सभी धर्मो, दर्शनो मत-मतान्तरो के ग्रन्थ सगृहीत होने चाहिए। पाठको की बुद्धि को प्रखर और तेजस्वी बनाने वाले विचार-प्रधान कालजीवी साहित्य की आवश्यकता है। समय-समय पर सभा के मच से विचार गोष्ठियो का आयोजन होना चाहिए। इन गोष्ठियो के द्वारा लोगो मे सद्विचार उत्पन्न किए जाएँ तथा उनमे सही ढग से विचार करने की क्षमता का विकास किया जाना चाहिए। सभा की प्रत्येक गति-विधि विचारोत्तेजक बने, तभी वह सार्थक हो सकती है।

श्री सर्वहितकारिणी सभा का कार्यक्षेत्र व्यापक है। अभावो और कठिनाइयो के दिनो मे यह जनता को राहत पहुँचाने का कार्य करती रही है। अकाल से पीडित जनसमुदाय की सहायता करती है। अधिक वर्षा से क्षतिग्रस्त परिवारो को मदद पहुँचाती है। सम्वत् २०२९ मे इस क्षेत्र मे भयकर अकाल पडा। सभा ने मनुष्य और पशुधन की रक्षा हेतु बडे पैमाने पर राहत कार्य किए। इस कार्य मे श्री जैन साहब का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। कलकत्ता मे रहते हुए उन्होने तुरन्त सहायता प्रदान की तथा हजारो रुपये सहायतार्थ एकत्रित कर सभा को भिजवाए। इस धनराशि से मनुष्य और पशुओ को भूखमरी से बचाया गया था। ऐसे परोपकार से सम्बन्धित कार्यो मे वे कभी पीछे नही रहते थे।

गरीब और असहायो के प्रति श्री जैन के हृदय मे अथाह सहानुभूति भरी हुई थी। गरीबी को वे कभी अच्छाई के रूप मे स्वीकार नही करते थे। उनका विचार था कि किसी सीमा तक

साधु-संन्यासी के लिए गरीबी मान्य हो सकती है। स्वेच्छा से प्रेरित गरीबी आध्यात्मिक उन्नति के लिये आवश्यक है, किन्तु राष्ट्र के लिए यह अभिशाप है। वह राष्ट्र के लिए कभी आदर्श नही हो सकती। राष्ट्र से दरिद्रता का समूल विनाश होना चाहिए। गरीबी दूर करने के लिए प्रत्येक भारतीय को स्वावलम्बी बनना होगा। विशेषकर उनकी इच्छा थी कि प्रत्येक नगर मे स्वायत्तशासी सस्थाओं के माध्यम से महिलाओ को स्वावलम्बी बनाने की दिशा में प्रयत्न किया जाना चाहिए। शिक्षा के साथ उद्योग प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करनी चाहिए। श्री सर्वहित-कारिणी सभा मे सिलाई-प्रशिक्षण के कार्य को उन्नत बनाने के लिये आर्थिक सहायता देने की पेशकश की थी।

संक्षेप मे यह निर्विवाद सत्य है कि श्री जैन राजगढ के परम हितैषी नागरिक थे। श्री सर्वहितकारिणी सभा के अन्तरग मित्र थे। सरक्षक और मार्ग-दर्शक थे। उनके सुझाव और विचार सभा के विकास में बहुत सहायक रहे है। सस्थायें केवल आर्थिक सहयोग से ही नही चलती हैं, उनको गति प्रदान करने वाले विचार भी मिलने चाहिए। श्री जैन ने अपने जीवनकाल मे सभा को पर्याप्त आर्थिक सहायता तो की है, किन्तु उनके व्यावहारिक सुझावो से सभा अधिक लाभान्वित हुई है। सभा उनके प्रति बहुत कृतज्ञ है। उनको कभी भूल नही सकती।●

मेरे अभिन्न वन्धु

श्रीचन्द रामपुरिया

दिनांक २८ फरवरी, १९८७ की वात है। आचार्यश्री चूरू (राजस्थान) मे विराज रहे थे। उनका उसी दिन वहाँ से विहार होने वाला था। मैं भी उसी दिन वापस सुजानगढ़ जाने वाला था। प्रातः दर्शन करने गया तो पोल मे प्रवेश करते ही सुना कि भाई विहारीलालजी जैन का कलकत्ता मे गत दिवस देहान्त हो गया। फरवरी के प्रथम सप्ताह मे रतनगढ मे जिनसे घुल-मिल कर वातचीत हुई, वे २३ दिन वाद ही अकस्मात् चल वसे, इससे वड़ी शून्यता सी महसूस हुई। मन मे आया—सवसे अधिक मोह का स्थान देह है। आश्चर्य है कि मनुष्य क्यो नही समझ पाता कि वह कैसी क्षणभगुर वस्तु मे मोह कर रहा है।

आचार्यश्री के समीप पहुँच मैंने दर्शन किये और ज्यो ही निधन की वात कहने लगा, आचार्यश्री स्वय ही वोले : "विहारीलालजी चल वसे। तुम्हारे अनन्य मित्र थे। वडे कर्मठ व्यक्ति थे।" आचार्यश्री ने कुछ शव्दो मे ही दिवगत आत्मा के व्यक्तित्व का माप-जोख रख दिया।

भाई विहारीलालजी धर्मनिष्ठ और कर्मनिष्ठ दोनो थे। प्रातःकाल शौच निवृत्ति के वाद स्नान कर सामायिक अवश्य किया करते। सामायिक मे ध्यान एवं स्तवन कीर्तन करते। कलकत्ता मे साधु-साध्वियो के होने पर स्वस्थावस्था मे पत्नी सहित दर्शन करते। प्रवचन भी सुना करते। धार्मिक पुस्तको का अध्ययन करते रहते। वे अणुव्रती थे। प्रेक्षा-ध्यान शिविरो मे भाग लेते। रात्रि भोजन से विरत थे। एक वार महासभा के अध्यक्ष-पद को सँभालते हुए उन्होने १५ दिवसीय दीर्घ उपवास किया। आचार्यश्री, युवाचार्यश्री, साध्वी प्रमुखाश्री के ही नही—सारे साधु-साध्वियों के भक्त थे। साधु-साध्वियो को गोचरी के समय वड़ी उमग से हठपूर्वक वहराते। वड़े श्रद्धावत समर्पित श्रावक थे। आचार्यश्री ने उनके इन्ही गुणो से प्रभावित हो उन्हे "दृढधर्मी" घोपित किया था।

यात्रा आरम्भ करते ही वे उच्च-स्वर से 'चत्तारि सरण पवज्जामि' का उच्चारण करते।

भाई विहारीलालजी प्रकृति के वडे स्वच्छ थे। छल-प्रपच से दूर रहते। धोखा-घड़ी जैसी चीज उनमे नही देखी। व्यवहार मे सहज ऋजुता और आन्तरिक हितैपिता रहती। मिथ्या वोलने की आदत नही थी। विकथा मे भाग नही लेते थे। अपनी कही हुई वात का पूरा ध्यान रखते। इन सव आत्मीय गुणो के कारण वे सच्चे अर्थ मे धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे।

एक दिन उन्होने वताया कि विवेकपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मर्यादा कर लेने पर गृहस्थ-जीवन मे भी ब्रह्मचर्य की साधना कैसे सरल हो जाती है। पर-स्त्री त्याग, दिवा-सहवास त्याग, पर्व-तिथियो मे अब्रह्मचर्य के त्याग का नियम—आदि आदि त्याग-प्रत्याख्यान से मनुष्य "परदारविरमणस्वदारसतोप" रूप श्रमणोपासक के अणुव्रत का सम्यक् रूप से पालन कर सकता है।

सूर्यास्त के वाद कुछ घटे और प्रात.कालीन चार वजे के वाद के सूर्योदय तक का समय प्राय: गृहस्थो के लिए अपने आप मे अब्रह्मचर्य की निवृत्ति के रहते है। मनुष्य संमय का विचार कर, ऐसे-ऐसे त्याग करता रहे तो ब्रह्मचर्य की वहुकाल-व्यापी साधना सध सकती है। उपर्युक्त वाते वताते हुए उन्होने सुश्रावक श्री रामकुमारजी सरावगी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए कहा कि इन सरल श्रेयस्कर विधियो का ज्ञान उन्हे उन्ही से प्राप्त हुआ।

वे सन् १९८२ मे गंगाशहर मे जैन विश्व भारती के अध्यक्ष-पद पर निर्वाचित हुए। उनकी कर्म-निष्ठा का साक्षी रहा। एक तरह घर के कार्यो से निवृत्त होकर ही वे संस्था के सेवा-कार्य मे लगे। अपने अथक परिश्रम से उन्होने सस्था की आर्थिक भित्ति को सुदृढ़ता दी। वे सस्था के हर पक्ष की सार-सभाल करते रहे।

वे वडे अच्छे हिसाव-विद् थे। प्रतिमास आय-व्यय का हिसाब नियमित रूप से मँगाते। उसे और तलपट की एक-एक कलम पर वे गहरी नजर डालते। अवलोकन से कोई त्रुटि आती तो तुरत आवश्यक सूचना देते। उनका विशाल पत्र-व्यवहार उनके जीवन के इस सजग पक्ष का साक्षी है।

एक वार व्याज खाते को हाथ मे लिया और देखने लगे कि जिन रकमो का व्याज आता था, उन सव का व्याज पूरा आता रहा था या नही। मैंने कहा—'आप अर्से पहले के हिसाव मे क्यो जा रहे है?' उन्होने कहा—'देखने का शौक है।' दूसरे दिन आये और कहा—'एक रकम का एक व्याज नहीं आया है। उस ओर किसी का ध्यान नही गया। देखो, कही मैं ही तो गलती नही कर रहा हूँ?' मैंने देखा, उन्होने ठीक गलती पकड़ी है। मैंने कहा—'आप पक्के गोताखोर है। मोती नही तो सीप ही सही।' वे हँस पडे। वाद मे पत्र-व्यवहार कर छूटा व्याज प्राप्त किया। उनकी कर्तव्य-निष्ठा ऐसी सजग थी। वे अति परिश्रमशील थे।

वे वडे समय-निष्ठ व्यक्ति थे। जव आते तव पहुँचे की घडी दिखा कर कहते—देखो, मैं ठीक समय पर आ पहुँचा हूँ।' समाजभूपण स्वर्गीय श्री छोगमल जी चोपडा के वाद वे दूसरे व्यक्ति थे, जिनमे मैने समय की इतनी पावदी देखी।

जैन विश्व भारती और उसकी गतिविधियो का व्यापक परिचय हो, इस दृष्टि से उन्होने स्व० श्रीमान् मानिकचन्दजी सेठिया (सुजानगढ) के सुझाव से "प्रेक्षा-ध्यान" पत्रिका को जैनेत्तर विशिष्ट व्यक्तियो को भी भिजवाना आरम्भ किया। अपने हाथ से लिखकर समय-समय पर लिस्टें कार्यालय को भेजते रहते।

उन्होने मुझसे वादा लिया था कि मैं उन्हे साथ देता रहूँगा। मेरे वादे को वे निभवाते रहे। हमलोगो की फेरी सुवह ८.०० वजे से आरम्भ होती और लगभग १२ वजे समाप्त। इस समय मे हमलोग जैन विश्व भारती का परिचय देने के साथ निधि का सग्रह भी करते। हमलोगो ने तीन वर्ष के लिए ५००/-मासिक अर्थदान के लगभग ३६ नाम प्राप्त किये। वे वडे पटु थे। प्राप्त रकम को वे हाथोहाथ व्याज पर लगवाते रहते। एक दिन का विलम्व भी उन्हे असह्य होता। विलम्व हुआ दिखता तो उपालम्भ लिख मारते।

उन्होने अपने सभापति-काल मे संस्थान की जो सेवा की, कह सकता हूँ कि वास्तव मे ही वह स्वर्णाक्षरो मे अंकित करने योग्य है।

कर्मचारियो के प्रति उनका व्यवहार, सदाशयतापूर्ण एव सहानुभूतिमय रहता। उनमे सहेतुक अनुशासनात्मक फटकार जितनी कठोर होती, उतना ही उनका दुलार मधुर हमदर्दी से भरा

होता। स्वर्गीय श्री गोपीचदजी चोपड़ा ने एक वार उनकी इस वृत्ति के सम्बन्ध मे टीका करते हुए कहा—'विहारीलाल कुशल कुभकार है, जो वाहर से कड़ी थाप मारते हैं और अन्दर हाथ का सहारा रखते है।'

जिस दिन उन्होने लाडनूँ मे अध्यक्ष-पद का भार संभाला, मैंने उन्हे उसी दिन प्राप्त १००% छूट का इनकम टैक्स का सूचना-पत्र उनके हाथ मे देते हुए कहा—'आपके अध्यक्ष-काल की वड़ी अच्छी शुरुआत हो रही है। मैं आपकी मगलकामना करता हूँ।' उन्होने कहा—'केवल मगलकामना से छुट्टी नही मिलती। सदा सहयोग देना होगा।' मैंने उनकी वात स्वीकार की। मिलना होता तो ठीक, अन्यथा फोन पर ही वातचीत होती रहती और कार्यक्रम बनाते।

भाई विहारीलालजी का शरीर-सस्थान उनका अपना था। उनका फैला हुआ उभरा पेट उन्हे गणेश प्रतिमा का रूप प्रदान करता। खादी के स्वच्छ परिधान मे वे एक उच्च नागरिक प्रतीत होते। उनकी आवाज की वुलदी अनोखी थी। घोप मे असाधारण तेज, प्रखरता, ओज और दहाड़ थी। जव वे सभा-सस्थाओ के मंच पर वोलते तो पण्डाल मे उनकी आवाज छा जाती। वे वातचीत मे व्यावहारिक, विनोदी और हँसमुख थे। दृढता, साहस और उत्तरदायित्व की भावना उनके व्यक्तित्व के विशेष गुण थे।

उनका पारिवारिक जीवन सुमधुर था। पुत्र-पुत्रियो, पुत्रवधुओ, भाइयों, सवका सम्मान उन्हे प्राप्त था। वे भी सवको आदर और स्नेहाच्छादित रखते।

वे कुशल व्यवसायी थे। स्वयं निर्मित व्यवित थे। उनका औद्योगिक उत्कर्ष उनकी कुशाग्र वुद्धि और परिश्रमशीलता का परिचायक था। उतार-चढाव के समय वे कभी घवराहट या उत्कर्ष का भाव नही आने देते थे। उनकी रुचि वड़े पैमाने के कामो मे रहती और वैसे ही वे अनुकूल साहस और सूझवूझ के धनी थे।

उनका पारिवारिक और व्यावसायिक जीवन जैसा यशस्वी था, वैसा ही उनका सामाजिक जीवन था। अपने जीवन में वे अनेक सस्थाओ से जुड़े रहे और अपनी अमूल्य सेवाओ से उन्हे पुरस्कृत किया। मारवाडी सम्मेलन, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, अणुव्रत समिति, जैन विश्वभारती आदि आदि प्रसिद्ध सस्थाओ के अध्यक्ष के रूप मे उनकी सेवाएँ चिर-स्मरणीय रहेगी।

उनके सस्मरण आह्लादक और प्रेरणादायक हैं। कुछ नीचे दिये जा रहे हैं:

वे स्वाध्याय प्रेमी थे। वड़े मनोयोगपूर्वक सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करते। स्मरण शक्ति वडी अच्छी थी। पढ़ी हुई सामग्री की चर्चा करते। श्री रामकुमार "भ्रमर" द्वारा महाभारत के आधार पर रचित उपन्यास ग्रन्थमाला की पुस्तकें उन्होने वड़ी रुचि से पढी। एक दिन कहने लगे—तुम महाभारत का अनुशीलन कर रहे हो। मैं कुछ कथाएँ कहता हूँ, भूल हो तो वताओ।' पढी हुई कथाओ का पूरा-पूरा सार अच्छे ढंग से सुनाया।

एक दिन वे श्रीमद् जयाचार्य रचित सूक्ष्म तत्वज्ञान का अनोखा ग्रन्थ "झीणी चर्चा" लेकर मेरे पास आये। वोले—'यह पुस्तक कठिन पड़ती है। समझ मे कम आ रही है। एक घण्टा सह-वाचन के लिए निकालो।' मैंने कहा—'गभीर तत्वज्ञान के आधार विना, पुस्तक को समझना कठिन है। मैं कहाँ तक मदद कर सकूँगा, नही जानता। फिर भी हम दोनो साथ पढ़ेंगे तो एक दूसरे के सहारे से ज्ञान वढेगा ही।' इस तरह दोनो की इच्छा रहने पर भी अन्य व्यस्तताओ के कारण वैसा नही वन पाया।

विनायकमूर्ति भाई बिहारीलालजी मूलतः साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न व्यक्ति थे। संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी भाषा के सैकड़ो मार्मिक सुभाषित उनको कण्ठस्थ थे, जो उनकी असाधारण मेधा का परिचय उपस्थित करते हैं। प्राचीन सन्तो की वाणी से उन्हे बडा प्रेम था। वातचीत के सिलसिले मे प्रसगवश जब वे उनका तथा अनेक फबते मुहावरो और कहावतो का प्रयोग करते और सम्वन्धित कथाओ को कहते हुए उनका भाव-स्फोटन करते, तो सारा वातावरण सजीव और मुखरित हो उठता। उनकी वाणी मे स्वाभाविक ओज और अनोखी बुलन्दी थी।

उनकी पत्र-लेखन शैली बडी सुन्दर थी। उनके पत्र चुस्त, स्पष्ट और दिशा-सूचक होते। उनमे आत्मीयता की गहरी पुट रहती। पत्र अपने हाथ से ही लिखते। कार्यवश उनके साथ पत्र-व्यवहार होता तो उनके पत्र बौछार की तरह आते रहते। पत्रोत्तर मे आलस्य अथवा विलम्ब उनकी प्रकृति के विरुद्ध थे। पत्रोत्तर की आकाक्षा रखते। पत्रोत्तर न मिलने पर बड़े खिन्न होते।

उनके सभापतित्व काल के पत्राचार की मोटी फाइलो को देखने से यह प्रतीत होता है कि किस तरह दूर बैठे वे पत्रो द्वारा जैन विश्व भारती की सारी गतिविधियो से अपने को परिचित रखते और आवश्यक सूचनाओ द्वारा उसकी सार-सम्भाल करते रहते।

सस्था के प्रति की गई सेवाओ के विषयो मे कृतज्ञता-ज्ञापन के उनके पत्र महज औपचारिक नही होते, उनमे आन्तरिकता और सच्चाई के दर्शन होते।

उनके दो पत्र नीचे उद्धृत किये जा रहे है:

(१)

आदरणीय श्री हीरालालजी देवपुरा,

सादर जयजिनेन्द्र।

अत्र कुशलम् तत्राप्यास्ताम्।

जैन विश्वभारती की खातेदारी भूमि को संस्था द्वारा बनाये गये जनोपयोगी भवनों के निर्माण हेतु आवंटित किये जाने की स्वीकृति आपके राजस्व विभाग से आप द्वारा हो चुकी है। यह आपने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है। आज के युग की मांग—जन-कल्याणकारी प्रवृत्तियो बढ़ाने का संस्था को खुला अवसर प्रदान किया हैं। आपके इस महत्वपूर्ण योगदान के लिये संस्था एवं संस्था-परिवार आपका चिरऋणी रहेगा। सस्था परिवार की ओर से एवं मेरी ओर से आपका बहुत साधुवाद।

संस्था को आपका सदा ही बहुत वड़ा सहयोग मिलता रहा है। आप महानुभावों के सहयोग एवं सद्प्रयासों से ही संस्था आज इतनी बड़ी स्टेज को पहुंच पाई है। संस्था ने अपना स्थान भारत ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय मच पर भी बना लिया है।

आपको जानकर प्रसन्नता होगी कि सस्था में सभी प्रवृत्तियाँ—शिक्षा, साधना, सेवा व शोध आदि सुचारुरूप से संचालित हो रही है एवं विकासोन्मुख हैं। जीवन-विज्ञान प्रशिक्षण योजना चालू है ही। अन्य और भी नये-नये आयाम उद्घाटित करने के प्रयास चालू हैं।

श्रद्धास्पद आचार्यप्रवर ने अपने श्रीमुख से इस संस्था को "कामधेनु" बताया है। पूर्ण विश्वास है कि संस्था आचार्यश्री के फरमाये शब्दो को अवश्य साकार करेगी।

आप स्वस्थ व सानन्द होगे।

सादर,

कलकत्ता

१८-१२-८४

विहारीलाल जैन

अध्यक्ष

(२)

प्रिय बजरंग, सुशील, दिलीप, सुरेश
श्रीमती लतारानी एवं सुश्री मधु,
९, प्रीटोरिया स्ट्रीट, कलकत्ता

कलकत्ता,
३०-१०-८४

स्नेहसिक्त सुभाशीष !

जैन तत्वज्ञान की जानकारी श्रावक-श्राविकाओ में बढ़े, इस हेतु साध्वीश्री सोहनकुमारीजी ने ५ थोकड़ो में से कोई एक कण्ठस्थ याद करके निर्धारित समय तक परीक्षा देने का आयोजन करवाया एवं सफल होने वालों को २८-१०-८४ को पुरस्कृत करने का निर्णय किया था। उपरोक्त ५ थोकड़ निम्न हैं:—(१) भक्ताम्बर स्तोत्र (२) प्रतिक्रमण (३) पच्चीस बोल (४) आराधना की ढालें, (५) चौवीसी।
दिनांक २८/१० को यह देखकर मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई, तुम सबने (एक) थोकड़े के स्थान पर भक्ताम्बर-१ प्रतिक्रमण-२ थोकड़े सुनाकर एक नया रेकार्ड स्थापित किया। कलकत्ते जैसे व्यस्त शहर मे एक परिवार के सभी युवा सदस्यों का जैन तत्वज्ञान में रुचि रखना सराहनीय एव अनुकरणीय है।

३०-९-८४ से लगने वाले ३७वें प्रेक्षा-ध्यान शिविर (जोधपुर) मे भी तुम लोगों ने भाग लिया था। तुम्हारे परिवार की धर्म के प्रति रुचि व जागरूकता देखकर बहुत प्रसन्नता होती है। यह हमारे परिवार के लिये काफी गौरव की बात है।
मै जैन विश्व भारती परिवार की ओर से एवं अपनी ओर से तुम सबको बहुत बहुत धन्यवाद-साधुवाद देता हूँ।

तुम सबकी धर्मसंघ व संघपति के प्रति निष्ठा एवं धर्म के प्रति रुचि व भावना इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, इसी मंगल-कामना के साथ।

विहारीलाल जैन

अध्यक्ष

श्रद्धेय आचार्यश्री तुलसी ने रायपुर मे निम्न तीन सूत्र विहारीलालजी को शिक्षा रूप में उपदिष्ट किए :

चिन्ता नहीं, चिन्तन करो।
व्यथा नहीं व्यवस्था करो।
प्रशस्ति नहीं, प्रस्तुति करो।

वात ऐसी हुई कि उत्तेजित युवकों का एक बडा दल उपद्रव करने के विचार से आचार्यश्री के प्रवास-स्थान की ओर बढ़ा आ रहा था। यह देख कर बिहारीलालजी चिन्तित हो उठे। आचार्यश्री के समीप आकर आसन्न आतक के विषय मे घवराहट व्यक्त करने लगे। उस समय आचार्यश्री ने उक्त उदार उद्गार प्रकट किए, जो विहारीलालजी के निमित्त से मानव-मात्र को एक अमूल्य धरोहर के रूप मे प्राप्त हुए।

यह घटना सन् १९७१ की है।

भाई विहारीलालजी के ज्येष्ठ पुत्र तोलारामजी का कानपुर मे अकस्मात् हृदय-गति रुक जाने से देहान्त हो गया। मर्म की चोट थी। बिहारीलालजी स्वय भी अस्वस्थ चल रहे थे। मैं उनसे मिलने गया, तव विह्वल हो उठे। मैंने कहा—'आचार्यश्री ने आपको "दृढधर्मी" की उपाधि से अलकृत किया। वह अलकरण ऐसे अवसर पर आपको धैर्य रखने का तकाजा करता है।' गम्भीरता के साथ बोले—'तुमने सम्वल रूप वहुत अच्छी वात याद दिलाई है।' यह सन् १९८१ की घटना है।

कानपुर के उनके मकान मे ७-५-७५ के दिन डाकू घुस गये। उनके पुत्र तोलारामजी की पत्नी श्रीमती उर्मिला देवी ने बड़े साहस के साथ डाकुओ से कहा—'आप मेरे और मेरे पति के हाथ न लगावें। आप धन के लिये आये है। मैं एक-एक कर सारे गहने आप लोगो को दे देती हूँ। आपलोग दूर रहकर सब ले ले।' जब चूडियाँ या नाक का भवरिया वाकी रहा, तव डाकू वोले—"हम लोगो को अव भी तुम्हारे शरीर पर कुछ गहने दिखायी दे रहे है, वह भी हम छोडते नही, पर वहिन के रूप मे उन सुहाग-चिन्हो को हम छोड रहे है।' वाद मे बिहारीलालजी कलकत्ता से कानपुर गये, तव पुत्रवधू उर्मिला देवी रोने लगी। वोली—"सारा घर उजड़ गया।" विहारीलालजी वोले—"किसका घर उजड़ गया, वोलो, तुम्हे क्या पारितोषिक दूँ, मेरा घर तो वसा हुआ ही है। हाथ का मैल चला गया।" इस तरह उदासी के वातावरण को उन्होने अपने विनोद से प्रफुल्लित कर दिया।

सन् १९८७ के फरवरी के प्रथम सप्ताह मे माघ महोत्सव के पूर्व भाई बिहारीलालजी को हृदयचाप के दौरे ने आ घेरा। वे वेहोश हो गये। मैं माघ शुक्ला अष्टमी के दिन उनसे मिलने गया। दौरा निकल चुका था, पर कमजोरी और सुस्ती वहुत थी। बड़ी थकावट महसूस कर रहे थे। रोकने पर भी माने नही। वातचीत करने लगे और काफी देर तक करते रहे। वोले—'एक वात तुम्हें कहनी है। श्री खेमचन्दजी सेठिया, श्रीचन्दजी वेगानी और भँवरलालजी वेगानी मिलने आये थे। तुम्हे अपना आग्रह छोड़ना है।" मैंने कहा—"आग्रह-पोषण की वस्तु नही होती। आप मुझे नि.सकोच कहे।" उन्होने जैन विश्व भारती की नियमावली की वात कही। मैंने अपना दृष्टिकोण रक्खा। सुनते ही वोले—"तुम्हारा चिन्तन सही है, मैं तुम्हारे

दृष्टिकोण मे आग्रह नही पाता। सारी बात सहज ही समझ मे आने जैसी है।" मैं लौटने लगा तब वे मुझे हवेली के द्वार तक पहुंचाने आये। मैंने उन्हे रोका भी, पर वे माने नही। फिर एकांत मे ले गये और कहा—'तुम्हें मालूम ही है कि राजेन्द्र की पत्नी का दुर्घटना के कारण देहान्त हो गया। वह दर्शन के लिए आया हुआ है। इस भीड़ मे श्रद्धेय आचार्यश्री उसे बतला नहीं सके। शिक्षा के दो शब्द फरमा देते तो उसका मन प्रसन्न हो जाता। अब तो समय ही नहीं।'

कौन जानता था कि उनके साथ उपर्युक्त वार्तालाप अन्तिम ही था।

वे रतनगढ से उसी दिन कलकत्ता के लिए रवाना हो गए और मैं सुजानगढ़ चला गया। तारीख २८-२-८७ के प्रातः काल सूचना मिली कि वह दिव्य आत्मा विछुड चली। देह का अन्त संसार का शाश्वत धर्म है, वैसे ही सद्आत्माओ का ऊर्ध्वारोहण भी सुनिश्चित है। ●

कर्मठ समाज सेवी

मोहनलाल कठोतिया

भाई विहारीलाल जी जैन के साथ लम्बे समय से मेरी आत्मीयता रही और जव भी मिलन होता तो दिल खोलकर वातचीत होती। वे हमेशा काम की वात करते। खूबी यह थी कि उनके साथ वात करने वाला कभी ऊवता नही था। उनकी हर वातचीत मे कुछ नये विचार मिलते और प्रत्येक विचार उनके हार्दिक जोश के साथ निकलता। हँसमुख रहना उनका सहज स्वभाव था।

अपने व्यापार मे व्यस्त रहते हुए भी एक कर्मठ समाजसेवी कार्यकर्त्ता थे। समय का नियोजन करना जानते थे। धर्मसघ और सघपति के प्रति उनकी श्रद्धा निश्चल थी। अपनी कार्य-कुशलता के कारण समाज की प्रमुख सस्थाओ जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा तथा जैन विश्व भारती आदि मे उन्होने अध्यक्ष के रूप मे वडी लगन से कार्य किया जो स्तुत्य ही नही, अनुकरणीय भी रहा है।

वे अपने विचारो मे दृढ होते हुए भी विचार विनिमय के लिए अपना दिमाग हमेशा खुला रखते। सार्वजनिक सस्थाओ को तथा जरूरतमन्द व्यक्तियो को आर्थिक सहयोग देने मे उनको प्रसन्नता होती थी और दिल से सहायता करते थे। सांसारिक, सामाजिक एवम् नैतिक कार्यक्रमो मे सलग्न रहते हुए भी अध्यात्म साधना मे हार्दिक रुचि थी और प्रेक्षा–ध्यान के शिविरो मे पूरे मन से साधना करते थे। अध्यात्म साधना केन्द्र दिल्ली मे उन्होने एक प्रेक्षा-ध्यान शिविर मे भाग लिया। उसमे रग चिकित्सा का प्रशिक्षण साधको को दिया गया था। आपने उस चिकित्सा को भी भली प्रकार सीखा। उन्होने अपने सम्पूर्ण परिवार वालो मे भी धार्मिक सस्कारो को विकसित किया।

मेरा जव भी कलकत्ता जाना होता, वे अवश्य मिलते। एक वार मैं कलकत्ता मे था। प्रेक्षा-ध्यान के कार्यक्रम चलते थे। उन्होने अपने मकान मे पूरे परिवार को तथा पडोसियो को भी वुलाकर एक सभा के रूप मे मुझे आग्रहपूर्वक वुलाया, ताकि प्रेक्षा-ध्यान की विधि का लाभ और अभ्यास क्रम का सामूहिक ज्ञान सव को प्राप्त हो और ध्यान मे रुचि उत्पन्न हो। वडी उम्र और भारी शरीर होते हुए भी उनके जीवन मे प्रमाद का नामोनिशान नही देखा। समाज के हजारो-हजारो व्यक्ति और कार्यकर्त्ता मेरे सम्पर्क मे आये, पर एक ही व्यक्ति मे इतने सद्गुणो का समावेश वहुत कम देखने मे आया।

सम्वत् २०४३ के रतनगढ मर्यादा महोत्सव मे भाग लेने विहारीलालजी सपरिवार पहुचे। स्वय अस्वस्थ हो गये। वापिस कलकत्ता जाते हुए ट्रेन की प्रतीक्षा मे प्रतीक्षालय मे तेज वुखार मे लेटे हुए थे। मैं भी उसी रात की ट्रेन से दिल्ली आ रहा था। प्रतीक्षालय मे पहुँचा, जव उन्हे पता लगा कि मैं आया हूं तो करवट वदलकर मुझसे वात करने लगे। इतनी वेचैनी मे उनकी हिम्मत देखी तो लगा कि विहारीलालजी के जीवन मे यह कहावत चरितार्थ हो रही है "हिम्मते मर्द, मददे खुदा"●

धर्म, कर्म और श्रद्धा के धनी :

देवेन्द्र कुमार कर्णावट

धर्म, कर्म और श्रद्धा के धनी श्री विहारीलाल जैन के बिसरे एक-एक कर कुछ माह व्यतीत हो चले, लेकिन यह विश्वास नही होता कि वे हमारे मध्य नही हैं। सुडौल शरीर, प्रखर वाणी और आत्म-विश्वास की त्रिवेणी से युक्त जब वे बोलते तो उत्साह की भावना जाग्रत करने के साथ परस्पर एक दूसरे मे प्राण फूंक देते थे। सार्वजनिक अथवा सामाजिक सभाओ को जब वे उद्बोधित करते थे तो श्रोतागण भी मत्र-मुग्ध हो जाते थे। वे मच के वक्ता थे और मंच उनसे गौरवान्वित होता था। आत्म-विश्वास की प्रेरणा से ओत-प्रोत ऐसा व्यक्तित्व इतना शीघ्र चला जायगा, यह कोई सोच भी नही सकता था। बोलने के लिए नही बोलते थे, वरन् उनके विचारो मे सदैव धर्म, कर्म और श्रद्धा की गगा बहती थी।

धर्मनिष्ठ व्यक्तित्व :

स्व० श्री विहारीलालजी जैन प्रारम्भ से धार्मिक सस्कारो से युक्त सस्कारवान व्यक्ति थे। जैन दर्शन के प्रति उनकी गहरी आस्था थी और अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी के परम भक्त थे। कोई वर्ष ऐसा नही जाता, जब वे कम से कम एक बार आचार्यश्री के शिविर मे नही होते। सस्थाओ के दायित्व को ग्रहण करने के बाद तो एक से अधिक बार वे आचार्यश्री के सन्निकट होते। धर्म-सघ की छोटी से छोटी सेवा करते हुए उन्हे अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता था। इसीलिए आचार्य श्री तुलसी ने उनको "दृढधर्मी श्रावक" की उपाधि से विभूषित किया था। धार्मिक सस्कारो से युक्त चरित्र के वे धवल और सरल हृदय थे और अपने जीवन से वे हजारो-हजारो के लिए प्रेरक थे।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी के कलकत्ता चातुर्मास के बाद ही वे अणुव्रती हो चले थे। अणुव्रत आन्दोलन मे उनकी अटूट निष्ठा थी। इसीलिए श्री जैन वर्षो तक पश्चिम बगाल अणुव्रत समिति के अध्यक्ष और अनेक बार अ० भा० अणुव्रत समिति की कार्य समिति के सम्मान्य सदस्य और उपाध्यक्ष पद पर सुशोभित रहे। यह भी उल्लेखनीय है कि वर्षो तक पश्चिम बंगाल अणुव्रत समिति के प्रादेशिक कार्यालय का संचालन उनके प्रमुख व्यावसायिक प्रतिष्ठान ४, नारायण प्रसाद बाबू लेन, कलकत्ता से होता रहा। हम जब भी जाते, उनके उत्साह और विश्वास को देखकर गौरव का अनुभव करते और प्रेरणा लेते थे। अर्थ से सम्पन्न होने पर भी उनके मन मे छोटो और बड़ो के प्रति समान आदर था। मुझे अनेक बार उनका मधुरतम आतिथ्य प्राप्त करने का सौभाग्य मिला और जो प्यार उन्होने दिया, उसे मैं

कभी भुला नही सकता। श्री जैन अणुव्रती कार्यकर्त्ताओ के लिए समभावी और विशिष्ट शक्ति के दिशा–प्रेरक थे।

कृतित्व से कर्मशील :

स्व० श्री बिहारीलाल जैन धर्म, कर्म और श्रद्धा की त्रिवेणी लिये हुए कृतित्व से कर्मशील थे। व्यवसाय को उन्होने अपने कर्म बल से बढाया और कलकत्ता महानगरी के अतिरिक्त देश के अन्य अचलो मे भी उन्होने अपने व्यवसाय का विस्तार किया। ऐसा अवसर भी आया, जब उन्हे समय के साथ उतार–चढ़ाव से भी गुजरना पड़ा। लेकिन वे कभी विचलित नही हुए। सामयिक सूझ-बूझ के साथ निर्णय लेने की जहाँ उनमे तात्कालिक क्षमता थी, वहाँ उन्हे आत्म-विश्वास की भी सहजता प्राप्त थी। वे आत्म-विश्वास के धनी थे। इसलिए वे अपने कर्म पथ पर उत्तरोत्तर बढते ही गए। ऐसा ही आत्म-विश्वास उन्होने अपने पुत्रो और परिवार जनो मे भी जाग्रत किया। वे कर्म मे विश्वास करते थे और वस्तुतः वे अपने कृतित्व से कर्मशील थे।

आत्म विश्वास और कर्मशीलता का ऐसा ही अजस्र स्वरूप हमे उनके प्रेरणादायी कृतित्व "जैन विश्व भारती" मे देखने को मिला। 'जैन विश्व भारती" की अध्यक्षता जब उन्होने अपने हाथ मे ली तो लाखों की योजना थी और यह प्रश्न था कि सस्था की विशालतम बहुमुखी योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिए अर्थ की यह विपुल राशि कैसे उपलब्ध होगी? लेकिन जैन ने अपने कर्तव्य से पराजित होना कभी सीखा नही था। देश भर का उन्होने दौरा किया और व्यवस्थित कार्यक्रम बनाया। उसी का सुपरिणाम था कि अपने दो-तीन वर्ष के अल्पकाल मे अपने साथियो का विश्वास प्राप्त करने के साथ बीस लाख से अधिक का कोष सकलित कर एक रेकार्ड स्थापित किया। कर्म से क्या नही होता? आदमी अपना कर्म करता रहे। फल की ओर नही देखे। कर्म यदि गतिशील है तो फल देने से कौन रोक सकता है? यह उनका पूर्ण विश्वास था। इसी विश्वास ने आने वालो के मन मे भी एक नया उत्साह जगा दिया। जैन विश्व भारती के लक्ष्य को विकसित और सुदृढ़ करने मे श्री बिहारीलाल जैन का यह कृतित्व कभी नही भुलाया जा सकता। नि.सन्देह यह उनकी "जैन विश्व भारती" के लिए एक महानतम उपलब्धि है।

श्रद्धा की ज्वलन्त मशाल :

धर्म और कर्म की दिशा लिये हुए श्री बिहारीलाल जैन श्रद्धा की साकार मूर्ति थे। बौद्धिक एवं वैचारिक शक्ति पाकर भी उन्होने श्रद्धा को प्राथमिका दी। वे कहते थे कि जहाँ श्रद्धा है, वहां सब कुछ है। श्रद्धा शून्य व्यक्ति तो मात्र मशीन है, कम्प्यूटर है। जिसके बोल–ने मे श्रद्धा नही है, वहा आत्मा नही है। आत्म-शून्य वाणी कैसे प्रभावी हो सकती है? इसीलिए जब वे बोलते तो ऐसा लगता कि उनके मन की भावना बोल रही है। कभी-कभी वे आत्म-स्पन्दित हो उठते। वाणी बुलन्द थी। बिना माइक के भी उनकी आवाज दूर-दूर तक सुनाई देती थी। बल्कि छोटी सभाओ मे तो उनके लिए माइक की आवश्यकता

ही नही होती थी। वे स्वयं ही माइक थे। प्रखर प्रवक्ता थे और अपने वक्तव्य से श्रोताओं को प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। यहा तक कि विरोधी और आलोचक भी उनसे प्रभावित हुए विना नही रहते थे।

एक विशेषता और थी कि श्री जैन के आलोचक नही के समान थे। वे इतने शिष्ट, व्यवहारशील और मधुरभाषी थे कि प्रत्येक व्यक्ति उनकी मधुरता और व्यवहारशीलता का कायल था। स्थिति यहां तक थी कि दूसरो मे मतभेद हो जाने पर वे मध्य मे पड़कर ऐसी बात कह देते थे कि विरोध कही रह जाता और बात ही बात मे अपने लक्ष्य की दिशा के साथ आत्म-भाव से ओत-प्रोत कर देते थे। ऐसे थे धर्म, कर्म, और श्रद्धा के धनी स्व० श्री बिहारीलाल जैन, जो हमारे लिए आत्म-विश्वास और आत्म-प्रेरणा की अनेक रश्मियां और मधुरतम स्मृतियाँ छोड़ गये हैं।

ऐसे आत्म-निष्ठ व्यक्तित्व को प्रणाम। ●

दिशा-दर्शक : पथ-प्रदर्शक

शंकरलाल मेहता

सम्पर्क ही संसार है। सज्जन-दुर्जन सभी सम्पर्क मे आते है। इसी दृष्टि से संत तुलसीदास ने दोनों की वन्दना की है। जीवन यात्रा के छठे दशक के करीव पहुँचते-पहुँचते एक दिशा-दर्शक यात्री साथ हो जाएगा, मैंने ऐसी कल्पना भी नही की थी। वह मात्र दिशा-दर्शक ही नही, पिता-तुल्य प्यार देने वाला एक सज्जन भी होगा। सयोग और सस्कार से कुछ ऐसा भी घटित होता है, जिसे हम सुयोग कहते है। श्री बिहारीलाल जैन से मेरा सम्पर्क एक ऐसा ही सुयोग था ! जीवन की पाठशाला मे वे अनायास ही दिशा-दर्शक और पथ-प्रदर्शक वन गए। जीवन यात्रा का काल अनिश्चित होता है, अस्थायी होता है। फिर उसके मध्य होने वाले साथ भला कैसे निश्चित और स्थायी हो सकते है ? लगभग आधे दशक से कुछ अधिक समय तक उस ज्योति ने मेरी जीवन नौका के लिए पथ-दर्शक का कार्य किया। ज्योति विलीन हो गई। उसके प्रकाश मे वटोरे मूल्य-वान मोती जीवन मे साथ है, रहेगे। कहाँ छूटता है ऐसे लोगो का साथ, जिनके आदर्श जीवन मे प्रतिक्षण प्रेरित करते रहते हो।

जिनके कारण उनके सम्पर्क मे आया, वे उनसे भी अधिक ज्योतिर्धर है, युग-प्रधान और हृदय देवता है। माता-पिता से संस्कारो मे धर्म के रूप में मिला था "तेरापंथ"। केवल कहलाने मात्र के लिए नही, जीने के लिए। अँगुली पकड कर धर्मपथ की ओर ले जाने वाले वे माता-पिता नही रहे। छोटे वालक मानस मे सम्यकत्व का पौधा लगाने वाले तेरापथ के अष्टम अधिष्ठाता आराध्य पूज्य कालूगणी की नश्वर देह विलीन हो गई। आधी शती से अधिक समय से पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री तुलसी से प्राप्त हो रहा है आध्यात्मिक पोषण। वह पोपण, जिसके विना मनुष्य स्वस्थ होते हुए भी अस्वस्थ ही रहता है।

स्कूली अध्ययन समाप्त कर जीवन के दो दशक मे भी जव दो वर्ष वाकी थे, रेल सेवा में लग गया। लगभग चालीस वर्ष की रेल-सेवा यात्रा पूरी की। पूज्य गुरुदेव के दर्शन समय-समय पर होते। जीवन-पाथेय प्राप्त होता रहता। सेवा निवृत्ति का वर्ष १९८१, पूज्य गुरुदेव का चातुर्मासिक प्रवास अणुव्रत भवन, दिल्ली मे था। मै उन दिनो दिल्ली मे ही उत्तर रेलवे के मुख्य दावा कार्यालय मे कार्यरत था। एक दिन गुरुजी ने पूछा—"रिटायर कव हो रहे हो ?" 'सितम्वर मे', सुनकर वोले—"क्या सचमुच रिटायर हो सकोगे।' प्रश्न ने मुझे चौका दिया। मेरा मुँह अभिप्राय जानने को खुला, उससे पूर्व वे वोले—"एक काम से रिटायर होकर आदमी किसी और निजी काम मे उलझ जाता है। सचमुच रिटायर वह होता है जो सघ की, समाज की सेवा के लिए समर्पित हो जाता है, घर की उलझनों से मुक्त होकर।" सौभाग्य है मेरा। उनके शब्द जीवन में अनेको वार मेरे लिए मत्र वने हैं। उन्हें सुन-सुन कर मैंने अपने अतर में

अनमोल खजाने का सृजन किया है। मेरे पास सहमति-स्वीकृति के अतिरिक्त विकल्प ही न था। पारिवारिक परिस्थितियां बाधक नही थी और यह भी विश्वास था कि गुरुदृष्टि से बाधाएँ दूर हो जाती है।

एक दिन दर्शन करने गया, तब दो व्यक्ति आचार्य श्री के पास पहले से उपस्थित थे। आचार्यश्री ने मुझसे पूछा—'इन्हे जानते हो ?" एक थे श्री श्रीचदजी रामपुरिया, जिन्हे मैं जानता था, चाहे वे मुझसे परिचित न भी थे। तेरापथ सघ के उस साहित्य पुजारी और सेवाभावी व्यक्तित्व को जानने के अवसर मिले, पर उनसे निकट का सम्पर्क न हो सकता था। किन्तु, दूसरे व्यक्ति को मैं न पहचान सका। एक बार पहचान पाने वाली दृष्टि उन पर डाली भी। अन-भिज्ञता सिर हिला कर प्रकट कर दी। आचार्य श्री बोले—'ये हैं बिहारीलाल। अपने संघ के कर्मठ कार्यकर्त्ता।' उसके पश्चात् आचार्यश्री मेरी ओर इगित करते हुए उन दोनो से बोले, "ये है "बाबूजी"। तुम परिचित न भी हो, पर इसकी गारटी मैं ले सकता हूँ।"

उनके चेहरे खिल गए। दोनो की एक खोज करती दृष्टि मुझ पर पड़ी। मैं कुछ समझ भी न सका। अपरिचित का परिचय दृष्टि पाना चाहती है। कैसी विशेष हो जाती है वह दृष्टि। वह पराये को अपना बना लेती है। अथवा पराये को और अधिक पराया। मैंने देखा, श्वेत धोती कुरते में श्री बिहारीलाल का वृद्ध किन्तु भरा-भरा स्वस्थ चेहरा मुस्करा रहा है। थोड़ा स्थूल शरीर। पर चेहरे से, दृष्टि से अपरिचित के प्रति भी एक स्नेह-भाव झलक रहा है। मुझे लगा, विशेष व्यक्तित्व है इनमे। मैं असमजस में था। ऐसी क्या बात है, जिसके लिए मेरी गारटी मेरे आराध्य इन्हे दे ? वह भी किसलिए ? प्रश्न मन मे थे। पूछने की शक्ति न थी। विनीतता उसकी स्वीकृति भी नही दे रही थी। मन रो पडा। तुम्हारे लिये गुरु गारटी दें, क्या तुम इस योग्य हो ? उनके मूल्यांकन पर खरे उतरते रहना है।

बिहारीलालजी और श्रीचदजी दोनो ने बाद मे मुझसे बातचीत कर मेरे सम्बन्ध में जान-कारी ली। निवास स्थान, पारिवारिक स्थिति, वर्तमान कार्य-सेवा निवृति कब हो रही है आदि से सम्बन्धित थे उनके प्रश्न। बिहारीलालजी ने पूछा—"क्या जैन विश्व भारती, लाडनूँ को सेवा दे सकोगे ?" 'जहाँ भी उपयुक्त हो", मेरा उत्तर था।

मैंने औरो से पूछताछ कर बिहारीलाल जी के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की। मूल थे राजगढ के निवासी। विशेष कारोबार कलकत्ता मे। अन्य कई जगह भी उद्योग। सम्पन्न, किन्तु सेवाभावी और दानी। कई सस्थाओ से सम्बन्धित। प्रतिष्ठित परिवार और सघ के प्रति समर्पित। तभी आचार्यश्री ने इन्हे दृढधर्मी के रूप में प्रोत्साहित किया है। जैन विश्व भारती से भी वर्षो से जुडे एक सक्रिय पदाधिकारी।

एक दिन व्याख्यान मे उनके भाषण को सुनने का अवसर मिला। एक-एक शब्द पर जोर देकर स्पष्ट कहने की आदत। वही एक वाक्य कहने में मुझे शायद कम समय लगे, किन्तु उनकी स्पष्टोक्ति और वह भी बुलंद आवाज मे, अपना एक विचित्र आकर्षण लिए हुए थी। उनका हर शब्द मानो कहता हो कि उसे अवश्य सुना जाए, हृदय में उतारा जाए।

३० सितम्बर, १९८१ को सेवा निवृत हुआ। दिल्ली छोडने से पूर्व आचार्यश्री के दर्शन किए। मात्र यही दृष्टि मिली कि सघ को सेवा देनी है। उस समय भी कुछ स्पष्ट न था कि सेवा कब से और कहाँ देनी है। वह दिन भी भूलता नही। गुरु का जीवन के मोड़ पर मगल

पाठ, साथियों द्वारा दिया गया। विदाई समारोह, ढेर सी प्रशस्ति, जोधपुर तक छोडने के लिए साथ आना, जोधपुर मडल के दिल्ली मेल ठहराव के प्रत्येक स्टेशन पर स्टेशन कर्मचारियो द्वारा किया गया अभिवादन। इन सबसे ऊपर था जोधपुर स्टेशन पर उपस्थित जनसमूह, उनके द्वारा अगवानी, मालाओ के ढेर, जन-समूह का घर तक जुलूस के रूप मे पहुँच कर काफी संख्या मे सभा का रूप धारण करना। अपने सघ और समाज के लोग उपस्थित थे। मानो वे अगवानी के साथ-साथ मुझे सघ-सेवा में जोडने के लिये आये हो। भाषणो से ऐसा पुष्ट भी हुआ। इतना सब क्यो ? मैं अभिभूत था। मुझे मेरे अधिकारी का एक वाक्य विस्मृत नहीं होता—"अच्छा जीवन जीने वाले व्यक्ति को सम्मान के अतिरिक्त और दिया भी क्या जा सकता है ?"

रेल सेवा काल मे परिवार से अधिकांशतया दूर ही रहना पड़ा। अतिम दो वर्ष तो दिल्ली कार्यालय मे बीते थे। परिजन चाहते थे कि कुछ समय उनके साथ रहूँ। बच्चो से परामर्श किया। उनका आग्रह था कि अब अधिक नौकरी न करें। सेवा-कार्य मे लगें, आपत्ति नही। उनकी इस भावना का सम्मान करते हुए जैन विश्व भारती मे पहुँचा। श्रीचदजी ने बुलाया था। उनके सानिध्य मे सस्था की विविध प्रवृत्तियो को देखा, कार्य-प्रणाली को समझा।

लाडनूं से जोधपुर लौटे १५ दिन हुए होंगे कि मुझे पुनः एक तार मिला लौट आने का। तार से बुलाये ऐसी क्या बात थी। मुझे संस्था का आजीवन सदस्य बनाया गया और कहा कि गगाशहर मे आम सभा मे मुझे चलना है। उन दिनो मे ध्यान और मानसिक शांति के सम्बन्ध में एक विश्व परिषद का आयोजन भी गगाशहर मे था। मर्यादा महोत्सव का अवसर था। पहला अवसर था मेरे लिये जैन विश्व भारती की साधारण सभा मे सम्मिलित होने का। बिहारीलालजी भी उपस्थित थे। श्रीचदजी सुराणा मत्री ने वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत की।

अध्यक्ष पद के लिए बिहारीलालजी का नाम प्रस्तावित हुआ। वे मनुहार से निर्विरोध चुन लिये गये। उन्होने अपनी कार्यकारिणी की घोषणा दूसरे दिन की। मत्री के पद पर मेरे चयन को देखकर मैं विस्मित हो गया। मुझे अब अहसास हुआ कि दिल्ली के प्रथम मिलन पर ही इनका ऐसा मानस बन गया था। बिहारीलालजी से मैंने कहा—'मुझे कुछ समय और काम देखने देते। यकायक मंत्री पद का भार मुझ अनभिज्ञ के लिए कठिन रहेगा।' उन्होने मेरी पीठ पर हाथ रखते हुए कहा—"मेहताजी क्या कहते हो, कठिन रहेगा ? तुमने कितनी ही कठिनाइयो को पार किया है। एक ही डिब्बे मे यात्रा करते हुए मैंने तुम्हारे अधीक्षक से तुम्हारे बारे में सब कुछ सुन लिया है। दूसरा किसी के लिये क्या कहता है, यह महत्व की बात है।"

मैंने जब कहा कि मैं नया हूँ समाज के कार्यों के लिए। तो उन्होने कहा—'घबरायें नही। मैं आपके साथ हूँ। फिर आपकी निष्ठा और लगन तो पुरानी है।'

मैंने कार्य-भार सभाला। एक नयी शुरुआत। लगा, मेरा एक बचपन पुनः प्रारम्भ हो गया है। सस्था सेवा का बचपन। उन बुजुर्ग कार्यकर्त्ताओ के समक्ष तो मैं बच्चा ही था। सेवा-निवृत्त हो मैं पुनः बचपन मे चला गया। कैसा विचित्र संयोग था। साहस फूंकने, धैर्य बँधाने की अद्वितीय कला थी बिहारीलालजी मे। "तुमने बहुत कार्यालय सभाले हैं। इसे भी संभालो। मैं आपको वित्तीय कठिनाइयाँ नही आने दूंगा। पर फिजूलखर्ची न हो। यह देखना तो हम सब का काम है।" उनके सुझाव, निर्देशन, मार्गदर्शन, सब स्नेह से लिप्त एक साथ ही प्राप्त होते थे। उनका कड़ापन किसी बात के महत्व का उजागर करने के लिये होता था। आत्मीयता से रिक्त

कभी भी नही होता था। मुझे अहसास होता चला कि मुझे एक पिता मिल गए है। जन्म देने वाले पिता ने अगुली पकडकर धर्म के संस्कार डाले थे। यह एक पिता है, जो अगुली पकडकर समाज सेवा के पथ पर आगे बढा रहे हैं। मेरी एक चिरसचित साध पूरी कर रहे हैं। रेल-सेवा करते ही मानस मे एक चाह जगी थी कि कभी समाज सेवा मे लगूँ। कैसे सयोग बनते हैं ? कैसे चाहो को राहे मिलती चली जाती है।

वे अधिकाश कलकत्ता रहते। वहाँ भी जैन विश्व भारती का कार्यालय था। वे अर्थ-सग्रह और उसके नियोजन के महत्वपूर्ण कार्यो को करते। उनके पत्र बराबर मुझे मिलते रहते। मैं उन्हे पूरी जानकारी कराता रहता। मत्री अध्यक्ष के बीच पत्र-व्यवहार की उतनी ग्रथी विगत मे कभी न बनी। कार्य करने का उनका अपना तरीका था। हिसाब की प्रतिलिपि प्रति सप्ताह उनके पास जाती थी। कम्पनियो ने अधिक व्याज पर राशि सावधिक जमा-खातो मे लेनी प्रारभ की। एजेन्टो से सम्पर्क था उनका। उनके कमीशन मे से भी कुछ सस्था के लिये प्राप्त करते और सग्रह करते-करते राशिया अक्षय कोष के रूप मे जमा देते रहे। अधिक व्याज का श्रोत प्रारभ हुआ। किसी राशि की सावधिक जमा रसीद विलम्ब से आती तो कम्पनी से पूछताछ करते। वे कहते, जो जिसका हक है वह उसे क्यो न मिले ? सस्था को एक दिन का व्याज भी कम क्यो मिले ? इस दृष्टि से उन्हे कार्यालय की शिथिलता भी किसी तरह स्वीकार्य न थी।

उनकी स्मरण शक्ति और गणित प्रतिभा तीव्र थी। कौन सी जमा राशि की अवधि कब समाप्त हो रही है, किसने व्याज कम दिया है, पूरा ध्यान रहता था उन्हे। कार्यवाही करते या करवाते। धीरे-धीरे बैंको मे कम व्याज पर जमा राशि को निकालने लगे। अधिक व्याज प्राप्त करने हेतु उन्हे कम्पनियो मे जमा देने लगे। एक बैंक मे तीन सावधिक खातो मे जमा राशि मे से आवश्यकता पड़ने पर ऋण लेने की व्यवस्था कर रखी थी। उनमे से एक की अवधि पूरे होने पर मुझे उनके निर्देश मिले कि उस राशि को निकलवा कर कम्पनी के खाते मे भेज दिया जाए। मुझे आशका थी कि आवश्यकता के समय कही कष्ट न हो। मैंने उन्हे लिखा। पक्के विश्वास के साथ उन्होने लिखा कि ये जमा राशिया न भी होती तो मैं तुम्हे सस्था के खर्चे हेतु राशि जुटा कर देता। सस्था के पास आय का साधन मात्र दान है। दान की राशि को सुरक्षित रखते हुए भी आय का श्रोत व्याज से ही बढाया जा सकता है। अधिक व्याज कमाना इसलिए जरूरी है। ऐसी थी उनकी व्यावसायिक दृष्टि। मुझे उनसे राशि की माग करने की आश्वयकता न पडी। निरंतर वे सग्रहीत राशि भेजते रहे। सस्था द्वारा निर्माण हेतु प्राप्त राशि का अधिकांश भाग आवर्तक खर्चो मे लग गया था। यह वस्तुतः सस्था पर कर्ज था। अपने अथक परिश्रम से उन्होने न केवल उस राशि को ही जुटाया, अपितु आर्थिक स्थिति को और सुदृढ भी किया।

जब भी कलकत्ता से लाडनू आते तो अपने अनुभवो को सुनाते। कुछ प्रसंग प्रेरक हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता की क्या स्थितिया होती है ? क्या क्या सह कर उन्हे काम करना होता है ? विकृतिया सब क्षेत्र मे है। आपसी अविश्वास इसी कारण अपना अड्डा जमाए बैठा है। किसी को विशुद्ध मानने को मन तैयार नही होता। बिहारीलालजी स्वय सम्पन्न थे। अपने विस्तृत व्यवसाय को बच्चो को सौप कर समाज-सेवा मे लगे थे। वे सस्था को देते ही रहे—क्या श्रम, क्या धन। सस्था हेतु किये गये व्यय का भी उन्होने कभी बिल नही बनाया। कई बार वे वायुयान से भी आते। रेल की यात्रा भी वे प्रथम श्रेणी मे करते। कलकत्ता मे अनुदान प्राप्त करने हेतु भी

अपने ही साधनों से जाते। इन प्रच्छन्न सहयोगों की न कोई रसीद बनती है, न कोई कही नाम होता है। पर हम जैसे उनके साथ काम करने वालो के मन पर उनकी अमिट छाप अनायास ही अंकित हो जाती है।

कई बार हमारे बीच विचार-विमर्श होता। एक बार मैंने कहा था—'मुझे यश की चाह नही, किन्तु अपयश से बचूँ, यह चाह अवश्य है। आपकी तरह चाहता हूँ कि मैं भी संस्था हेतु किया हुआ यात्रा व्यय भी न लूँ। किन्तु मेरी दृष्टि मे यह अतिरिक्त बोझ कार्यकर्त्ता को कभी प्रमादी भी बना सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रक्रिया मे सर्वमान्य और सर्वग्राह्य बनने की क्षमता भी नही है।'

उनका उत्तर था, "यह होड गलत है। इसे स्पर्धा का बिन्दु बनाना भी नही चाहिए। सस्था हेतु किये जाने वाले खर्चे ले लेना उचित है। कुछ कार्यकर्ता माँग न करे, यह उनकी इच्छा है। उसके बदले वे अतिरिक्त श्रेय की इच्छा रखे, यह भी अनुपयुक्त होगा। रही बात यश प्राप्ति की चाह के बारे मे। भाई, कार्यकर्त्ता को सम्मान और यश ही तो मिलता है समाज से। यह भी न मिले तो कार्यकर्त्ता प्रोत्साहित कैसे होगा? इस चाह से तो सन्तो मे भी कोई विरला ही बच पाता है।"

मैं आज भी सोचने को बाध्य हूँ कि वे भीतर की चाह को प्रच्छन्न जीने वाले नही थे। जो इच्छा है, है! क्यो लुका-छिपी हो? हृदय यश चाहे और होठ कहे—"मुझे यश की कामना नही", यह असत्य है। कार्य मे सत्य के निकट जीने का उनका ढग काफी प्रेरक रहा। यही तो प्रामाणिकता होती है।

उनके साहित्य प्रेम को भी देखा। सस्था से प्रकाशित होने वाली पत्रिका की गलतियां तक भी कभी-कभी बताते। समारोहो और विशेष अवसरो पर विषय के अनुरूप उनकी वार्ता होती। यदा-कदा वे लिखते भी।

अनुदान सग्रह मे आने वाली कठिनाइयाँ वे कभी-कभी बताते। उस सम्बन्ध मे उनसे सुनी दो घटनायें याद है। वे प्राय: श्रीचदजी रामपुरिया को साथ लेकर ही अनुदान सग्रह हेतु जाते। एक बार वे जिससे अनुदान प्राप्त करने हेतु गए, उसने कहा कि आपकी संस्था को अनुदान देने से तो अच्छा है पैसा गगाजी मे बहा दिया जाए। उन्होने बड़े ही शांत भाव से उसका कारण पूछा। वे कहने लगे कि आपके वहाँ पहुँचने वाले की कोई पूछ नही होती। अधिकारी मनमानी करते हैं। गडबड़ चलती है। बिहारीलाल जी ने पूछा कि वह लाडनू कब गये थे। इस पर वे सज्जन बोले कि जाने का काम तो कभी पडा नही, केवल ऐसा सुना है। "सुनी-सुनाई बातो पर आपने सस्था के लिये ऐसी गलत धारणा कैसे बना ली। आप हमे जानते है। हम क्या किसी गलत सस्था मे काम करना पसन्द करेंगे", बिहारीलालजी के इस तर्कपूर्ण यथार्थ उत्तर को सुनकर उन्हे सतोष हुआ। उनसे अच्छी राशि अनुदान मे प्राप्त हुई।

एक बार एक सज्जन आजकल पर टालते रहे। कलकत्ता का मामला। कई-कई मजिल चढना-उतरना। कही-कही लिफ्ट की सुविधा भी नही। बिहारीलालजी तीसरे चक्कर पर उन सज्जन की पेढ़ी पर पहुँचे तो द्वार के पास ही बैठ गये। उन सज्जन का ध्यान ज्यो ही गया वे गद्दी पर से उठे, हाथ पकडकर कहने लगे "आप यहाँ कहाँ विराज गये! ऊपर पधारिये।" बिहारीलालजी ने कहा—"मैं यही ठीक हूँ भाई। माँगने वाले की जगह यही होती है।'

वे सज्जन वहुत शर्मिन्दा हुए। क्षमा मांगी तथा प्रस्तावित राशि से अधिक देकर ही उन्हे विदा किया।

औरो से दान तभी प्राप्त कर सकते हैं, जब स्वयं औरो को देने की क्षमता रखते हैं। विहारीलालजी अनेको सस्थाओ को दान भी देते थे। जिनके आने पर वे देते थे, उनके समक्ष जव वे माँग लेकर पहुँचते तो उन्हे अवश्य सहयोग करना पडता। कभी-कभी कठिनाइयो के ऐसे दौर को और वृद्धावस्था मे इतनी दौड-भाग को देखकर बच्चे उन्हे आग्रह करते कि वे यह काम छोड दे। जितना भारती को देना हो, एक साथ अपने पास से दे दें। मुझे जव उन्होने इस वात को कहा तो मैं हँस पडा, यह सौदा कैसे स्वीकार हो। हर वर्ष फल देने वाले वृक्ष का ऐसा सस्ता सौदा भला कैसे हो ? फिर कैसे छोडकर जाओगे इन गुरु चरणो को। वे निरुत्तर हो गये। उनका समर्पण किसी अपेक्षा का मोहताज नही था। फिर भी वे दृढता से सही वात को गुरु के समक्ष रखते। गुरु उसे मानते। गुरु की कृपा दृष्टि भी उन पर असीम थी। कई प्रसग आते हैं समाज सेवा मे, जव किसी एक को झुकना होता है। अह को विसर्जन करना पड़ता है। वे किसी वात की इतनी पकड भी नही रखते। गुरु दृष्टि होती तो कडवे घूँट भी सहर्ष पी जाते। उनका मात्र शीश ही नही झुकता था, मन भी गुरु चरणो मे झुकता था। उन्होने किसी से गांठ नही वाँधी। उन्हे अपने साथी कार्यकर्त्ताओ और कर्मचारियो से काफी स्नेह था। जव भी आते फल, मिठाइयां, मेवा आदि साथ ले आते, सब मे वांटते।

दो वर्ष उनकी अध्यक्षता मे मैंने मत्री पद का भार सभाला। उनसे स्नेह, सुरक्षा, समझ, सहयोग, सौहार्द्र क्या कुछ नही मिला। उसके वाद भी मैं साधना विभाग मे निदेशक पद का कार्य-भार सभालता रहता। उन्हे, मुझे और श्री सूरजमल जी गोठी को एक साथ कुलस्थविर का पद देकर सम्मानित किया गया। वे जब भी नीड़म् आते तब कहते—"मैं प्रेक्षा-ध्यान का पुराना साधक हूँ। साधक के नाते भी मेरा नीड़म् पर अधिकार है।" मैं कहता, "आप नीड़म मे क्यो नहीं रहते ? साधना क्यो नही करते ?" वही उत्तर होता उनका, 'तुमने वांध रखा है। सस्था के लिये पैसा वटोरने को भटकाते रहते है। तुम खर्च कम करो नही। फिर हमे कहाँ चैन से बैठने का अवसर मिले।"

किन्तु साधना उनके साथ थी। कपायो की तीव्रता उनमें नही देखी। संस्था के हित मे कभी कडा भी कहते तो अतर से करुणा का श्रोत लुप्त नही होता था। लोग उनके कहे को बुरा भी नही मानते।

एक-दो अवसर मिले, जब वे मेरे घर जोधपुर आये। पत्नी के साथ आये। दोनो के स्व-भाव और स्नेह ने सारे परिवार के मन को जीत लिया। वे आये किन्तु मैं उनके यहाँ कलकत्ता जाने का वादा पूरा न कर सका। वे मुझे जब भी कहते, मेरा भी वही उत्तर होता—'सस्था के कार्यो को छोडकर कैसे जाऊ। इतना समय कैसे निकालूं।' हर वर्ष रेल से हावड़ा यात्रा का पास प्राप्त करता। अवधि समाप्त हो जाती। उसका प्रयोग न हो पाता।

इस प्रकार मूल्यवान पाँच वर्ष उनके साथ वीत गये। दूर रहते भी वे निकट से लगते। १९८७ मे रतनगढ के मर्यादा महोत्सव के अवसर पर वे रास्ते चलते गिर पड़े। अस्वस्थता की स्थिति बढ गई थी। मैं मिलने गया तो वातचीत मे कहा 'तुम कलकत्ता नही आओगे मेरे घर ?' मैंने कहा—'जरूर आने का विचार है। इस समय भी मेरी जेब मे हावड़ा का पास है। अब जरूर

समय निकालूँगा ।' वे कभी टूटती बात नही कहते थे । निराशा मैंने उनके चेहरे पर कभी नही देखी । फिर भी उस दिन हँसते हुए कहा—"तुम मेरे जीते-जी नही आओगे" । मैंने उनके चरण पकड़ लिये—'ऐसा क्यो कह रहे हैं आप ? इन शब्दों को वापस ले लीजिये ।' वे कुछ नही बोले, मेरी पीठ पर हाथ रखकर मानों उन्होने मुझे उत्तर दे दिया ।

मैं समय नही निकाल सका । समय के अधिनायक काल का समय भला कैसे टलता ? एक रोज अचानक यह समाचार मिला कि बिहारीलालजी नही रहे । कर्तव्यनिष्ठ और कर्तव्य-परायण काल से पराजित नही होते । अंत तक वे संस्थाहित मे सलग्न रहे । उनके अंतिम वाक्य सच हो चुके थे मेरे लिये । पर वे दूर कहाँ है ! जो स्मृति में हैं, वे जिन्दा हैं । वे सदा दिशा-दर्शक बने रहेगे ।●

जैसा मैंने उन्हें देखा

रतन शाह

बिहारीलालजी जैन का नाम सामने आते ही एक ऐसे स्फटिक व्यक्ति का चित्र आंखो के सामने उभर आता है, जिनकी कथनी, करनी थी और करनी ही कथनी थी। राजस्थान मे जन्मे श्री बिहारीलालजी का बाल्यकाल राजगढ मे बीता था। राजगढ के पानी का स्वाद खारा होता है। सम्भव है श्री बिहारीलालजी ने खारेपन के स्वाद को इतना गहरे से चखा था कि जीवन के समस्त क्षेत्रो मे विपरीत स्वाद 'मीठेपन' को ही अपनाया। राजगढ तो उनका कार्य क्षेत्र रहा ही, कलकत्ता के सामाजिक जीवन मे भी उनका योगदान कई दिशाओ में अनुकरणीय कहा जा सकता है।

जमशेदपुर मे अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन का राष्ट्रीय अधिवेशन हो रहा था। हजारो से भी अधिक प्रतिनिधि अधिवेशन मे शामिल हुए थे। रहने की व्यवस्था धर्मशालाओ मे की गयी थी। सफल उद्योगपति के रूप मे प्रतिष्ठित एव जैन विश्वभारती के अध्यक्ष पद पर आसीन श्री बिहारीलालजी जैन ने काफी अनुरोध के बाद भी कार्यकर्त्ताओ के साथ धर्मशालाओ मे ही रुकना पसन्द किया था, क्योकि वे आजन्म अपने आपको एक कार्यकर्त्ता मानते रहे। अधिवेशन का वातावरण थोडा गरमाया हुआ था, कुछ अंशो मे विषाक्त भी था। ऐसे मे चन्द मिनटो के लिए ही श्री बिहारीलालजी जैन ने उपस्थित प्रतिनिधियो को सम्बोधित किया था, परन्तु उनकी ओजपूर्ण वाणी मे कहे गये शब्दो ने लोगो पर एक गहरा प्रभाव छोड़ा। समाज के लिए अपना समय देने वाले लोगो की केवल बुराइयो को देखना एकपक्षीय दृष्टिकोण है। उनका कहना था कि कार्यकर्त्ताओ को इस आलोचना से घबराना नही चाहिए। प्रगति पथ पर बढते रहना ही जीवन है। सुदृढ कद-काठी वाले श्री बिहारीलालजी सम्मोहक व्यक्तित्व के धनी पुरुष थे। सम्मेलन से वे एक लम्बे अरसे से जुडे हुए थे। श्री बजरंगलालजी जाजू के मन्त्रित्व काल मे आप सगठन मत्री रहे। सम्मेलन की हर गतिविधियो से अवगत रहते थे, तथा उसकी हर धडकन के प्रति सवेदनशील थे। नियमित रूप से विक्टोरिया के मुख्य द्वार पर मेरी उनसे प्रति दिन भेट हुआ करती थी। उनका प्रात· भ्रमण पूरा हो चुका होता और मैं उस समय भ्रमण के लिए विक्टोरिया पहुँचा करता था। सम्मेलन की पत्रिका 'समाज विकास' की पिछली सामग्री के सम्बन्ध मे वे अपनी प्रतिक्रियाएँ जरूर बताते थे, जिससे अनजाने मे ही मुझे कई तरह के सोचने के मुद्दे मिलते रहे थे। उनका एकाएक चले जाना समाज के लिए भारी क्षति है। मेरे लिये यह एक व्यक्तिगत नुकसान है। पिछली पीढी के लोगो मे अनुभव के साथ-साथ आत्मीयता का भी गहरा मिश्रण था। वैसा मधुर व्यवहार नयी पीढी मे न्यून से न्यूनतम होता जा रहा है। अतः जाने वालो की यादे और भी ज्यादा आती है। श्री बिहारीलालजी जैन उस पीढी के स्मरणीय व्यक्ति

थे। मुझसे तो उनका सम्बन्ध सामाजिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि पारिवारिक रूप मे भी था। उनके पुत्र श्री जगदीश जैन मेरे सहपाठी होने के साथ-साथ मित्र भी हैं, अतः उनसे घरेलू रूप से भी बहुधा मिलना होता था। गम्भीर से गम्भीर परिस्थितियो मे भी उन्होने धैर्य और साहस को नही छोडा। विपत्तियों को धीर-भाव से झेलना मैंने उनसे सीखा है। अपने निकट के व्यक्ति के बारे मे, जिससे पारिवारिक सम्बन्ध बन चुके हों, लिखना एक मुश्किल काम है। श्री बिहारी-लालजी का जीवन एक खुली किताब था। जैन विश्वभारती लाडनूँ सर्वहितकारिणी सभा, राजगढ़ आदि सस्थाओ का इतिहास उस किताब के खुले पन्ने है। बिहारीलालजी की जीवनी आने वाली पीढियो को वर्षो तक प्रेरणा देती रहेगी। ●

जैसा मैंने उन्हें जाना

चॉदमल अग्रवाल

श्री विहारीलाल जैन का जन्म सन् १९१३ मे हुआ और मेरा सन् १९१६ मे। हमारे जन्म-स्थान के घर भी एक दूसरे से करीव पचास मीटर की दूरी पर है। छात्र-जीवन मे वे मुझसे तीन साल आगे थे। अपनी स्कूल के वे तेज विद्यार्थी थे। राजगढ़ मे उस समय तक मिडिल स्कूल ही थी। हाई स्कूल की पढाई उन्होने पिलानी जाकर विडला कालेज मे की।

यह सन् १९३५ की वात है। मैं व्यवसाय की दृष्टि से राजगढ़ से गोरखपुर जा रहा था। उसी गाडी से श्री विहारीलाल जैन भी मुजफ्फरपुर जा रहे थे। अतः रास्ते मे मेरी देख-भाल का भार उन्ही को सौपा गया। हमलोग गोरखपुर तक साथ रहे। उस समय विहारीलाल जी वीकानेर रेलवे का माल खरीद करते थे। इस व्यवसाय मे उनका अच्छा नाम था, क्योंकि वे अपने वादे के पक्के और सिद्धान्तवाले आदमी थे। सन् १९३७ मे जब रेलगाडी सादुलपुर से रेवाडी तक वाया लोहारू होकर चलने लगी तो उन्होने लोहारू मे भी अपना कारवार प्रारम्भ कर दिया। उसके वाद उकलाना मण्डी और हिसार मे भी काम फैला लिया। उकलाना मण्डी का काम उन्होने हमारी साझीदारी मे प्रारम्भ किया था। मैं उन दिनो पडरौना (जिला गोरखपुर) मे सुगर मिल का काम देखता था।

श्री जैन के लोहारू के नवाव वहादुर के साथ अच्छे सम्वन्ध थे। उन दिनो लोहारू स्वतत्र राज्य था और सारे अधिकार नवाव वहादुर के पास ही थे। सन् १९४२ में नवाव वहादुर के साथ मेरा एक जरूरी काम आ पडा। उस समय श्री जैन ने ही मुझे नवाव साहव से मिलवा कर मेरा काम पूरा करवाया। उसी समय मैं इस वात को समझ सका कि श्री जैन के लोहारू मे कितने घनिष्ट सम्वन्ध है। लोहारू उस समय प्रसिद्ध व्यावसायिक मण्डी थी। श्री जैन लोहारू मण्डी की वाणिज्य परिषद की शासकीय-सभा के सम्माननीय सदस्य थे।

सन् १९४५ मे हमने लोहारू मे एक ऊन की प्रेस विठाने का विचार किया। पहले हमने यह प्रेस वीकानेर मे विठानी चाही थी, किन्तु वहाँ पहले से ही एक प्रेस चल रही थी, इसलिए सरकार ने स्वीकृति नही दी। लोहारू नवाव साहव की स्वीकृति से हमने ५०० × ३०० गज जमीन पर ऊनी फैक्ट्री का निर्माण किया। उस समय सारी ऊन साफ करके गाँठें वनाकर यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) को निर्यात की जाती थी।

सन् १९४८ मे लोहारू भारतीय सघ राज्य मे विलीन हो गया, जिसके कारण मिल को मिलने वाली शासकीय सुविधा वद हो गई। हमने पजाव सरकार से सहायता लेना चाहा, पर उसमे सफलता नही मिली। लाचार होकर हमे मिल वद कर देनी पड़ी।

व्यवसाय मे आने वाली बाधाओ के कारण मैं कभी-कभी निराश हो जाता था, किन्तु श्री जैन ने हर स्थिति का मुकाबला बड़े धैर्य के साथ किया और मेरा भी साहस बढाते रहे। यद्यपि उस समय स्वय श्री जैन की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं थी। एक बार तो मण्डी के अधिकांश लोग हमारे खिलाफ हो गये थे। फिर भी बिहारीलालजी ने बड़ी होशियारी और शालीनता से सारा कार्य सभाला।

सन् १९५१ मे प्रेस बंद कर श्री जैन कलकत्ता चले आये और यहीं पर लोहे का काम आरम्भ किया। सामाजिक कार्यो मे हम लोग प्राय. साथ ही रहते। सर्वप्रथम परमेश्वरी प्रसाद जी वैद्य की देखरेख मे हमलोगो ने एक प्राइमरी स्कूल प्रारम्भ की, जिसका नाम "नेहरू बाल मदिर" रखा गया। सर्वहितकारिणी सभा के भवन मे ही कुछ छात्रो को लेकर उसका शुभारभ किया गया। आज उसी विद्यालय मे करीब ७०० छात्र-छात्राएँ शिक्षा प्राप्त करती है। श्री जैन की प्रेरणा से ही मैंने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति मे "श्री जयनारायण चगोईवाल प्राइमरी स्कूल' का निर्माण करवाया। अब यह मिडिल स्कूल है और इसमे करीब पाँच सौ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते है। एक और प्राइमरी स्कूल श्री जैन ने अपने स्वर्गीय पिता श्री शिवनारायणजी की स्मृति मे बनवाई, जिसका उद्घाटन राजस्थान सरकार के तत्कालीन शिक्षा-मत्री श्री चन्दनमल वैद के कर-कमलो द्वारा सम्पन्न हुआ। उसी समय श्री जैन ने इसमे एक मजिल और बनवा कर उसको मिडिल स्कूल बना देने का आश्वासन भी दिया।

राजगढ मे विवाह-शादी के समय किसी उपयुक्त भवन का अभाव था। श्री जैन ने मेरे साथ विचार-विमर्श कर "अग्रसेन-भवन" निर्माण की योजना बनाई। उन्ही की अध्यक्षता मे एक कमेटी का गठन हुआ, जिसने आठ लाख रुपये चन्दा करके राजगढ़ मे दो मजिले अग्रसेन-भवन का निर्माण कर समाज को सौप दिया। इस कार्य मे श्री जैन का अभूतपूर्व सहयोग रहा, जिसके लिये राजगढ मे वे सदा याद किये जायेगे। श्री जैन अन्त तक इस भवन के ट्रस्टी और अध्यक्ष बने रहे। मैं इस भवन का सचिव होने के नाते मेरा उनका साथ बराबर बना रहा। उनके अध्यक्षकाल मे भवन ने सब प्रकार से प्रगति की। आज दो बाराते एक साथ वहाँ ठहर सकती है और उनकी आवश्यकता का सारा सामान भवन मे प्राप्य है।

वे प्रत्येक कार्य को साम्प्रदायिक भावना से ऊपर उठ कर ही करते थे। मुझे उनका सहयोग सदा मिलता रहा। उनके जाने से मेरा बडा भाई, अभिभावक, शुभचिन्तक और सलाहकार चला गया। यह मेरी व्यक्तिगत क्षति तो है ही, समाज के लिये भी अपूरणीय क्षति है। राजगढ के सभी वर्गो के द्वारा वे हमेशा याद किये जायेगे। भगवान उनकी दिवगत आत्मा को शांति प्रदान करे।●

मेरे धर्म पिता

उर्मिला जैन

श्री विहारीलालजी मेरे श्वसुरजी थे। आज उनकी जीवनी लिखते हुए मन विल्कुल भाव-विह्वल है। समझ नही पडता कि उस महापुरुष के लिये क्या लिखा जाये और किन शब्दो का प्रयोग किया जाय। मन मे भाव आते हैं कि क्या सचमुच वावूजी आज हमारे वीच नही हैं ? नही, ऐसा कदापि नही हो सकता, हर क्षण तो हम उन्हे अपने वीच महसूस करते रहते हैं। लगता है, आज भी वे अपनी प्यार-भरी रोवीली आवाज मे हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं।

मैं वावूजी की छत्रछाया मे २९ साल रही। इस वीच उनके करीव भी रही और उनसे दूर भी। जो क्षण उनके सानिध्य मे वीते, वे आज एक धरोहर वन गये हैं। जिन्हे उनसे दूर विताना पडा, वह सिवाय पश्चाताप के क्या कहे जा सकते हैं !

जिस समय मैं वहू वनकर इनके प्रागण मे आई, वहुत सहमी हुई थी, क्योकि अकेले परिवार से इस भरपूर परिवार मे आई थी, जहाँ मान-सम्मान, वड़ो का तौर-तरीका सभी वहुत आवश्यक था। पर, यह सहम तभी तक थी, जव तक नही आई थी। आने के वाद एक दिन भी ऐसा महसूस नही किया कि मैं अपने "माता-पिता" से दूर आई हूँ। मुझे संयुक्त परिवार के तौर तरीके कुछ भी मालूम नही थे। समय-समय पर वावूजी अपना प्यार भरा हाथ रखे अनुशासित ढग से समझाते-सिखाते रहते थे। उनके व्यक्तित्व की यह विशेपता थी कि कभी कोई नही समझ सकता था, कौन उनका अपना और कौन पराया है। इतने वड़े परिवार को समदृष्टि रखते हुए इस प्रकार चलाते थे कि प्रत्येक व्यक्ति यह महसूस करता था, मुझे ही सवसे ज्यादा चाहते हैं। कहते है, सिर्फ देवता ही रूप वदल सकते है, लेकिन मैं इस वात को विल्कुल नही मानती। जिस समय वावूजी के जिस रूप की जिसे आवश्यकता होती थी, वह उसी रूप मे उन्हे पाता था।

मै जव आई वे विल्कुल युवा अवस्था मे थे, पर उनकी युवावस्था और वृद्धावस्था मे कोई फर्क नही था। वे सदैव हँसमुख, न्यायप्रिय और अनुशासन प्रिय थे। मर्यादा का उल्लघन उनको विल्कुल असह्य था। उनकी चुस्ती और फुर्ती मे कभी कोई अन्तर नही था। इकार का ढग भी इतना प्यारा था, इकार होकर भी यह समझ नही आता था कि मुझे फला वात के लिये इकार किया गया है। क्या एक म्यान मे दो तलवार रह सकती है ? नही। परन्तु वे हमेशा ऐसा ही करते थे। ऊपर से कठोर होने हुए भी अन्दर से विल्कुल मक्खन जैसे कोमल और स्वच्छ हृदय के मालिक थे।

कभी-कभी वडा आश्चर्य होता है कि स्वय वडे फुर्तीले और तात्कालिक निर्णय लेने वाले थे, इसके विपरीत उनकी धर्म-पत्नी (मेरी सासजी) "श्रीमती मीरा देवी" वड़ी शात और धीरे से निर्णय लेकर आगे वढने वाली महिला है। फिर भी उनमे किसी प्रकार के असतोप का तो प्रश्न ही क्या, उनके प्रति वहुत श्रद्धा थी। आज के युग मे ऐसी मिसाल वहुत कम मिलती है।

वे खाने-पीने के बहुत शौकीन थे तथा मीठे-नमकीन पदार्थ सभी बहुत पसन्द थे। किसी का भी बनाया खाना इतनी प्रसन्न मुद्रा मे खाते थे कि बनाने वाली की तबियत बाग-बाग हो जाती और भीतर से मन उनको फिर कुछ खिलाने के लिये उतावला रहता। पर, साथ ही साथ सयम भी इतना था कि जिस दिन उपवास करते या किसी भी चीज का त्याग करते, उसकी तरफ कभी मुँह घुमाकर नही देखा। उपवास, बेला, तेला की तो गणना ही क्या है, पन्द्रह दिन तक की तपस्या करके भी बिल्कुल सुस्ती नही थी, बराबर दफ्तर जाना-आना सभी चालू था। उस समय वे बिल्कुल उपवास खोलने के पक्ष मे नही थे, पर अपने बच्चो के आग्रह के सामने उनको झुकना पडा।

गुरुदेव की आज्ञा उनके लिए सर्वोपरि थी और उनके द्वारा उन्हे "दृढ़धर्मी" की पदवी से सुशोभित किया गया था। वे "दृढधर्मी" थे, पर कट्टर नही। उनकी पांच बहुएँ सभी अलग-अलग स्थान से आई हैं तथा कोई भी जैन-धर्म का तौर-तरीका नही जानती थी। पर वे इतने कुशल शिक्षक साबित हुए कि धीरे-धीरे सभी का जैन धर्म के प्रति लगाव करवा दिया। किसी भी धर्म की निन्दा करने से बडा पाप वे नही समझते थे।

बाबूजी एक अविचल सुमेरु थे। हँसते-बोलते अपने बच्चो की शादिया कर बड़े ही सधे ढग से अपने परिवार को चला रहे थे। उनके चेहरे पर कभी किसी चीज की गमी और खुशी मे अन्तर नही था। कुछ परिवार के लोग यहाँ तक उनके मुँह पर कहते थे कि आप और आप के पांच बेटे ऐसे हैं कि जो गिरते हुए आसमान को भी थाम लें, पर उन्हे न इससे कोई गर्व था, न किसी से कोई शिकायत। पर होनहार बलवती है और वह यहाँ भी नही चूकी। अचानक एक बिजली गिरी इस महापुरुष पर और इनके दामाद की अल्पावस्था मे मृत्यु हो गयी। हम सभी भाई-भाभियो के शरीर शिथिल हो गये और एक बार भगवान पर से विश्वास डगमगा गया। माताजी के बारे मे तो कहा ही क्या जा सकता है। उस समय भी बाबूजी ही हमे धीरज बंधाते हुए और पुत्री को कलेजे से लगाते हुए उस बिजली को शीतलता की तरह सह गये।

दूसरा वज्र उनके ऊपर तब गिरा, जब अचानक उनके ज्येष्ठ पुत्र (मेरे पति) की मृत्यु हो गयी। उस समय मैं कानपुर मे थी और उनका आपरेशन हुआ था, इसीलिये वे कानपुर न जा सके। तुरन्त हमलोगो को अपने पास बुला लिया। जब तक बाबूजी से नही मिली, तब तक अश्रु प्रवाह काबू मे था। पर जैसे ही प्यार भरा हाथ रखकर कलेजे से लगाया, नदी प्रवाहित हो गयी। उनके वे शब्द आज भी कानो मे गूंजते है "बेटा! रोने को ये बूढा बाप है, मैं तुम्हारे आँसू व बच्चो को बिलखते हुए नही देख सकता"। पिताजी का वरदहस्त चाहिये था, इसलिए मै अपने आप पर बहुत काबू रखती थी। मुझे क्या मालूम था कि वे अभागे क्षण दूर नही, जब यह छाया मुझे आँसुओ मे डुबाकर उठ जायेगी।

मैंने इतनी लम्बी अवधि मे सिर्फ एक बार उन्हे उदास देखा, जब उनके ज्येष्ठ भ्राता के पुत्र बीमार थे और चिकित्सको ने उम्मीद छोड़ दी थी। कई बार उदासी का कारण पूछने पर बताया 'बेटा, जिस पर एक बार तलवार से वार हो चुका हो और दूसरी तलवार लटकती दिखाई पड रही हो, उसकी क्या स्थिति हो सकती है"। मैंने कहा—"बाबूजी, आपकी उदासी हम सबको अपग बना देगी।" बस, तैयार हो गये दूसरा वार सहने को और इसको भी वैसे ही धैर्य से झेल गये।

उनके जीवन का अन्तिम पटाक्षेप था, सन् १९८६, १ नवम्बर, दीपावली पर उनकी चतुर्थ पुत्रवधू का आकस्मिक निधन। उस समय भी उन्होने किसी को कुछ नही कहा। बाह्य रूप से वैसे ही नजर आते थे, पर भीतर से काफी टूट चुके थे। इस घटना के कुछ दिनो बाद ही वे अपने पुत्र, धर्मपत्नी, पौत्र, पौत्रियो सहित गुरुवर आचार्य तुलसी के दर्शन के लिये राजस्थान गये और वही अस्वस्थ हो गये।

७ फरवरी को वापस अपने निवास स्थान कलकत्ता मे आ गये। एक बार उनका चेहरा देखकर हमलोग सहम गये। परन्तु उनको घर मे आकर काफी आराम महसूस हुआ। रात्रि के समय से फिर असह्य मस्तिष्क वेदना प्रारम्भ हो गयी, सारी रात बहुत तकलीफ मे थे। परन्तु सुबह वही रोबीली आवाज। मेरे मना करने पर, "बाबूजी इतनी जोर से मत बोलिये" कहा, "बेटा शेर की तरह जीने दो, गीदड मत बनाओ"। ये बातचीत मे मुझसे उनके आखिरी शब्द थे। इसके बाद यह "बबर शेर" पिंजडे मे फँस गया। २१ दिन चिकित्सको की देखभाल मे रहे। अपने पूरे परिवार से मिलकर सबको आशीर्वाद देकर २७ फरवरी १९८७ को रात्रि १० बजे इस मानव-रूपी देव ने चिर-समाधि ले ली।

पूरा परिवार शोक मे डूब गया। परिवार का मजबूत, अडोल स्तम्भ टूट गया। पर इस महापुरुष के चेहरे पर अन्तिम क्षणो बाद भी सतत् मुस्कान थी और अपने बच्चो को बिलखते हुए भी एक पाठ पढा गये, "हर परिस्थिति मे मुस्कराना"। मुझे नही लगता कि बाबूजी की पूर्ति कभी हो सकेगी। हम उनको कब और कैसे भूल सकेंगे! हाँ, उनका दिया हुआ सबक हमेशा हमारा पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।●

हमारे चाचाजी

मोहनलाल वर्मा

मेरे श्वसुर महोदय श्री रामनारायणजी वर्मा के अभिन्न बालबधु होने के नाते, उन्ही के समान, प्रात: स्मरणीय श्री विहारीलालजी जैन को भी, मैं पिछले चार दशको से 'चाचाजी' के नाम से ही सम्बोधित करता रहा हूँ। वर्तमान भौतिकवादी व्यवहार-जगत मे इतना चक्करदार व परोक्ष सबध प्राय: औपचारिकता तक ही सीमित रह जाया करता है; किंतु आरभ से ही मैंने यह अनुभव कर लिया कि मात्र औपचारिकता के सकीर्ण घेरे वाला सवन्ध उनके स्वभाव के अनुकूल नही है, जो मेरी रुचि के भी उपयुक्त था। अत: विचार-सामान्य के माध्यम से भी उनके साथ गहरा और अटूट सम्बन्ध स्थापित होने मे अधिक समय नही लगा।

विषयान्तर की स्वीकृति के साथ, मैं अति प्रसन्नता पूर्वक कहना चाहूँगा कि उनके व्यक्तिगत स्वभाव के अतिरिक्त भी उनके विस्तृत कुटुम्बी जनो मे से किसी ने भी आज तक मात्र औपचारिकता वाले सम्बन्ध का निर्वाह नही किया है। सभव है, यह चाचाजी की सहज आत्मीयता का प्रभाव हो, अथवा कुटुम्बीजनो की ही स्वय की उदारता अथवा श्री रामनारायणजी की सर्वप्रियता का; किन्तु इसके विश्लेषण मे जाने की न तो आवश्यकता है, एव न सभव ही है।

छोटे-वड़े और ऊँच-नीच के हजारो जाति-गत एव विभिन्न प्रकार से अनगिनत टुकडों में वँटे वर्तमान समाज मे किसे यह देख कर प्रसन्नता नही होगी, जब कोई उच्च मानवीय गुणो से सपन्न महानुभाव संकीर्ण घेरो से निकलकर अपने खून के सम्बन्धो के बाहर भी किसी से अपनी ही वेटी और दामाद जैसा मधुर सबन्ध स्थापित करे, जैसा चाचाजी ने हमारे साथ किया। इतनी लवी अवधि मे हमे आज तक कोई ऐसा अवसर नही मिला (और शायद आगे उनके परिवार से मिलेगा भी नही !) जब उन्होने हमे अपनो ही की तरह किसी भी छोटे-बड़े अवसर पर याद न किया हो। अवसर को छोडकर भी, मिले हुए कुछ समय बीत जाता तो चाचाजी, चाचीजी एव परिवार के अन्य सदस्य कुशल-क्षेम के निमित्त समय-समय पर फोन से ही खबर ले लेते।

उनको निकट से जानने वालों को इसमे तनिक भी आश्चर्य शायद न भी लगे। मैं स्वय भी समय-समय पर साक्षी रहा हूँ कि किस प्रकार चार तबको से सम्बन्धित चार मित्र यानी सर्वश्री नानगरामजी शर्मा, भैरूँदानजी मोदी, विहारीलालजी जैन एव रामनारायणजी वर्मा अगाध अतरंगता एव नितांत अनौपचारिकता से मिलते थे। वह दृश्य देख कर शायद श्रीकृष्ण-सुदामा को भी ईर्ष्या हो कि शेप तीनो मित्र अपने से सर्व प्रकार से असमर्थ, किन्तु अवस्था मे सबसे वडे श्री नानगरामजी को ही अपनी चौकड़ी का मुखिया बना कर घटो मुक्त हास्य का आनन्द लेते-देते थे। कहाँ विलय हो रहा है वह निस्वार्थ एवं सात्विक बंधुभाव ! क्या ऐसे लोग फिर भविष्य मे भी देखने को मिलेंगे !!

मैंने देखा है श्री नानगरामजी के अपने खेत के सिट्टे और मतीरे-ककड़ी पाकर उपरोक्त बधु-वर्ग फूला नही समाता था। शायद श्रीकृष्ण को भी सुदामा के तन्दुल मे इतना स्वाद नही आया होगा।

श्री नानगरामजी के घर पर बेटी-बेटे का विवाह होता तो अनिवार्य रूप से वहाँ उनकी यह मित्र-मडली भी एकत्र होती, चाहे उन्हे कलकत्ता, उदयपुर आदि दूरस्थ स्थानो से ही क्यो न आना पडे। विनोद मे इसे सेक्रेटरी लोगो का जमा होना कहा जाता (वास्तव मे श्री वर्माजी राजस्थान सरकार के गृह विभाग मे डिप्टी सेक्रेटरी रहे भी थे), क्योकि इसके वाद श्री नानग ताऊ जी को किसी भी काम की चिता नही रहती थी। चाचाजी के स्वभावानुकूल उनके व मित्र-मडली के परिवार के लोग श्री नानग ताऊजी से वैसे ही यदा-कदा प्रणाम करने जाते, जैसे वे अपने ही कुटुम्ब के बडेरे पुरुष हो। यह बहुत बडी वात है कि धन एव ऐश्वर्य के स्वामित्व के अहकार से परे हट कर एक मित्र शुद्ध मित्रता को ही प्राथमिकता दे। श्री चाचाजी ने इसे आजीवन व्यवहार मे उतार कर दिखा दिया।

'ए मैन कैन नॉट लिव वाई ब्रेड एलोन'—चाचाजी इस नीति वचन के हृदय से समर्थक थे, जिसके फलस्वरूप उन्होने वर्षो पूर्व व्यवसाय-धधे से अपने हाथ खीचकर जन-जीवन की सेवा मे अपने आपको अर्पित कर दिया। किसी काम को अधूरे मन से करना भी उनके व्यवहार कोष मे नही था। अपनी आयु अथवा स्वास्थ्य की परवाह किये विना वे रात-दिन सेवा कार्य मे संलग्न रहते थे। यह जानकर कि मैं औद्योगिक व व्यावसायिक प्रतिष्ठानो के अतिरिक्त पुण्यार्थ न्यासो एव वैज्ञानिक शोध सस्थानो (Charitable trusts & Scientific and Research Institutes) का भी आयकर सम्बन्धी सलाहकार हूँ, वे लाडनूं (राजस्थान) स्थित श्री जैन विश्वभारती के विषय मे समय-समय पर मुझसे राय लेते रहते थे। उस समय उनकी अपरिमित कार्यक्षमता को देख कर मैं दग रह जाता था। काम अर्थ-सग्रह का हो या योजना वनाने का, प्रवध का हो अथवा कानून का—अपना पूरा समय देते हुए उनकी गहराइयो मे जाकर वे आगे वढते थे। ये सव काम सर्वथा अर्थ साध्य, समय साध्य एव श्रम साध्य थे, जिनको सफल वनाने मे उन्होने कोई कसर नही छोडी। फलस्वरूप लाडनूं मे श्री जैन विश्वभारती का जो स्वरूप हमे आज दृष्टि गोचर होता है, वह निस्सन्देह उनके अध्यक्षत्व काल की कठोर तपस्या की ही देन है।

विगत दिसम्बर १९८७ मे मुझे कार्यवश लाडनूँ जाने का सुयोग मिला। वर्षो तक चाचाजी से जिस सस्था के विषय मे चर्चा होती थी, उसे देखने का मन लेकर मैं श्री जैन विश्व भारती पहुँचा। चाचाजी के स्वप्नो को साकार रूप मे देख कर एव सस्था के विविध कार्यकलापो के विस्तार को दृष्टिगोचर कर प्रसन्नता होनी अति स्वाभाविक थी। किन्तु सवसे महत्वपूर्ण वात थी सस्था के वडे एव छोटे कार्यकर्त्ताओ के मुख से निकली यह वाणी कि न केवल श्री बिहारीलाल जी ने सस्था की नीव को सुदृढ किया, अपितु उसके विन्यास को सजाने-सवारने मे भी कोई कसर नही छोडी। सस्था की छोटी-वडी 'गतिविधियो की जानकारी उन्हे निरन्तर रहती थी—चाहे वे लाडनूँ मे हो, कलकत्ते मे हो या अन्य कही'। मुझे कार्यकर्त्ताओ ने यहाँ तक कहा कि कभी-कभी लाडनूँ मे ही पडी अमुक फाइल या कागज की जानकारी उनसे कलकत्ते से प्राप्त करके वे आगे वढ पाते थे। मैं उन लोगो के कथन से पूर्णतया सहमत हूँ कि ऐसी चतुर्दिक प्रतिभा, साधनों एव लगन के धनी महानुभाव सस्था को भविष्य मे कभी मिल सकेगे या नही, इसमे सन्देह है।

उनका जन्म अग्रवाल समाज मे हुआ, किंतु पूर्वजो द्वारा ग्रहीत जैन धर्म के तेरापथ संप्रदाय से वे अगुली पर नाखून की तरह जुड़े थे। अपने अध्यवसाय, सत्संग एव मनन से वे जैन धर्म के निगूढ सिद्धान्तों को आत्मसात् करने में सफलीभूत हुए। यदा-कदा उनके साथ धार्मिक सिद्धान्तो की चर्चा के मध्य उनके धार्मिक ज्ञान को देख कर दग रह जाना पडता था। शायद व्यावहारिक रूप मे परिवार के वास्तविक धार्मिक पथ प्रदर्शक वे ही थे, अन्यथा जैनेत्तर परिवारो से आगत अनेक बहुओ को जैन धर्म के सिद्धान्तों से साक्षात्कार कराने का काम उनके सिवा और कौन कर सकता था। उनकी उदार धार्मिक नीति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि परिवार के लोग तेरापंथ के अतिरिक्त अपनी रुचि के अनुसार सनातन धर्मानुकूल पूजा-पाठ भी व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से समय-समय पर करते हैं। उनके विभिन्न कारखानो मे देव-मदिरो का निर्माण इस वात का ज्वलन्त प्रमाण है। इस विषय मे कभी-कभी मैं उनसे जव विनोद मे कहता था कि, "चाचाजी, आपके तो दोनो हाथो मे लड्डू हैं" तो वे सुनकर हँस देते थे, मानो धार्मिक क्षेत्र की यह विचार-स्वतन्त्रता चर्चा का विषय नही होना उचित है।

मात्र तेरापंथ और सनातन धर्म ही क्यो, उन्हे आत्म-कल्याण के मार्ग मे यदि अन्य कोई साधन भी उपयुक्त लगता तो उसे भी समझने या ग्रहण करने मे वे तनिक भी नही हिचकिचाते थे। लगभग १५ वर्ष पूर्व उन्होने मुझसे कहा कि 'विपश्यना' ध्यान साधना के विषय मे उन्हे जो जानकारी मिली है, उसके अनुसार निकट भविष्य मे श्री सत्यनारायणजी गोयनका के आचार्यत्व मे कलकत्ता मे लगाये जाने वाले विपश्यना शिविर मे वे सम्मिलित होने का विचार करते है। मुझे भी उन्होने शिविर में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया। इससे पूर्व भी मैं श्री विट्ठलदासजी मोदी से गोरखपुर के आरोग्य भवन मे मेरे स्वास्थ्य लाभ के मध्य विपश्यना के वारे मे सुन चुका था। समयाभाव से मैं तो उस समय कलकत्ता शिविर मे शामिल न हो सका, किंतु चाचाजी की प्रेरणा से ही मेरा ज्येष्ठ पुत्र सिद्धार्थ उसमे सम्मिलित हुआ। कुछ समय पश्चात मैं भी विपश्यना के नालान्दा शिविर में सम्मिलित हुआ। फिर तो चाचाजी और मेरे वीच एक अतिरिक्त समान विषय वार्ता एवं अनुभव के आदान-प्रदान का वन गया। मेरी धारणा है कि तेरापथ के जैन सतों द्वारा विपश्यना के एक-दो शिविरो मे सम्मिलित होने का श्रेय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चाचाजी को ही है। जो भी हो, इसके पश्चात वे तेरापथ के तत्वावधान मे सचालित प्रेक्ष्या-ध्यान के शिविरो मे भी सम्मिलित हुए। मेरे यह पूछे जाने पर कि दोनो पद्धतियो मे वे किसको श्रेष्ठ मानते हैं, उन्होने वताया कि दोनों ही अच्छी हैं तथा मुझे एक वार प्रेक्ष्या-ध्यान शिविर मे सम्मिलित होने का सुझाव दिया। सक्षेप मे कहने का तात्पर्य वह है कि वे पूर्वाग्रही तनिक भी नही थे।

क्या ही अच्छा हो, समाज मे फैली सकीर्ण धार्मिक भावनाओ को दूर करने मे हम चाचाजी से कुछ सीख सकते !

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ●

बहुमुखी कर्मठ व्यक्तित्व

हनुमान प्रसाद सुरोलिया

वडे शौक से सुन रहा था जमाना,
तुम्ही सो गये दास्तां कहते कहते।

कहानी सुनने वाले तो सो जाते है, मगर जीवट की वातें करते-करते कहानी सुनाने वाला ही अचानक सो जाय, कुछ ऐसी ही हरकत भाई स्व० विहारीलालजी सरावगी ने की। एक गांव के होने के नाते मेरी जानकारी मे वे वचपन मे ही आ गए थे। मैं तीसरी कक्षा मे पढता था तथा वे आठवी कक्षा के विद्यार्थी थे। यह वात सन् १९२७ की है। उस वर्ष आठवी कक्षा मे सिर्फ तीन विद्यार्थी (१-रामनारायणजी, २-भैरूँदानजी तथा ३-विहारीलालजी) ही थे। स्कूल मे तीनो को ही लगभग रोजाना देखना हो जाता था। कारण था कि वे भूगोल इतिहास पढने हमारे अध्यापक पूजनीय व्रह्मदत्तजी के पास हमारे कक्ष मे ही आते थे। उसी समय से ही तीनो का उज्ज्वल व्यक्तित्व दिखाई देता था, जो आगे के जीवन मे प्रत्येक का अपने-अपने कार्यक्षेत्र मे वरावर निखरता चला गया।

विहारीलालजी ने मैट्रिक पास करते ही व्यापारिक क्षेत्र मे प्रवेश किया। अपने पुश्तैनी पेशे को ही अख्तियार किया। आरम्भ के वर्षो मे राजगढ तथा इसके आसपास ही क्रियाशील रहे। अपने धन्धे के साथ रहते हुए सामाजिक जीवन मे भी विलगता नही आ पाई। राजगढ़ नगर की सामाजिक सेवा-सस्थाओ जैसे गऊशाला, सेवा-समिति एव पुस्तकालय इत्यादि के क्रियाकलापो मे अपना वरावर योग देते रहे। स० १९९५-९६ दो वर्षो के लगातार अकालो मे राजगढ तथा राजगढ से वाहर हडियाल इत्यादि स्थानो पर पशुओ के वचाव के लिए चारे के डिपो केवल मुनाफे की दृष्टि से ही चालू नही रखे, वल्कि सेवा-भावना का पूरा पुट वना रहा। इस प्रकार काम करते हुए राजगढ नगर के सामाजिक कार्यकर्त्ताओ मे अपनी विशिष्ट स्थिति वनाते चले गए।

सन् १९४० के दशक के आरभिक वर्षो मे ही लुहारू मडी अपना विशेप स्थान वनाने लगी। नवाव लुहारू वडी लगन तथा तत्परता के साथ मडी की सर्वागीण उन्नति मे लगे और अपने लिए सलाहकारो का एक विशिष्ट मडल वनाया, जिसमे स्व० विहारीलालजी सदैव अपना गणनीय स्थान वनाए रहे। इस प्रकार अव विहारीलालजी वीकानेर राज्य से वाहर लुहारू जैसे अन्य राज्य मे भी सम्मान पाने के भागीदार वने। इन्ही वर्षो मे उन्होने अपनी सामाजिक स्थिति के साथ-साथ आर्थिक स्थिति भी इस प्रकार की वना ली कि उन्हे अव व्यापार-उद्योग हेतु विस्तृत क्षेत्र मे प्रवेश करने की कामना जागृत हुई और फलत. वे सुदूर वगाल के कलकत्ता नगर मे पैठ गए और भिन्न-भिन्न स्थानो पर अपना धधा फैलाने लगे। अपनी कर्मठता के साथ उनके भाग्य

ने भी उनका साथ दिया और वे अपने परिवार के अन्य सभी सदस्यो के सहयोग से लगातार वृद्धि को प्राप्त करते चले गए।

धन्धो मे उपार्जन के साथ-साथ बिहारीलालजी बराबर सामाजिक सेवा-सस्थाओ से भी जुड़े रहे और कलकत्ते जैसी महानगरी मे भी अपना स्थान बनाते चले गए। अब उनमे धार्मिक भावना का विशेष जागरण होने लगा। सभी धर्मो का आदर करते हुए वे अन्तरतम से सच्चे जैन थे। उन्हे आचार्यश्री तुलसी का सानिध्य प्राप्त हुआ और वे बराबर निखरते चले गए। जैन दर्शन के प्रचार-प्रसार मे वे जीवट के साथ जुट गए। दिल्ली के अणुव्रत बिहार के सयोजन मे वे भी अपना अलग से स्थान रखते रहे हैं। अपने जीवन को सयमित बनाना शुरू किया और अनेक वस्तुओ के त्याग का सकल्प निभाते चले गए। गिनती के अणुव्रतियो मे उनका स्थान बनने लगा। दिल्ली, कलकत्ता, जयपुर इत्यादि बड़े-बड़े नगरो के बड़े-बडे धार्मिक सम्मेलनो मे उन्होने भाग लिया और इन्हे सफल बनाने मे उनका भी सदैव जिक्र रहा है। वे ऊँचे दर्जे के जैन प्रकट होने लगे।

बिहारीलालजी की ऊँचाई के सोपान मे जैन विश्व भारती, लाडनू के निर्माण मे उनका सहयोग तथा क्रियाशीलता सर्वोत्कृष्ट स्थान रखती है। विश्व भारती मे वे वर्षो तक विशिष्ट पदाधिकारी ही नही रहे, बल्कि उसके उद्देश्यपूर्ति प्राप्ति मे प्राणपण से जुट गए। कौन कह सकता है कि यही की श्रमशीलता के फलस्वरूप उन्हे शारीरिक व्याधि लगी हो, मगर इस सबकी उन्होने कभी परवाह नही की। आचार्यश्री के अभिन्न श्रावको मे उनकी गिनती होने लगी जो उनसे सम्बन्धित सम्पूर्ण समाज के लिए गौरव की बात है। बिहारीलालजी ऐसी संस्थाओं के निर्माण मे तिल-तिल कर जीए हैं। विश्व भारती बिहारीलाल जी कर्मभूमि मे उनकी स्मृति की विशिष्ट धरोहर है।

समाज सेवा ही नही, समाज-सुधार मे भी, बिहारीलाल जी निर्भीकता के साथ आगे बढे हैं। अपने परिवार मे पर्दा प्रथा को समाप्त करना तथा महिला वर्ग को भली प्रकार से शिक्षित-दीक्षित करना उनका गहरा प्रयोजन रहा है। अपनी युवा पुत्री के विधवा होने पर उन्होने तुरन्त नि.शंकता के साथ उसका पुनर्विवाह करके समाज के समक्ष एक करणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। वे अपने जीवन काल मे अर्जन-सर्जन के साथ विसर्जन पर भी बराबर ध्यान देते रहे। फलतः अनेक सस्थाओ को उनकी ओर से सहायता मिलती रही, जिससे विशेषतः शिक्षा के क्षेत्र मे अनेक छात्र-छात्राएँ लाभ उठाते रहे है।

बिहारीलालजी का जीवन धन्य रहा है और वे अपने परिवार के लिए सर्वथा प्रेरणा स्रोत बनकर विदा हुए हैं। और इस प्रकार सही अर्थों मे वे जीवट की बातें (कहानी कहते-कहते) करते करते धीरे से एक ज्योति लकीर छोड़ते हुए शून्य मे समा गए है।●

एक विरल व्यक्तित्व

रामकृष्ण सरावगी

भाई विहारीलालजी जैन से मेरा सम्पर्क काफी पुराना था। रिश्तेदारी के कारण भी, और सार्वजनिक जीवन के सहयोगी के नाते भी।

उन्हे मैंने जीवन-क्षेत्र की विभिन्न दिशाओ मे कार्य करते देखा है। व्यक्ति के रूप, विभिन्न क्षेत्रो मे प्राय. विभिन्न प्रकार के हो जाते है। कई बार तो इतना परिवर्तन दिखता है कि सहसा विश्वास नही होता कि यह वही व्यक्ति है क्या! किन्तु विहारीलालजी के जीवन की विभिन्न गतिविधियो मे जो सबसे बडी बात देखने को मिली, वह थी उनकी एकरूपता। परिवार हो, व्यापार हो, धार्मिक प्रवृतियाँ हो, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक संगठन हो, सभी जगह विहारीलाल जी का एक ही रूप रहा। वह रूप जो सहज स्वाभाविक था, बनावटी या दिखावटी नही, और मैं समझता हूँ कि व्यक्ति के नाते उनकी यह सबसे बडी और दुर्लभ उपलब्धि थी।

जन्म से वे अग्रवाल दिगम्बर जैन थे, किन्तु उन पर तेरापथ धर्म का बहुत अधिक प्रभाव था। तेरापथ के माध्यम से उन्होने जैन धर्म की सूक्ष्मता और गूढता को न केवल समझा ही, जीवन मे भी उतारा। वे सही अर्थो मे कर्मजात-जैनी थे और कर्मजात-जैन जन्मजात-जैन से कितनी ऊँची धरातल तक जा सकता है, इसके वे प्रतीक थे। आचार्य तुलसी के अणुव्रत आन्दोलन को उन्होने एक आचार-सहिता के रूप मे माना और महसूस किया कि मानव जाति के उत्थान और कल्याण के निमित्त इस आचार सहिता का अधिकाधिक प्रचार और पालन आज के युग की परम आवश्यकता है और इसीलिए वे जीवन पर्यन्त अणुव्रत-आन्दोलन के साथ आवद्ध रहे, एक विनम्र कार्यकर्त्ता के रूप मे भी और उच्च पदाधिकारी के रूप मे भी।

लाडनूं स्थित जैन विश्वभारती हमारे देश की ऐसी प्रतिष्ठित संस्था है, जो विभिन्न माध्यमो से जैन धर्म, साहित्य, सस्कृति, कला और परम्परा को उजागर करने मे अग्रणी है। विहारीलालजी का इसके साथ अटूट सम्बन्ध रहा। अनेक वर्षो तक वे इसके अध्यक्ष रहे और फिर कुलस्थविर भी। जैन विश्वभारती को आज के सजे-सँवारे रूप मे लाने मे जिन महानुभावो का अविस्मरणीय योगदान रहा है, उनमे एक प्रमुख नाम विहारीलालजी का भी है।

उनका जन्म राजस्थान मे चूरू जिले के राजगढ़ कस्वे मे हुआ, किन्तु व्यापारिक कर्म-क्षेत्र प्रमुखतः कलकत्ता रहा। साधारण स्थिति से उठकर उन्होने सम्पन्नता प्राप्त की, किन्तु कभी भी अपनी जन्मभूमि को वे नही भूले। राजगढ अग्रवाल सभा के वे अनेक वर्षो तक अध्यक्ष रहे और वही पर अपने पिताजी के नाम पर 'श्री शिवनारायण सरावगी विद्यालय' स्थापित किया। आजीवन उन्होने अपनी जन्मभूमि से सम्पर्क रखा और वहाँ के लोगो के सुख-दुख मे अपने को सम्मिलित समझा।

अनगिनत बार मुझे तेरापंथी मुनियो एव साध्वियो के सम्पर्क मे आने का सौभाग्य मिला। मन्त्रित्व और राजनैतिक ताने-बाने की उलझन से कुछ भी देर दूर होने की सोचता तो उनके प्रवचनो मे श्रोता के रूप मे सम्मिलित हो जाता था। आज भी साध्वीश्री कस्तूराजी का नाम परम श्रद्धा के साथ स्मरण होता है। ऐसे प्रवचनो मे मैंने सदैव बिहारीलालजी को उपस्थित पाया। कई बार उनके वक्तव्य भी जैन धर्म पर सुनने को मिलते थे। एक बार पूछा भी कि "भाई साहब, व्यापार मे सलग्न रह कर भी आप इतना अध्ययन कैसे कर पाते है?" उत्तर आज भी याद है। कहा था उन्होने कि 'यह तो मेरा किया कुछ नही है।" आज सोचता हूँ कि उन्होने ठीक ही कहा था कि उनका अपना किया कुछ नही था। जैसे एक शक्ति उनसे सब कार्य सम्पन्न कराती थी, जैसे वे एक निमित्त मात्र ही थे। भले ही हम उस शक्ति को किसी तीर्थंकर या गुरु या किसी देवी-देवता के प्रसाद से जोड दे, किन्तु यह सही है कि बिहारीलालजी ने अपने सारे कृतित्व और उपलब्धियों को एक आशीर्वाद के रूप में ही माना।

एक और बात जो मैंने पाई, वह थी उनकी व्यक्तिगत प्रचार-प्रसार से दूर रहने की भावना। सामाजिक-धार्मिक सम्पर्को को उन्होने कभी व्यापारिक लाभ का माध्यम नही बनाया और न कम से कम करके ज्यादा से ज्यादा प्राप्त करने की चेष्टा ही उन्होने की।

आज के युग मे ऐसे व्यक्ति बिरले ही मिलते हैं।●

स्नेहाञ्जलि

महावीर प्रसाद जोशी

श्री विहारीलालजी जैन उदार, सज्जन पुरुष थे। उनके स्वर्गवास से सभी मिलने वालो को दुःख होना स्वाभाविक है।

वे आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति के अनुरागी थे, इसलिये सन् १९४० मे मेरे राजगढ आने के समय से ही उनसे परिचय था। इस परिचय मे प्रगाढता सन् १९४७-४८ मे हुई, जब वे नगरपालिका के सदस्य चुने गये। तीन-चार वर्षों तक उनके साथ कन्धे से कन्धा मिला कर काम करने का अवसर मिला। श्री जैन किसी भी विषय मे द्विधा से ग्रसित नही थे। अवसर आने पर अपनी सम्मति स्पष्ट रूप मे, दृढता के साथ व्यक्त करना उनकी पहचान थी। यद्यपि वे अधिवेशनो मे कम उपस्थित होते थे (उन दिनो लुहारू मे कॉटन मिल का काम उन्हे अधिक व्यस्त रखता था।) पर जब वे आते थे, तो अच्छे कार्य मे सदा ही सहयोग देते थे। अनन्तर वे कलकत्ते मे काम कर लेने के बाद राजगढ कम आते थे। पर चार-पांच वर्षो पहले लाडनू मे जैन विश्व भारती का काम सभालने के बाद उनका इधर आना-जाना बढ गया था। अत: जब आते तो मिलना-जुलना होता रहता था। उनकी बातचीत से यह व्यक्त होता था कि विश्वभारती का कार्य बड़ी कुशलता से सचालित होता है। कितनी कठिनता से उन्होने सस्था को आर्थिक सुरक्षा प्रदान की, यह किसी से छिपा नही है। वहां से प्रकाशित साहित्य भी उनके सहचर्य से प्रकाशित होता रहता था। वे बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी होने पर भी हँसमुख व्यक्ति थे। उनका अभाव सभी परिचितो के लिये खटकने वाला है।

अन्त मे उन्हे स्नेहांजलि समर्पित करता हुआ आशा करता हूं कि नवयुवको के लिये उनका आदर्श पथ-प्रदर्शक बनेगा।●

"वे आत्मिक बल के धनी थे"

अचला सरावगी

हमारे पूज्य पिताश्री श्री विहारीलालजी जैन ऐसी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे, जिनको परिवार एवं समाज दोनो ही ओर से महती विशिष्टता प्रदान की गई। कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते हैं, जिनको अपने परिवार के बीच महत्ता मिलती है, पारिवारिक जनो से गौरव प्राप्त होता है। कुछ लोगो को समाज की ओर से यश प्राप्त होता है, सराहना मिलती है, पर हमारे पूज्य पिताजी को परिवार एव समाज दोनो ही क्षेत्रो मे महत्ता मिली, विशिष्टता दी गई। मेरे निजी ख्याल मे वाहर वालो से प्रशंसा पाना, यश पाना अधिक आसान वात है, अपेक्षाकृत अपने वालो से, क्योकि Intimacy breeds centempt. किसी व्यक्ति को उसके अपने वाले कुछ विशिष्ट भाव से देखे, उसके गुणो को अनुभव करे, जाने, यह वड़ी महत्वपूर्ण वात होती है।

सामाजिक क्षेत्र मे उनका स्थान क्या था, उनकी क्या स्थिति थी, लोगो के दिलो मे उनके प्रति क्या भावना थी, यह हमलोग जानते हुए भी शायद काफी अनजान थे, जो कि हम उनके प्रयाण के पश्चात् ही जान सके। पर पारिवारिक क्षेत्र मे समय-समय पर उनकी धीरता, सहिष्णुता, दूरदर्शिता, चारित्रिक एवं मानसिक उज्ज्वलता एव अडिगता ने हमे वहुत ही प्रेरणा एव वल प्रदान किया है एवं भविष्य मे भी करेगा। समता की साक्षात् प्रतिमूर्ति बनकर आदर्श रूप वनकर उन्होने हमे भी समय-समय पर समता का पाठ पढाया।

धर्म एव धर्मगुरु के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा एव समर्पण भावना, नियमित दैनिक जीवनचर्या, सयमित एव अनुशासनपूर्ण जीवन आदि ने उन्हे शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक स्वस्थता प्रदान की थी, जिससे वे स्वय तो लाभान्वित थे ही, हमे भी लाभान्वित करते थे।

परिवार मे घटने वाली किसी भी प्रिय एव अप्रिय घटना के समय अडोल रहते हुए वे जिस तटस्थ भाव का परिचय देते थे, वह जानने व देखने योग्य होता था। किसी भी समस्या के समय, प्रतिकूल परिस्थिति के समय वे आचार्यश्री के इस उद्‌वोधन को अक्सर दोहराया करते थे—**'चिन्ता नहीं, चिन्तन करो, व्यथा नहीं व्यवस्था करो, प्रशसा नहीं प्रशस्ति करो।'** वे सिर्फ कहने मे विश्वास नही करते थे, वल्कि करते भी थे। वे सिर्फ उपदेशक नही थे, वल्कि उनकी कथनी एव करनी मे समानता देखी जा सकती थी। उनकी दृढता का अनुमान तो हमे उस समय और भी हो गया था, जव आचार्यश्री ने उन्हे "दृढधर्मी" की उपाधि से सुशोभित किया।

हमारे भीतर आध्यात्मिक भावना को विकसित करने मे प्रेरणा-श्रोत निश्चित रूप से वे ही थे। वे हमे प्रेरणा देते थे, मार्ग-दर्शन करते थे एव पग-पग पर हमे उत्साहित भी करते थे। जीवन के प्रति स्वय विधेयात्मक दृष्टिकोण रखते हुए, आशावादी वनकर हमे भी उसी दिशा पर अग्रसर होने के लिये प्रेरित करते थे।

अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे उन्हे अत्यधिक शारीरिक वेदना सहनी पड़ी। आचार्यश्री तुलसी के दर्शनार्थ अपने रतनगढ प्रवास काल मे एकाएक उनका शारीरिक कष्ट आरम्भ हुआ, पर उस समय भी उनका आत्मिक बल एव मनोबल प्रशसनीय था। कमजोरी शब्द शायद उनके शब्दकोष मे नही था। रतनगढ से आने के बाद भी उन्हे शारीरिक स्वास्थ्य लाभ नही हुआ और उन्होने अपनी महाप्रयाण यात्रा की ओर अपने कदम बढाने प्रारम्भ कर दिये, जिसका आभास हमे नही हो सका था। उनका शारीरिक कष्ट देखकर मोह-ममता-वश कभी-कभी हम बहुत विचलित हो उठते थे, पर उनका स्वरूप यू लगता था, जैसे मोह-ममता के बन्धनो को तोडकर, मैं—मेरे के पार्श्व से निकलकर वे अन्तर्मुखी हो उठे थे। वे बाहर से हटकर भीतर की ओर प्रस्थान करते जा रहे थे। उन्होने अपनी वृत्ति जैसे अपने भीतर से जोड ली थी, सिर्फ अपने भीतर। मौन की साधना करते हुए आत्मभाव को विकसित करते हुए सारे बधनो को तोडकर जैसे अपने परम लक्ष्य की ओर बढते जा रहे थे।

यह नाम, यश, गौरव, मान जो उन्होने यहाँ हासिल किया, वह तो उनके नाम के साथ यहाँ अवश्य है, पर साथ ले गये हैं अपना सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र एव आत्मिक निश्चय।●

चित्रावली

बिहारीलाल जी जैन

१९१३ १९८७

पिताश्री शिवनारायण जी सरावगी

मातुश्री नानीबाई

विहारीलाल जी जैन

श्रीमती मीरादेवी जैन

बाये श्री विहारीलाल जी जैन, दाये श्री चाँदमल जी अग्रवाल
बीच मे लुहारू नवाब मिर्जा अमीनूद्दीन साहब ।

काका कालेलकर का स्वागत करते हुए बिहारीलाल जी।

बिहारीलाल जी जैन ने अपने निवास पर राजस्थान के भूतपूर्व मुख्यमंत्री जगन्नाथ पहाड़िया को भोजन पर आमन्त्रित किया। बाये श्री पुरुषोत्तम जी सराफ।

चित्र मे दाये से—बिहारीलाल जैन, जैन विश्वभारती के अध्यक्ष श्री खेमचन्द सेठिया, 'दैनिक विश्वमित्र' के सम्पादक श्री कृष्ण चन्द्र अग्रवाल, श्री रामलाल राजगढिया, श्री बनारसीलाल जी सरावगी।

बाये से—सर्वश्री प्यारेलाल जी सरावगी, रामलाल जी राजगढिया, बिहारीलाल जी जैन, खेमचन्द जी सेठिया, कृष्णचन्द्र जी अग्रवाल, राजेन्द्र प्रसाद जी अग्रवाल, ओकारमल जी झुनझुनवाला।

आचार्य श्री तुलसी का अभिनन्दन करते हुए विहारीलाल जी।
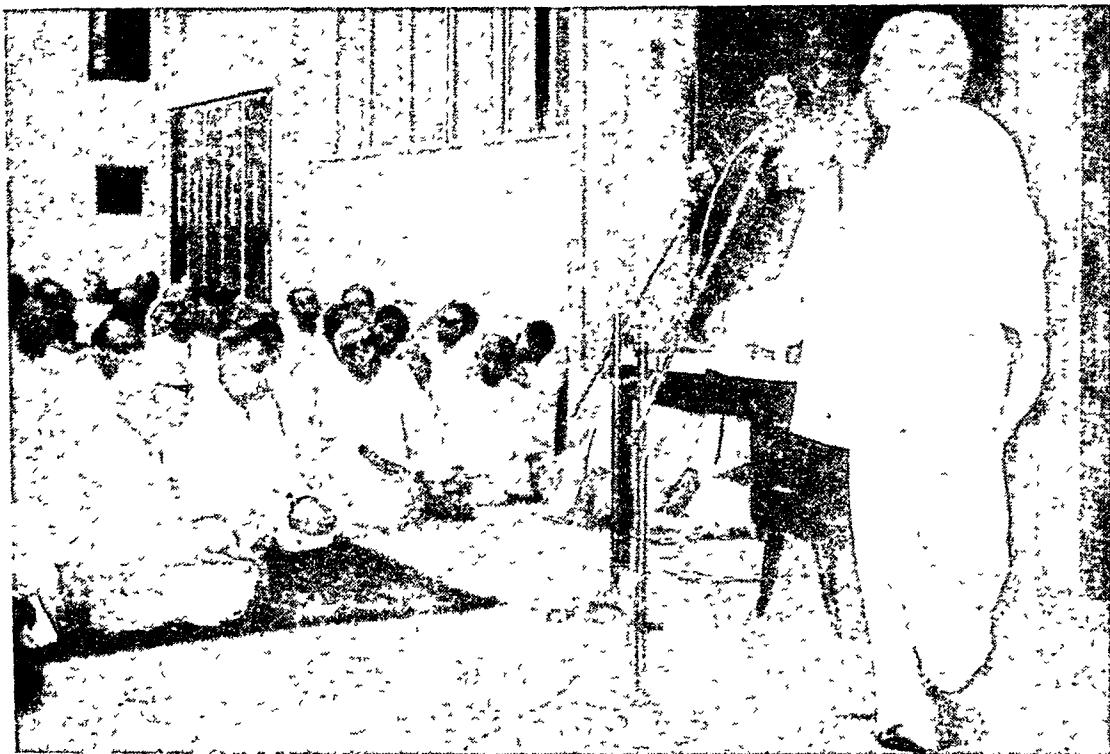
विहारीलाल जैन 'अणुव्रत आन्दोलन' पर अपने विचार व्यक्त कर रहे है। चित्र मे वाये से—
श्री अजय मुखर्जी (भूतपूर्व मुख्यमत्री प० वग) श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल,
सुप्रसिद्ध समाजसेवी भागीरथ जी कानोडिया।

बिहारीलाल जी राष्ट्रपिता बापू को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए।

भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई का स्वागत करते हुए बिहारीलाल जैन।

कर्मयोगी सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्री केसरीमल जी सुराणा राणावास मे विहारीलाल जी का स्वागत करते हुए।

बाये से—सहृदय मूक सेवी श्री उत्तमचन्द जी सेठिया, श्री बिहारीलाल जी जैन, वयोवृद्ध समाजसेवी श्री जव्वरमल जी भडारी एव प्रो० बी० एल० धाकड़ ।
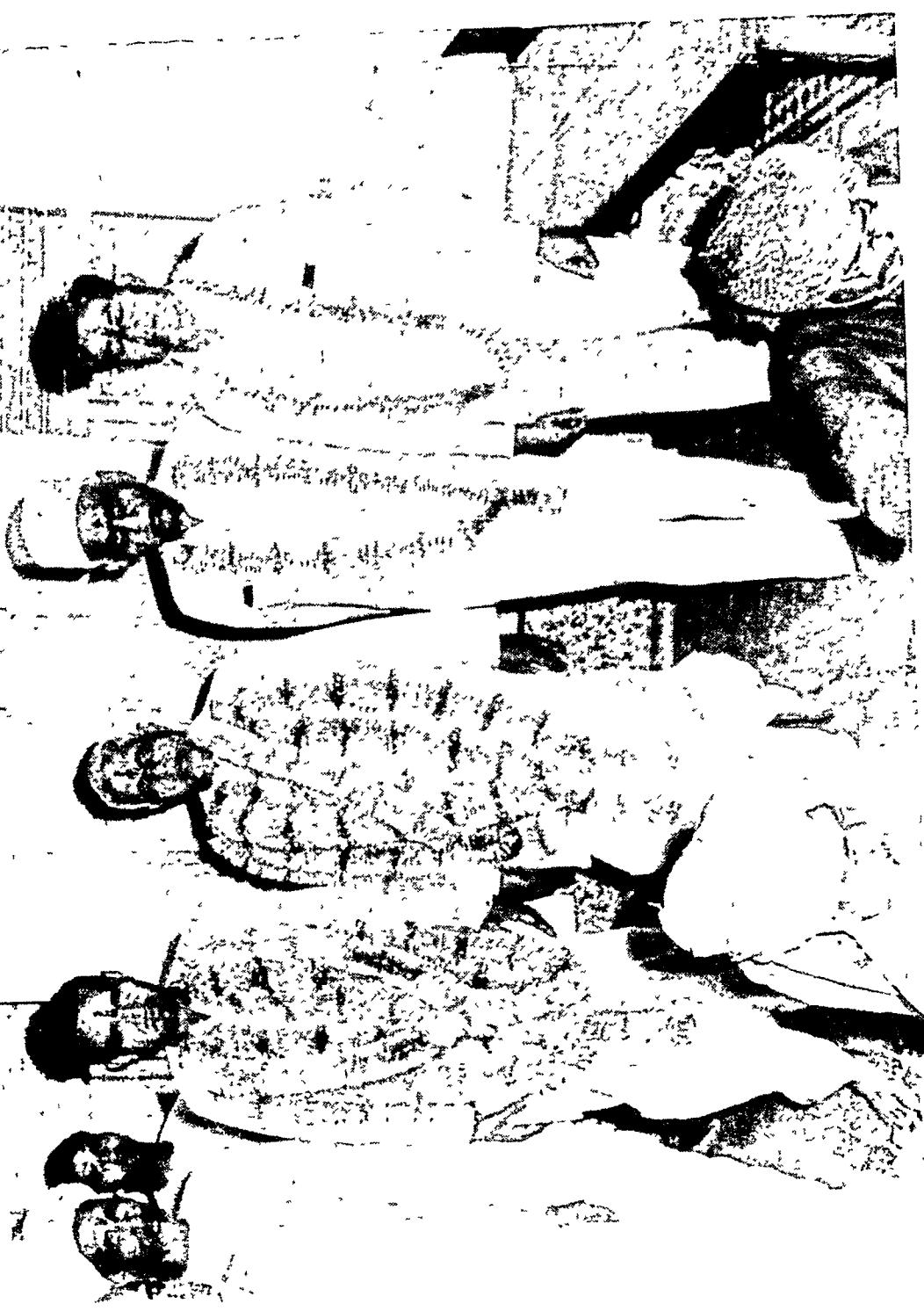
केन्द्रीय मंत्री श्री हाथी भाई का जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता मे स्वागत करते हुए श्री बिहारीलाल जी जैन। चित्र मे समाजसेवी दीपचन्द जी नाहटा एव श्री रतनलालजी रामपुरिया।

सर्व हितकारिणी ग्रन्थ के लोकार्पण के अवसर पर

वाये से—श्री गोकुलचन्द शर्मा, बिहारीलाल जी जैन, 'सैनाणी' के अमर कवि श्री मेघराज 'मुकुल', श्री रामकुमार जी मोहता।

वाये से—श्री रणजीत सिंह बैंगानी श्री छतर सिंह बैद, विहारीलाल जैन, समाजसेवी धर्मचन्दजी चोपडा से वार्तालाप करते हुए।

वि[illegible]या गायत्री के पुर्नविवाह के अवसर पर सुप्रसिद्ध ममाजसेवी पद्मभूषण सीतारामजी सेकसरिया के साथ बिहारीलालजी जैन।
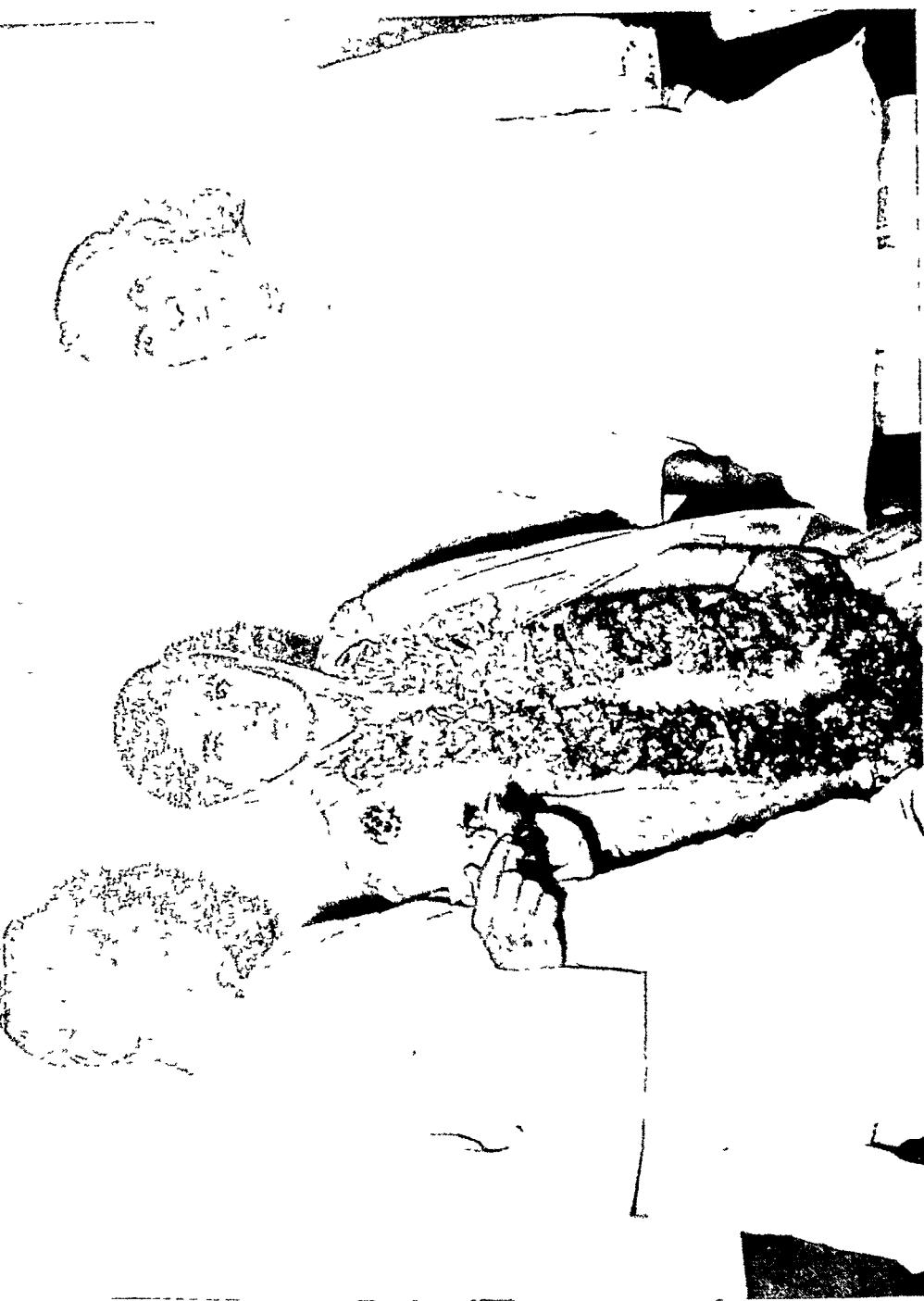
बाये से श्री काशीरामजी जैन, प्रसिद्ध समाज सेवी श्री किशोरीलाल ढाढनिया, वर-वधू एव बिहारीलालजी जैन

बायें से बिहारीलालजी जैन, पुत्री गायत्री, दुल्हा सुरेन्द्र कुमार जैन। बगल मे प० बंगाल के भूतपूर्व मन्त्री श्री रामकिशन सरावगी

उक्त विवाह के अवसर पर बायें से कर्मनिष्ठ सुप्रसिद्ध समाज सेवी श्री प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, श्री रामकुमारजी भुवालका, बिहारीलालजी को इस साहसिक कार्य पर मंगलकामनाएँ देते हुए। वार्तालाप मे संलग्न दुल्हे के अग्रज श्री महेन्द्र कुमार जैन

श्री विहारीलालजी जैन का भरा-पूरा परिवार।

जीवन संगिनी मीरा देवी के साथ विहारीलालजी।

बायें से श्री सावरमल जैन, श्री सत्यनारायण खेतान, श्री मोहनलाल नोपानी,
श्री बिहारीलाल जैन, प्रसिद्ध उद्योगपति श्री राधाकिशन कानोड़िया

श्री बिहारीलालजी एव श्रीमती मीरादेवी स्नेहमयी बिटिया इन्दु एव दामाद दीपक के साथ

वाल सखा श्री गजानन्दजी शर्मा के साथ प्रसन्न मुद्रा मे श्री बिहारीलाल जैन ।

स्वजन-स्नेहियो द्वारा वर दीपक और वधु इन्दु को भाव-भीनी विदाई ।

सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री रावाकिशनजी कानोड़िया, सुरेन्द्र कुमार एवं अलका को आशीर्वाद प्रदान करते हुए। बिहारीलालजी जैन प्रसन्न मुद्रा मे।

बिहारीलाल जी अपने दामाद दीपक कुमार को तिलक करते हुए, बगल में खड़े हुए हैं श्री फूल कुमार बगड़िया।

श्री विहारीलालजी जैन अपने समधी श्री बालाप्रसाद जी गुप्ता से
हर्ष-विभोर होकर गले मिल रहे है।

बाबुल मोरा नैहर छूट्यो जाय।

बिहारीलालजी एवं श्रीमती मीरा देवी प्यारी बिटिया इन्दु को विदा करते हुए।

मातुश्री नानीबाई को श्रद्धामय प्रणाम ।

चारो पुत्रो द्वारा पिताश्री शिवनारायणजी के अन्तिम सस्कार के बाद पगड़ी रस्म के समय का चित्र।

(मातुश्री को अन्तिम विदा) राधाकिशनजी सरावगी, बिहारीलालजी जैन, बनारसीलालजी सरावगी, काशीरामजी सरावगी।

आस पास जोधा खड़े, सभी बजावैं गाल ।
मांझ महल से ले चला, ऐसा काल कराल ।।

चारो पुत्रो द्वारा अन्तिम सस्कार। बाये से श्री जगदीश प्रसाद, मुरारीलाल, राजेन्द्र कुमार, एव सांवरमल। दाये से प्रथम बिहारीलालजी के अनुज श्री बनारसीलाल सम्पूर्ण परिवार सहित।

बिहारीलालजी जैन 'पावन-स्मृति' ग्रन्थ के सम्पादक श्री कन्हैयालाल फूलफगर के साथ।

"पावन स्मृति" ग्रन्थ के लेखक

१. आचार्य तुलसी :

तेरापन्थ धर्म सघ के नवम आचार्य, अणुव्रत अनुशास्ता, सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषाओ के उद्भट विद्वान। अनेक गद्य एव पद्य ग्रन्थो के रचयिता। आप विराट व्यक्तित्व के धनी, कुशल संगठक, ओजस्वी वक्ता है। आचार्य जी का व्यक्तित्व इन्द्रधनुषी है। आप सामाजिक एवं राष्ट्रीय ही नही, मानवीय परिवेश मे सोचते है। आपका दृष्टिकोण उदार है और कार्यक्रम व्यापक।

सम्पर्क सूत्र : जैन विश्व भारती, लाडनूँ-३४१३०६ (राजस्थान)

२. युवाचार्य महाप्रज्ञ :

तेरापन्थ धर्म सघ के वर्तमान आचार्य तुलसी जी द्वारा अपना उत्तराधिकारी घोषित। प्रेक्षा-ध्यान के प्रणेता। सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषाओं के उद्भट विद्वान और आशुकवि। एक सौ से अधिक ग्रन्थो के लेखक, जिनमे प्रमुख ग्रन्थ है :—जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, अहिंसा तत्व दर्शन, सम्बोधि, तट दो : प्रवाह एक, (हिन्दी, अग्रेजी) समस्या का पत्थर : अध्यात्म की छेनी, महावीर की साधना का रहस्य (दो भाग) (हिन्दी, अग्रेजी), श्रमण महावीर (हिन्दी, अग्रेजी), अनुभव : चिन्तन : मनन (हिन्दी, अग्रेजी), भाव और अनुभव (हिन्दी, अग्रेजी), महावीर क्या थे ? (हिन्दी, अग्रेजी), सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक मे, विजय यात्रा (हिन्दी, अग्रेजी)। सहज, निष्कपट व्यवहार। आपने आगम संपादन का महत्वपूर्ण कार्य कुशलता के साथ सम्पन्न किया है। "सरल सुभाव छुआ छल नाही। आचार्य विद्यानन्दजी के शब्दो मे— "मैं इन्हे जैन न्याय के क्षेत्र का राधाकृष्णन् मानता हूँ"।

सम्पर्क सूत्र : जैन विश्व भारती, लाडनूँ-३४१३०६ (राजस्थान)।

३. साध्वी-प्रमुखा कनक प्रभा :

हिन्दी, सस्कृत एवं प्राकृत आदि भाषाओ की अधिकृत विदुषी। कुशल लेखिका एवं कवयित्री। आगम-सम्पादन कार्य मे लम्बे अरसे से संलग्न। तेरापंथ धर्म सघ मे साध्वी समाज की प्रमुख। यात्रा-साहित्य पर कई ग्रन्थ रचित और चर्चित।

सम्पर्क सूत्र : जैन विश्व भारती, लाडनूँ-३४१३०६ (राजस्थान)।

४. आचार्य सीताराम चतुर्वेदी :

सस्कृत, हिन्दी, पालि, अंग्रेजी भाषाओ के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान। लगभग एक सौ से अधिक पुस्तको के लेखक, विश्व विख्यात ग्रन्थ "कालिदास ग्रन्थावली" और रस-सिद्ध कवि सूरदास द्वारा रचित "सूरसागर" का सम्पादन। मुजफ्फरनगर मे वेदपाठी भवन की स्थापना करके अपना पाँच लाख रुपये का विशाल पुस्तकालय अनुदान।
सम्पर्क सूत्र : वेदपाठी भवन, मुज़फ़्फ़रनगर-२५१००२ (उत्तर प्रदेश)।

५. पं० अक्षयचन्द्र शर्मा :

भारतीय साहित्य, संस्कृति और दर्शन के जाने-माने विद्वान। रसानुप्रिय लेखक, ओजस्वी वक्ता। अनेक ग्रन्थो का सम्पादन। कलकत्ते मे साहित्यिक वातावरण के निर्माताओ मे प्रमुख हस्ताक्षर।
सम्पर्क सूत्र : भारतीय सस्कृति ससद, १० जवाहरलाल नेहरू मार्ग, कलकत्ता-७०० ०१३

६. डॉ० नेमीचन्द जैन :

जैन जगत के सुपरिचित मनीषी, प्राणवान लेखक, मौलिक विचारक, बेलाग पत्रकार। "तीर्थंकर" मासिक पत्रिका के प्रधान सम्पादक।
सम्पर्क सूत्र : ६५, पत्रकार कालोनी, इन्दौर—४५२००१ (म० प्र०)

७. डॉ० नथमल टांटिया :

जैन और बौद्ध दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान। कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम. ए., डी. लिट.। भूतपूर्व निदेशक—नव नालन्दा महाविहार एवं जैन सस्थान, वाराणसी। वर्तमान निदेशक, अनेकान्त शोध पीठ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ।
सम्पर्क सूत्र : जैन विश्व भारती, लाडनूँ-३४१३०६ (राजस्थान)

८. डॉ० भगीरथ मिश्र :

निवृत्त प्रोफेसर एव अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, भूतपूर्व कुलपति सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०), साहित्य वाचस्पति एव उपाध्यक्ष : मध्य प्रदेश तुलसी अकादमी, भोपाल। अनेक गंभीर ग्रन्थो के लेखक।
सम्पर्क सूत्र : एच-९, पद्माकर नगर, मकरोनिया कैम्प, सागर–४७०००४ (म० प्र०)

९. श्री विष्णु प्रभाकर :

सुप्रसिद्ध लेखक, उपन्यासकार, कहानीकार एवं नाटककार। "आवारा मसीहा" (शरत-चन्द्र चट्टोपाध्याय) की जीवनी से विशेष ख्याति-प्राप्त। इस पुस्तक का भारत की सभी प्रमुख भाषाओ मे अनुवाद हुआ है। पाब्लो नेरुदा सम्मान, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, साहित्य वाचस्पति और "शब्द-शिल्पी" की उपाधि से सम्मानित।
सम्पर्क सूत्र : ८१८, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-११०००६

१०. डॉ० रामजी सिंह

पी. एच. डी, डी० लिट्० (दर्शन), डी० लिट्० (राजनीति), पूर्व संसद-सदस्य। विभागाध्यक्ष, गाँधी-विचार विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर। अध्यक्ष : अखिल भारतीय दर्शन परिषद्। क्षेत्रीय मंत्री : अफ्रोएशियाई दर्शन परिपद्। उपाध्यक्ष : भारतीय गाधी विचार अध्ययन समिति। अध्यक्ष : बिहार राज्य विश्वविद्यालय (सेवा) शिक्षक महासघ।

सम्पर्क सूत्र : भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर–८१२००७

११. डॉ० प्रभाकर माचवे :

बहुभाषाविद्। हिन्दी के "एग्री मैन"। उपन्यासकार, कहानीकार, कवि, लेखक एवं समालोचक। अनेक ग्रन्थो का सम्पादन। चित्रकार, घुमक्कड़। विश्वविद्यालयो मे पी. एच. डी. के निरीक्षक। केन्द्रीय मत्रालयो के सलाहकार। निवृत सचिव, साहित्य अकादमी, दिल्ली। डॉ० शिवमगलसिंह 'सुमन' के शब्दो मे 'लिखाड"। चतुर और सहृदय मस्तमौला।

सम्पर्क सूत्र : ई-१८०, ग्रेटर कैलाश, पार्ट–II, नई दिल्ली-११००४८

१२. डॉ० रामसिंह तोमर :

रोम विश्वविद्यालय, रोम (इटैली) एव इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद मे प्रोफेसर। आपका अध्ययन और अध्यापन का प्रमुख विषय प्राकृत और अपभ्र श, प्राचीन तथा मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य रहा है। पिछले ३१ वर्षो तक शान्ति निकेतन मे अनेक पदो पर कार्यरत और सेवानिवृत। 'विश्व भारती', पत्रिका का सपादन।

सम्पर्क सूत्र : २८, पूर्व पल्ली, शान्ति निकेतन-७३१२३५ (प० बगाल)

१३. डॉ० रामधारी सिंह 'दिनकर' :

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा "पद्म भूषण" से सम्मानित। भागलपुर विश्वविद्यालय द्वारा "डॉक्टर ऑफ लिटरेचर" की उपाधि से विभूषित। विद्यावाचस्पति एव साहित्य चूड़ामणि उपाधि से अलंकृत। 'संस्कृति के चार अध्याय" जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थ के लेखक। उक्त ग्रन्थ की भूमिका प० जवाहरलाल नेहरू ने लिखी। उक्त ग्रन्थ साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित हुआ। "उर्वशी" महाकाव्य पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त। विराट व्यक्तित्व, प्राणवान कवि, जानदार लेखक, प्रखर वक्ता। सुप्रसिद्ध विद्वान हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे "गद्य और पद्य के सव्यसाची।" बारह वर्षो तक राज्य सभा के सदस्य। ६० से अधिक गद्य और पद्य ग्रन्थो के रचियता। स्वर्गवास : २४ अप्रैल १९७४।

१४. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक :

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक और सुपरिचित समीक्षक। संस्कृत, अग्रेजी और दर्शन के विशेष अध्ययन पर "सिद्धान्त शिरोमणि" की उपाधि प्राप्त की। राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त

और साहित्य विषय पर शोध-कार्य। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष से सेवा निवृत। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली के सभापति। अनेक ग्रन्थो के लेखक एव सम्पादक।
सम्पर्क सूत्र : ५/३, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७

१५. श्री नवरतन शर्मा, साहित्यरत्न :

"पावन स्मृति" ग्रन्थ के (तृतीय खण्ड) मे बिहारीलालजी जैन की जीवनी के लेखक। इसके पूर्व धर्मचन्द सरावगी एव राधाकिशन कानोडिया की जीवनी लिख कर चर्चित। सुकवि, लेखक, सुलझे हुए सामाजिक कार्यकर्त्ता। प्रकाशनाधीन स्वय की काव्य-कृति।
सम्पर्क सूत्र : १२-ए, रमेशदत्त स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००६

१६. श्री रामनारायण वर्मा :

बीकानेर राज्य के मत्रालय मे ऊँचे पद पर कार्य किया। उक्त मंत्रालय मे सचिव पद को भी सुशोभित किया। १९६७ मे राजस्थान के शासन उपसचिव पद से पदमुक्त हुए।
सम्पर्क सूत्र : गाँधी म्यूनिसिपल कौसिल के सामने, बीकानेर (राजस्थान)

१७. श्री जुगलकिशोर शर्मा :

व्यवसाय, एव चाय के विशेषज्ञ।
सम्पर्क सूत्र : सादुलपुर-३३१०२३ (राजस्थान)

१८. वैद्य परमेश्वर प्रसाद :

प्रथम श्रेणी के वैद्य, राजगढ की सामाजिक एव सास्कृतिक गतिविधियो के प्रमुख केन्द्र। वैद्यजी स्वभाव से सरल, सौम्य, निश्छल, निर्विकार और शांत है। आप राजगढ के अत्यत लोकप्रिय व्यक्तियो मे से एक है। आयुर्वेद के अलावा आपकी दर्शन और धर्म मे विशेष रुचि रहती है।
सम्पर्क सूत्र : सादुलपुर-३३१०२३ (राजस्थान)

१९. श्री भैरूँदान खत्री

सेवा निवृत उप-निदेशक, शिक्षा विभाग राजस्थान, आप बिहारीलालजी के बाल-सखा भी हैं।
सम्पर्क सूत्र : खत्री निवास, सादुलपुर-३३१०२३ (राजस्थान)

२०. मुनि श्री बुद्धमल्ल

तेरापथ धर्मसघ मे मुनि जी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने मुनि बुद्धमल्ल जी को 'निकाय प्रमुख' के पद पर नियुक्त किया है। आप युवाचार्य महाप्रज्ञजी

के बाल-सखा है। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषाओ के आप जाने-माने विद्वान है। आपकी 'मथन' काव्य कृति वहु चर्चित काव्य पुस्तक है। उक्त पुस्तक की भूमिका राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखी थी। आपकी कुछ कवितायें अखिल भारतीय स्तर पर चर्चित हुई है। 'भाषा क्या है भावो का लँगडाता सा अनुवाद' कविता सुन कर कविवर बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भाव-विभोर हो गये थे। 'दीप न जलता लौ जलती है। आदर्शो की छाया मे ही, पापो की दुनिया पलती है" पक्तियाँ जब-तब लोग गुनगुनाते रहते है। राजस्थानी भाषा मे भी आपने सशक्त काव्य-रचनाएँ रची है। बातचीत करने का आपका अपना एक विशेष ढग है। तर्क-वितर्क मे आप सिद्धहस्त है। मुनि जी तपे-तपाये ज्ञानी साधक है।
सम्पर्क सूत्र : जैन विश्व भारती, लाडनू-३४१३०६ (राजस्थान)

२१. श्री फकीरचन्द चौधरी :

आपकी शिक्षा एम. ए., बी. एड. तक हुई। आप हिन्दी के वरिष्ठ अध्यापक और श्री सर्वहितकारिणी सभा, राजगढ के कई वर्षो तक मत्री रहे। १९६४ मे आप विकास परिषद्, राजगढ के मत्री निर्वाचित हुए। १९७० मे जिला शिक्षणालय, चूरू के उप विद्यालय-निरीक्षक नियुक्त हुए। १९७४ मे आपने राज्यस्तरीय आदर्श शिक्षक का पुरस्कार प्राप्त किया।
सम्पर्क सूत्र : सादुलपुर-३३१०२३ (राजस्थान)।

२२. श्री गोकुलचन्द शर्मा :

आपकी शिक्षा एम. ए., बी एड., साहित्यरत्न तक हुई। १९७२ मे श्री सर्वहितकारिणी सभा राजगढ ने आपको अपना मत्री निर्वाचित किया। आपने कुछ कहानियाँ और "अमर जिन्दगी के अमर सम्बध" नाम से एक उपन्यास और "अपना कौन, पराया कौन" नाम से एक नाटक भी लिखा था। ज्योतिष और हस्तरेखा विज्ञान मे आपकी विशेष पकड़ है।
सम्पर्क सूत्र : सादुलपुर-३३१०२३ (राजस्थान)।

२३. श्री बनवारीलाल शर्मा :

आदर्श अध्यापक, प्रबुद्ध प्रशासक एवं समाज सुधारक।
सम्पर्क सूत्र : सादुलपुर-३३१०२३ (राजस्थान)।

२४. श्री श्रीचन्द रामपुरिया :

रामपुरियाजी जैन दर्शन के जाने-माने विद्वान है। आपने समाज और साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है। वर्षो तक "जैन भारती" के आप कुशल सपादक रहे है। आपकी बहुचर्चित कृतियाँ :—आचार्य भिक्षु जीवन और कृतित्व (प्रथम भाग), आचार्य भिक्षु का धर्म परिवार (द्वितीय भाग), शील की नववाड़, नव-पदार्थ, महावीर वाणी, महाभारत

परिक्रमा (प्रकाशनाधीन)। मृदुभाषी रामपुरियाजी अस्सी वर्ष की उम्र में भी युवकोचित ऊर्जा से सम्पन्न समाज और साहित्य सेवा में निरन्तर सक्रिय हैं। वर्तमान में आप जैन विश्व भारती, लाडनूं के कुलपति है। इस वर्ष आपको "जैन रत्नम्" उपाधि से सम्मानित किया गया है।
सम्पर्क सूत्र : ९ बी, मदन चटर्जी लेन, कलकत्ता-७०००००७।

२५. श्री मोहनलाल कठोतिया :

शान-शौकत मे पले-बढे श्री कठोतिया ने सामाजिक जीवन मे बहुत ऊँच-नीच देखी है। अखिल भारतीय स्तर पर आपका कई बार सम्मान हो चुका है। १९८७ ई० मे आप एक लाख रुपये के अणुव्रत पुरस्कार से सम्मानित किये गये हैं। उक्त पुरस्कार की राशि सार्वजनिक कार्यो हेतु आपने लौटा दी है। ८५ वर्षीय कठोतियाजी इस उम्र मे भी तरोताजा और नैतिक जागरण की धूनी रमाये हुए है। घर-बार छोड छाड़ कर प्रेक्षा-ध्यान, योग, साधना व रोग चिकित्सा कार्य मे आप रमे हुए हैं।
सम्पर्क सूत्र : अध्यात्म साधना केन्द्र, छतरपुर, महरोली, नई दिल्ली-११००३०।

२६. श्री देवेन्द्र कुमार कर्णावट :

देवेन्द्र भाई प्रारम्भ से ही नैतिक मूल्यो मे समर्पित कार्यकर्त्ता रहे हैं। मिलनसार व्यक्तित्व, सुलझे हुए विचारक, स्नेही मित्र, कलम और वाणी के धनी। अणुव्रत प्रवक्ता, "अणुव्रत" पत्रिका के लम्बे अरसे तक संपादक। वर्तमान मे अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के अध्यक्ष।
सम्पर्क सूत्र : कल्पना कुज, राजसमन्द-३१३३२६ (राजस्थान)।

२७ श्री शंकरलाल मेहता :

मृदुभाषी, व्यवहार कुशल, कलम के धनी श्री मेहता भले-नेक इन्सान है। भारतीय रेल विभाग से सेवामुक्त होकर आपने अपना जीवन नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा हेतु समर्पित किया है। जैन विश्व भारती मे मत्री के रूप मे सेवा देकर वर्तमान मे आप तुलसी अध्यात्म नीडम् मे निदेशक और जैन विश्व भारती, लाडनूं द्वारा प्रकाशित पत्रिका "प्रेक्षा-ध्यान" का कुशल सपादन कर रहे हैं।
सम्पर्क सूत्र : तुलसी अध्यात्म नीड़म्, जैन विश्व भारती, लाडनूं-३४१३०६ (राजस्थन)

२८. श्री रतन शाह :

श्री रतन जी कलकत्ते मे अनेक सामाजिक, साहित्यिक, सस्थाओ से जुड़े हुए है। लम्बे अरसे से राजस्थानी भाषा को प्रतिष्ठा दिलाने मे जी-जान से लगे हुए हैं। अखिल भारतवर्षीय मारवाडी सम्मेलन, कलकत्ता के आप वर्तमान मे प्रधान मत्री हैं। कुशल वक्ता और मिलनसार व्यक्ति हैं।
सम्पर्क सूत्र : १४, चांदनी चौक स्ट्रीट, कलकत्ता-७०००७२।

२९. श्री चाँदमल अग्रवाल :

कुशल व्यवसायी, मिलनसार, नेक-भले इन्सान हैं। बिहारीलालजी के साथ बाल्य-काल से ही मधुर पारिवारिक सम्बन्ध रहे हैं।

सम्पर्क सूत्र : ३६, इजरा स्ट्रीट, कलकत्ता-७००००१।

३०. श्रीमती उर्मिला जैन :

उर्मिलाजी बिहारीलालजी की पुत्र-वधू है। आप कुशल गृहणी, मृदुभाषिणी, साहसिक महिला हैं। भावुक हृदया उर्मिला जी जब-तब कहानी, कविताएँ भी लिखती रहती हैं।

सम्पर्क सूत्र : ३-बी, कैमक स्ट्रीट, 'मानसरोवर', कलकत्ता-७०००१६।

३१. श्री मोहनलाल वर्मा :

श्री वर्मा बी. कॉम, एल. एल. बी, सेवानिवृत कानूनी सलाहकार है।

सम्पर्क सूत्र : ४८१, एन. एस बोस रोड, रीजेन्ट पार्क, कलकत्ता-७०००४०।

३२. श्री हनुमान प्रसाद सुरोलिया :

सेवा निवृत जिला शिक्षा अधिकारी, राजस्थान।

सम्पर्क सूत्र : राजगढ़ (सादुलपुर) ३३१०२३ राजस्थान।

३३ श्री रामकृष्ण सरावगी :

श्री सरावगी पश्चिम बंगाल मे मत्री रह चुके हैं। आप सुलझे हुए प्रगतिशील विचारों के पृष्ठपोषक, कुशल वक्ता, मृदुभाषी और मिलनसार व्यक्ति है।

सम्पर्क सूत्र : ३९,मदन चटर्जी लेन, कलकत्ता-७००००७।

३४. श्री महावीर प्रसाद जोशी :

श्री जोशी साहित्याचार्य और आयुर्वेदाचार्य हैं।

सम्पर्क सूत्र : सादुलपुर-३३१०२३, राजस्थान।

३५. श्रीमती अचला सरावगी :

अचलाजी बिहारीलालजी की पुत्र-वधू हैं। आपने बी. ए. तक शिक्षा ग्रहण की है।

सम्पर्क सूत्र : तेजा अपार्टमेन्ट, ७ कुमारा पार्क, बगलोर।

३६. श्री जगदीश प्रसाद जैन :

श्री जगदीशजी बिहारीलालजी के पुत्र है। पिता की तरह ही दबग व्यक्तित्व के धनी, नेक-भले मिलनसार, चरित्रवान, श्रद्धावान, संघ और समाज के कार्यों मे रुचि रखने वाले व्यक्ति हैं।

सम्पर्क सूत्र : १८, आर. एन. मुकर्जी रोड, कलकत्ता-७००००१।

३७. **श्री कन्हैयालाल फूलफगर :**

"पावन स्मृति" ग्रन्थ के सम्पादक ।

श्री फूलफगर अनेक साहित्यिक, सास्कृतिक और सामाजिक संस्थाओ से जुड़े हुए हैं। आप कुशल लेखक और कवि हैं। पिछले बारह वर्षों से राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' पर शोध-कार्य मे सलग्न और दिनकर शोध-सस्थान के अध्यक्ष हैं। दिनकरजी की पुण्य तिथि २४ अप्रैल, १९८६ को दिनकर स्मृति समारोह, बेगूसराय (बिहार) मे दिनकर जी पर विशेष शोध-कार्य हेतु आपका नागरिक अभिनन्दन किया गया था। "दिनकर स्मृति ग्रन्थ", ' दिनकर के पत्र", दिनकरजी की अलभ्य सामग्री को सकलित कर के, "शेष-नि शेष" ग्रन्थ के रूप मे सपादित और प्रकाशित करवा चुके हैं। ये तीनो ग्रन्थ देश-विदेश मे बहुचर्चित होकर अनेक विश्वविद्यालयो मे पढाये जाते हैं। महाप्रज्ञ व्यक्तित्व एवं कृतित्व ग्रन्थ का भी कुशल सपादन कर चुके हैं। भविष्य मे प्रकाशनाधीन प्रमुख ग्रन्थ हैं—'दिनकर एक युग विभूति', 'आदमी की तलाश', 'गूँज-अगूँज।'

सम्पर्क सूत्र : दिनकर शोध सस्थान, ८२/२ई, विधान सरणी, कलकत्ता-७०० ००४ ●